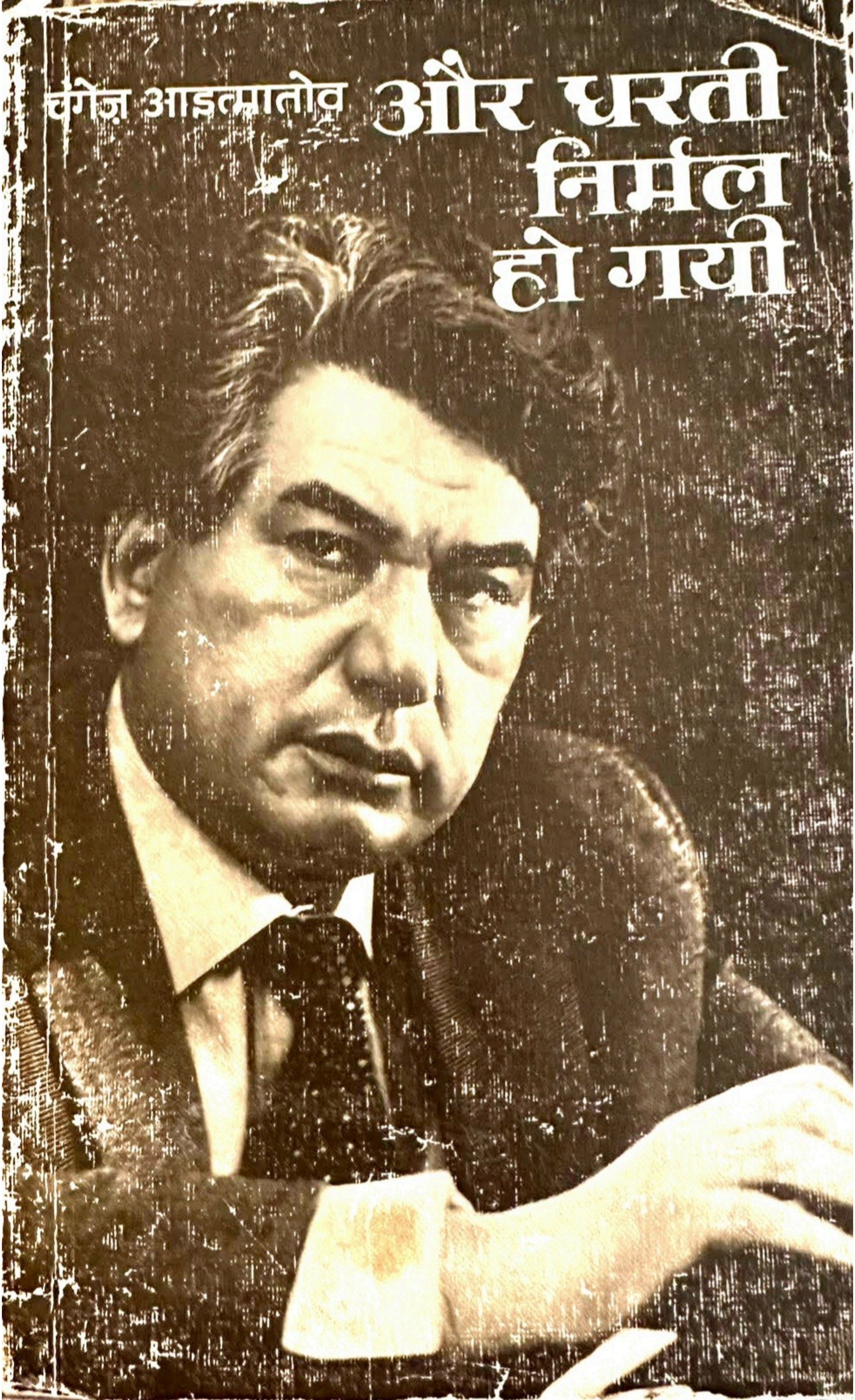
चंगेज़ आइत्मातोव

# और धरती निर्मल हो गयी



चंगेज़ आइत्मातोव

# और धरती निर्मल हो गयी

लेख, संवाद,
भेंटवार्ताएं, निबंध

प्रगति प्रकाशन · मास्को

अनुवादक : सुरेन्द्र कुमार
डिजाइनकार : अलेक्सान्द्र अलेक्सेयेव
संग्रहकर्त्ता : गालीना द्ज़ुबेन्को

**Чингиз Айтматов**

ВЕТРЫ, ОМЫВАЮЩИЕ ЗЕМЛЮ
***На языке хинди***

**Chinghiz Aitmatov**

THE TIME TO SPEAK OUT
***In Hindi***



A $\frac{4702300400-189}{014(01)-89}$ 353-89

# भविष्य के प्रति दायित्व *

अत्यन्त प्राचीन काल से मनुष्य मानवजाति की कथा सुनाता आया है। अत्यन्त प्राचीन काल से भिन्न-भिन्न भाषाओं और बोलियों में गीतों, परीकथाओं, पुस्तकों, संगीत तथा नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत यह कथा वस्तुत: एक ही विषय के बारे में रही है: मनुष्य की नियति, लोगों, उनके श्रम तथा सपनों, उनके गुणावगुणों, संघर्ष तथा शान्ति, कर्त्तव्य तथा अन्त:करण, नर-नारियों के सौन्दर्य, प्यार और विछोह, जन्म तथा मृत्यु के बारे में, उन सबके बारे में, जिन्हें मिलाकर जीवन बनता है। अपने सम्पूर्ण इतिहास के दौरान मनुष्य इस गाथा को हृदयंगम करने के लिए सदैव लालायित रहा है।

और समय-चक्र के घूमते जाने के साथ-साथ अपने को, अपने वर्त्तमान को, अपने अतीत को समझने की मनुष्य की पिपासा बढ़ती जाती है। और समय-चक्र के घूमते जाने के साथ-साथ वह कला के प्रति अधिकाधिक अनुराग प्रकट करता जाता है, कथावाचक से अधिक ईमानदारी, अधिक बुद्धिमत्ता, मनुष्य की आत्मा में गहराई तक झांकने की अपेक्षा करता है, और ऐसा करते समय वह प्रतिभा का जयगान करता है तथा गुणहीनता को ठुकरा देता है। जीवन के कलात्मक बोध की यह अनन्त अपेक्षा मनुष्य के मूल गुणों में से एक है, जो उसे जीवन के शेष समस्त अन्य रूपों से विभेदित करता है। और इसी कारण अपने विषय में कथा का न तो कोई अन्त है और न हो सकता है, और इसी कारण साहित्य की समस्या के आधार में मनुष्य की समस्या निहित है।

इस अर्थ में सोवियत साहित्य ने मनुष्य द्वारा मनुष्य की प्रारम्भिक कथा को जारी रखा है, जगत के अनन्त सौन्दर्य तथा अनन्त विरोधाभासों के बोध के उसी पथ पर—पीढ़ियों के अनुभव को आधार बनाते हुए—उसे जारी रखा है। उसने अपने देश तथा संसार के साहित्य की

---

* 'वोप्रोसी लितेरातूरी', अंक ६, १९६७।

सर्वोत्तम परम्पराओं को जारी रखा है, जो मानवजाति ने अपने सांस्कृतिक विकास के दौरान स्वतंत्रता तथा प्रगति के लिए संघर्ष में संचित की हैं।

परन्तु इसके साथ ही हम लोग, सोवियत लेखक, भली-भांति अनुभव करते हैं कि कलात्मक सृजन में हमारे कार्यभार भी सामाजिक संरचना की नींवों में ज़बर्दस्त परिवर्तनों, मानव-अस्तित्व के नूतन सिद्धान्तों के कारण, जिन्हें सोवियत समाजवादी व्यवस्था का आधार बने आधी शताब्दी बीत चुकी है, भिन्न, विशेष, यही नहीं, अनन्य हैं।

सोवियत साहित्य ऐसी भूमि पर संवर्द्धित हुआ है, जिस पर क्रान्ति के हल ने गहराई तक जुताई की थी। और इसीलिए मानवतावाद, भलाई और बुराई, व्यष्टि और समष्टि, समाज के सामने उत्तरदायित्व और मानवप्रेम की दीर्घकाल से चली आ रही समस्याएं — समस्त छोटी तथा बड़ी समस्याएं, जिनसे कलात्मक सृजन का सार बनता है — सोवियत साहित्य के समक्ष नये ढंग से प्रस्तुत हुईं: उनके क्रान्तिकारी तथा, जैसा कि इतिहास ने सिद्ध किया, उनके सच्चे मानव-महत्व का विश्लेषण करना आवश्यक हो गया था। सोवियत लेखकों की पुस्तकों से एक नया व्यक्ति — श्रमजीवी मनुष्य, नये काल का नायक उभरा, जो समाज का कायापलट करने के लिए संघर्ष के विचार से प्रेरित है। यह नायक क्रान्ति द्वारा मुक्त किया गया बीसवीं शताब्दी का मनुष्य था, वही मनुष्य था, जिसकी नियति पर अतीत के कलाकार शताब्दियों से हिंसा और अन्याय द्वारा कुचली गयी महान मानव-शक्ति पर आंसू बहाते हुए तरस खाया करते थे।

सोवियत साहित्य ने विश्व को नये जगत का, नये मनुष्य का सत्य दर्शाया। इस सत्य का जन्म सुगमतापूर्वक नहीं हुआ था। समय-चक्र के तथा अपने बारे में सोचते समय, आज की बुलंदियों से, जहां देश तथा जनता पहुंचे हैं, पीछे नज़र घुमाने पर अपरिहार्य रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है: क्रान्ति की सबसे मूल्यवान उपलब्धि है लोग, जिन्हें उसने जन्म दिया, पाला-पोसा। उन्हें संजटिल तथा रोमांचकारी दुर्गम दर्रों से गुज़रने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, परन्तु संघर्ष ने उन्हें अग्निदीक्षित किया, उन्हें ऐतिहासिक सृजन करने के लिए अभिप्रेरित किया तथा साहस और मानव-प्रतिष्ठा की भावना में शिक्षित-दीक्षित किया।

क्रान्ति, उसकी पुनर्नवीकरण की शक्ति, नाटकीयता, जिसे व्यक्तियों की निजी कथाओं से प्रदर्शित किया जाता है, मेरी दृष्टि में, सोवियत

कला का मुख्य विषय है। अपने लोगों की उपलब्धियों के बारे में मैं ग़ैर-संजीदगी से नहीं बोलना चाहता: आखिरकार, विजयें बहुत महंगी क़ीमत चुकाकर हासिल की गयी थीं। अतुलनीय आंकड़ों को, जो आर्थिक संवृद्धि के साक्षी हैं, विगत पचास क्रान्तिकारी वर्षों के दौरान सांस्कृतिक विकास, उच्च जीवन-स्तर को कथा-साहित्य की भाषा में व्यक्त किया जाना चाहिए।

खेती करनेवालों, किसानों के भाग्य में मेरी सदैव गहरी दिलचस्पी रही है। मुझे लगता है कि समकालीन साहित्य में जनता का जीवन देहात के विषय में, जहां सोवियत सत्ताकाल में बुनियादी परिवर्तन हुए हैं, लिखित सामग्री में सर्वाधिक ठोस ढंग से प्रतिबिम्बित होता है। ये परिवर्तन विशेष रूप से हाल के वर्षों में दृष्टिगोचर हुए हैं, क्योंकि सरकार कृषि की समस्याओं को निरन्तर ध्यान में रख रही है, देहात में जीवन सुधारने और जनता की पहल को चहुंमुखी बढ़ावा देने के तरीक़ों की निरन्तर खोज कर रही है। यह कार्यकलाप, जो आत्म-निरुद्विग्नता के लिए परायी वस्तु है, काफ़ी महत्वपूर्ण फल दे चुका है: अभी सामने बहुत-सारी समस्याएं हैं, अतीत तथा वर्त्तमान, दोनों के अनुभव का निरन्तर विश्लेषण करते रहना आवश्यक है।... समसामयिक यथार्थता का, हमारे व्यावहारिक कार्यकलाप तथा जनता के जीवन का ठीक यही पहलू लेखक के रूप में मेरे लिए सबसे अधिक दिलचस्प तथा आकर्षक है।

हमारे साहित्य में आत्म-संतोष से अधिक अस्वीकार्य और कोई वस्तु नहीं है; आखिरकार, वह जीवन में फलप्रद परिवर्तनों और पुनीत ध्येय की ओर हमारी अग्रगति को ही दर्ज नहीं करता, अपितु उससे लोगों की नियति के माध्यम से सामाजिक विकास की प्रक्रिया का अध्ययन करने, यह प्रदर्शित करने का तक़ाज़ा किया जाता है कि जो नूतन होता है, उसकी प्रतिष्ठापना करने के लिए कितने ज़बर्दस्त मानव-प्रयासों की ज़रूरत पड़ती है। परन्तु साहित्य के कार्यभारों की ऐसी समझ तक मैं तुरन्त नहीं पहुंचा था।

मेरी पीढ़ी के लेखकों ने कठोर युद्धोत्तर वर्षों में साहित्य में प्रवेश किया था—हमारी पहली पुस्तकें द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद छः-सात वर्षों में प्रकाशित हुई थीं। किशोरों के रूप में हमारी पीढ़ी ने युद्ध की कठिनाइयां तथा शोक-व्यथाएं भोगी थीं। नाज़ी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध ने हमारे संवर्द्धन तथा विकास पर अपनी छाप छोड़ी थी, उसने हमें

संजटिल और विषम जीवन-अनुभव से समृद्ध किया था और आगे चलकर उसने हमें अपने से कम उम्र के लेखकों की तुलना में कतिपय श्रेष्ठता प्रदान की। लेखकों की किसी भी अन्य पीढ़ी की भांति इन तरुण लेखकों की भी अपनी विशेषताएं तथा श्रेष्ठताएं थीं, परन्तु कभी-कभी उनके पास जीवन की कठिनाइयों के व्यावहारिक ज्ञान का अभाव होता था।

हमें अपने से पहले की पीढ़ी से क्या प्राप्त हुआ?

सोवियत साहित्य युद्ध के दौरान भी सैनिकों के साथ अग्रिम दस्तों में रहा, उसने देशभक्ति की भावना उद्दीप्त की, नाज़ीवाद और उसकी विचारधारा को परास्त करने में सहायता दी। आरम्भिक युद्धोत्तर वर्षों में युद्ध के विषय में उत्तम उपन्यासों में लेखकों ने, जिन्होंने युद्ध में भाग लिया था और जिनके मानस पर उन वीरतापूर्ण वर्षों की गहरी छाप पड़ी हुई थी, जनता के अद्वितीय पराक्रम की महान कलात्मक शक्ति के माध्यम से पुनर्रचना की।

परन्तु युद्ध समाप्त हो चुका था, देश के समक्ष उपस्थित थे नये कठिन कार्यभार तथा समस्याएं, लेकिन ऐसी साहित्यिक कृतियां प्रायः प्रकट ही नहीं हुईं, जो युद्धोत्तर काल के यथार्थ को उसी शक्ति तथा गहराई के साथ दर्शातीं, जिनमें कलात्मक खोज होती। अक्सर वे जीवन का सुखद तथा उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत करती थीं—और यह उन वर्षों में, जब हर घर में, हर परिवार में शोकावसाद अभी छाया हुआ था। ज़ाहिर है, ऐसी पुस्तकें, जो जनगण के जीवन के बुनियादी विषयों को, उस काल की पेचीदा समस्याओं को स्पर्श नहीं करती थीं, हमें, भावी लेखकों को, सत्य के बोध की उदात्त कला, वास्तविक हुनर नहीं सिखा सकती थीं। परन्तु यह कहना भी बेईमानी होगी कि हमने, तरुण लेखकों ने, उस समय ऐसी पुस्तकों का दारिद्र्य देख लिया था, जो केवल घिसे-पिटे सत्यों का चित्रण करती थीं, अनगढ़ कथानकों तथा ढले-ढलाये सांचों में रची जाती थीं। कुछ भी हो, हम इन्हें गम्भीर साहित्य से सदैव विभेदित नहीं कर पाते थे। और यह उन्हीं वर्षों की बात है, जब, उदाहरण के लिए, लेओनीद लेओनोव की कृति 'रूसी वन' प्रकाशित हुई थी।

मेरी पहली कहानियों तथा रेखाचित्रों का प्रकाशन छठे दशक के आरम्भ में हुआ था। वे अनुकृतिमूलक तथा यथार्थ से कोसों दूर थीं। मेरी पहली कहानी की दृश्यभूमि जापान है। दूसरी वोल्गा-दोन नहर के बारे में थी और उसमें विशेष रूप से मिट्टी हटानेवाली मशीनों की

ओर बहुत ध्यान दिया गया था, जिनके बारे में उन दिनों अख़बारों में लिखा जाता था। अख़बारी ख़बरों से मैंने आवश्यक "यथार्थता" प्राप्त की।

मैं यह इसलिए स्मरण कर रहा हूं, ताकि लेखकों की चेतना में उन मूल परिवर्तनों पर ज़ोर दे सकूं, जिन्हें हमारे सामाजिक जीवन की अग्रगति ने जन्म दिया था और जिनका साहित्य के आगे विकास पर सबसे फलप्रद प्रभाव पड़ा।

हममें से हरेक जानता है कि हम व्यक्ति-पूजा का, जिसने जनता की पहल को कुचल दिया था और देश के सामान्य तथा स्वाभाविक विकास को अवरुद्ध किया था, पर्दाफ़ाश करने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी के कितने ऋणी हैं। यदि हम इतिहास के प्रति सच्चे रहना चाहते हैं, वस्तुनिष्ठ होना चाहते हैं, तो हमें अपनी जनता द्वारा सम्पन्न कार्य, श्रम का विशाल पैमाना, वह भावनात्मक तनाव दर्शाना होगा, जिसे हमारी जनता ने सम्मानपूर्वक झेला। हम जटिल ऐतिहासिक नाटकीय घटनाओं के बीच से गुज़रे, परन्तु अपने वर्ग तथा पार्टी के ध्येयों के प्रति, क्रान्ति के उदात्त ध्येयों के प्रति निष्ठावान बने रहे। इसी कारण अनुत्तरदायित्वपूर्ण संशयवाद, भविष्य के विषय में सन्देह तथा बड़बड़ाहट सर्वथा परायी चीज़ें हैं।

जीवन के लेनिनीय सिद्धान्तों की विजय, अविस्मरणीय पार्टी कांग्रेसों के उपरान्त आये प्रचंड सामाजिक उभार ने हमें, तरुण लेखकों को, साहित्य के भव्य नागरिक कार्यभारों, नित्यप्रति की समस्याओं के साथ ज़ोरदार ढंग से जूझने की आवश्यकता को समझने में सहायता दी। प्रतिबिम्बित होनेवाली यथार्थताओं का क्षेत्र अपरिमित रूप से फैला। धीरे-धीरे हमने व्यक्ति के अन्य लोगों तथा समाज के साथ सम्बन्धों में उत्पन्न होनेवाली नैतिक समस्याओं का महत्व समझना शुरू कर दिया और यह अनुभव किया कि लोगों की नैतिकता की शिक्षा-दीक्षा अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण तथा जटिल कार्यभार है।

वालेन्तीन ओवेच्किन के रेखाचित्रों, मिख़ाईल शोलोख़ोव की कृति 'इन्सान का नसीबा', अलेक्सांद्र त्वार्दोव्स्की की रचना 'क्षितिज के पार क्षितिज', व्लादीमिर तेंद्र्याकोव के उपन्यासों ने हम लोगों को, साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करनेवाले लेखकों को जीवन के विषय में गम्भीरतापूर्वक सोचने के लिए बाध्य किया।

साहित्य ने सहसा आगे की ओर लम्बी छलांग लगायी। प्रख्यात

लेखकों की प्रतिभापूर्ण कृतियां प्रकाश में आयीं तथा सर्वथा नये नाम उभरे।

पाठकों के लिए नये इन नामों की संख्या बहुत थी। मैं उन्हें यहां नहीं गिनाऊंगा। केवल चंद लेखकों के नाम लूंगा, जिनकी कृतियों ने विशेष रूप से मुझ पर गहरी छाप डाली थी (शायद दूसरे लोग दूसरे नाम लें: खुदा का शुक्र है, उनमें से चुनने के लिए काफ़ी हैं)। ये युद्ध के विषय में नयी पीढ़ी के युद्धानुभवी लेखकों की—यूरी बोंदारेव, ग्रिगोरी बाक्लानोव, व्लादीमिर बोगोमोलोव की—कृतियां थीं। ये लोग मुझे विशेष रूप से प्रिय थे, क्योंकि हम लोगों ने लगभग एक ही समय साहित्य के प्रांगण में प्रवेश किया था।

युद्ध के विषय में पुस्तकों की नयी बाढ़ में नूतन गुणवत्ता थी: लेखकों ने युद्ध की कठिनाइयां बताने का बीड़ा उठाया और इस मामले में उनकी रचनाएं युद्ध के विषय में पूर्ववर्ती वर्षों में निकलनेवाली सर्वोत्तम पुस्तकों की परम्पराओं से जुड़ी थीं। परन्तु हर अवधि का अतीत के विषय में अपना ही दृष्टिकोण होता है और वह अपने ही ढंग से उस पर निर्णय देती है। यह गहन रूप से फलप्रद तथा तर्कसम्मत प्रक्रिया है, जिसे वर्त्तमान काल के हितों की मांग तथा महत्वपूर्ण समकालीन समस्याओं के समाधान की आवश्यकता जन्म देती है। जी हां, कुछ लेखकों ने उन वर्षों की घटनाओं के बारे में वर्त्तमान ज्ञान को उलट-पलट दिया। परन्तु इससे, मेरी राय में, उनकी कृतियों की उदात्तता की व्याख्या नहीं होती। इतिहास के अनुभव से समृद्ध होकर उन्होंने इस अनुभव का अधिक गहनतापूर्वक विवेचन करने का प्रयत्न किया, और ऐसा करते समय उन्होंने कोई तैयारशुदा उत्तर मुहैया नहीं किये तथा पाठकों को स्वयं सोचने के लिए बाध्य किया।

बहुत-से सुविदित लेखकों का पुनर्जन्म हुआ। ये थे निकोलाई आसेयेव, व्लादीमिर लुगोव्स्कोई, निकोलाई ज़ाबोलोत्स्की तथा पावेल नीलिन। तरुण गद्य-पद्य लेखकों ने सनसनी मचा दी और हलचल पैदा कर दी। उनकी कृतियों पर बहुत-सा विवाद उठ खड़ा हुआ। कुल मिलाकर छठे दशक के उत्तरार्द्ध तथा सातवें दशक के पूर्वार्द्ध में साहित्य ने हमारे राजनीतिक तथा कलात्मक विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया।

मैं उस समय तक ख्याति अर्जित कर चुके लेखकों में से किसी को भी व्यक्तिशः नहीं जानता था। परन्तु मास्को से दूर जनतंत्रों में हम लोग उन सब नूतन वस्तुओं का बहुत ध्यानपूर्वक अवलोकन किया करते थे,

जिनका साहित्य में आविर्भाव होता था, हम लोगों में गर्मागर्म वाद-विवाद होता था और इस वाद-विवाद ने हमारे निजी चिन्तन को प्रेरित किया, अधिक सक्रियतापूर्वक सृजन-कार्य करने में सहायता दी।

मैं १९५६ में उच्च साहित्य महाविद्यालय में शामिल होने के लिए मास्को आया। सामाजिक चिन्तन में उभार ने देश के साहित्यिक जीवन को उद्दीप्त किया। नयी पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा: 'द्रूज्बा नरोदोव' (जनगण की मैत्री), 'यूनोस्त' (यौवन), 'मस्क्वा' (मास्को), 'नेवा', 'वोप्रोसी लितेरातूरी' (साहित्य के प्रश्न)। 'इनोस्त्रान्नाया लितेरातूरा' (वैदेशिक साहित्य) और 'मोलोदाया ग्वार्दिया' (तरुण गार्ड) पत्रिकाओं का पुन: प्रकाशन आरम्भ होने लगा। जनतंत्रों, क्षेत्रों तथा प्रदेशों से नयी स्थानीय पत्रिकाएं निकलने लगीं। बीते ज़माने के उन लेखकों की कृतियां छपीं, जिनके सृजन-कार्यों से हम अनभिज्ञ थे। यह तब की बात है, जब मैं पहली बार इवान बूनिन के अद्भुत गद्य से परिचित हुआ। हमने अपनी साहित्यिक शिक्षा पर से "सफ़ेद दाग़" मिटा दिये, सोवियत साहित्य तथा उसकी परम्पराओं के अपने ज्ञान को समृद्ध बनाया। उसे बेहतर जानने लगे, जो अन्य राष्ट्रों ने संचित किया था।

मुझे याद है कि हेमिंग्वे के लघु उपन्यास 'ओल्ड मैन एंड सी' (बूढ़ा और सागर) की सरलता तथा ओजस्विता की मुझ पर कितनी विस्मयकारी छाप पड़ी थी। मुझे उन पोलिश गद्यकारों की कृतियां बहुत भायीं, जिन्होंने संजटिल सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं की तह में जाने, हमारे समकालीनों की चेतना में नूतन के विकास में निहित नाटकीयता प्रदर्शित करने का प्रयास किया।

१९५७ में फ़्योदोर पान्फ़्योरोव ने मेरा लघु उपन्यास ('आमने-सामने') पढ़ने के बाद उसे 'अक्त्याब्र' (अक्तूबर) पत्रिका में प्रकाशित किया, जिसे वह तब सम्पादित करते थे। यह लघु उपन्यास मेरे लिए साहित्य में अपने चुने हुए उस पथ जैसा ही महत्वपूर्ण था, जिसे मैंने 'जमीला' उपन्यास लिखकर — १९५८ में 'नोवी मीर' (नया संसार) पत्रिका में प्रकाशित — अपनाया। लेखक के रूप में मेरी नियति में उस समय सम्पादन कला की मर्मज्ञ तथा अनुवादिका आन्ना द्मीत्रियेवा ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की थी, जो असटीकता तथा त्रुटियों के प्रति निर्ममतापूर्वक पेश आती थीं। अलेक्सांद्र त्वार्दोव्स्की के साथ भेंट, 'लितेरातूर्नाया गज़ेता' में मुख्तार आवेज़ोव के अत्यन्त

सद्भावनापूर्ण लेख तथा इस हर्षदायी समाचार ने मुझमें अपनी क्षमता में विश्वास पैदा किया कि लुई आरागों ने 'जमीला' का फ़्रांसीसी भाषा में अनुवाद किया है और अपनी पुस्तक 'सोवियत साहित्य' में उसके बारे में लिखा है।

'आमने-सामने', 'जमीला' और दूसरी कृतियां मैंने अपने ऊपर पड़ी निजी छापों के आधार पर लिखी थीं। मैं अच्छी तरह जानता था कि युद्ध के वर्ष मोर्चे पर ही नहीं, अपितु युद्धस्थलों से सुदूर स्थानों के लिए भी कितने विषम थे। तब मैं पहली बार पाठकों के आभार-प्रदर्शन से अवगत हुआ, प्रत्येक पाठक का पत्र मेरे लिए सच्चे अर्थों में उत्सव होता था। परन्तु उन्हीं वर्षों में मेरा साहित्यिक जीवन के विपरीत पहलू से परिचय हुआ था। जब 'आमने-सामने' प्रकाशित हुआ, तो जनतंत्र के कतिपय आलोचकों ने उसमें चित्रित घटनाओं की प्रामाणिकता के प्रति संदेह प्रकट किया, उसमें "पूरी क़िर्गिज़ जाति का अपमान" देखा, क्योंकि इस लघु उपन्यास का एक पात्र भगौड़ा, देशद्रोही था, और यह, साहित्यिक चौखटे के अनुसार, संभव नहीं हो सकता था। उन्होंने तो यहां तक कहा कि जीवन की कठिनाइयों को मैंने अतिरंजित किया है, और अगर गांववासी भूखे रहे होते, तो क्या हम हिटलरशाही को पराजित कर पाते? युद्ध में जो कुछ ज़रूरी था, वह हमारी जनता के पास था।

देश में सम्पूर्ण सृजनशील जीवन के पुनर्नवीकरण तथा पुनरुज्जीवन की प्रक्रिया, निस्सन्देह, वेदनाहीन नहीं रही। कुछ लेखकों, विशेष रूप से तरुण लेखकों का सृजन-कार्य "उथल-पुथलभरा" था, कुछ समालोचनाएं हद पार कर गयीं। परन्तु स्वयं जीवन ने विश्वसनीय रूप से इस बात की पुष्टि की कि हमारी कला की मुख्य दिशा जनता तथा पार्टी के साथ सदैव अविच्छेद्य रूप से जुड़ी रही। मर्मस्पर्शी सामाजिक विषयों में तीक्ष्ण रुचि का कारण निश्चित रूप से समाज के सामने साहित्य के उत्तरदायित्व की बढ़ती हुई चेतना था।

हम लोग, लेखकगण, मनुष्य के प्रति अपना व्यक्तिगत दायित्व अनुभव करते थे: पार्टी हमें सिखाती है कि हम सब देश के भाग्य, जनता के भविष्य के लिए उत्तरदायी हैं। इसका समस्त सोवियत जातियों के साहित्यों पर फलप्रद प्रभाव पड़ा। इनका विकास विशेष रूप से इतिहास की नयी अवधि में इन्द्रियगोचर और दृष्टिगोचर हुआ है। केवल परिपक्व ही नहीं, अपितु सर्वथा नूतन साहित्यों में भी ऐसे लेखक उभरे, जो सोवियत संघ तथा पूरे विश्व के पैमाने पर पाठकों के समक्ष

कलाशैली, ईमानदारी, बुराई के प्रति समझौताहीन रुख, समाज की नियति की सच्ची चिन्ता के मामले में अपने साहित्यों का गौरवमय ढंग से प्रतिनिधित्व करते हैं। मैं लेखकों की लम्बी फ़ेहरिस्त पेश नहीं करूंगा, परन्तु यहां रसूल हमज़ातोव, मुस्ताई करीम, काइसीन कुलीयेव, दावीद कुगुल्तीनोव के नामों की चर्चा किये बिना नहीं रह सकता।

सोवियत जातियों के साहित्यों की अन्योन्यक्रिया अधिक घनिष्ठ तथा गहन बन गयी। यहां मैं मुख़्तार आवेज़ोव को प्रशंसाभरे शब्दों में स्मरण करना चाहूंगा, जिन्होंने तुर्कभाषाभाषी जातियों के गद्य के विकास में बड़ी भूमिका अदा की। वह बहुत प्रतिभाशाली तथा सुसंस्कृत मनुष्य थे और उन्होंने केवल कज़ाख़ लेखकों की तरुण पीढ़ी की ओर ही नहीं, अपितु दूसरे साहित्यों की ओर भी बहुत ध्यान दिया। उनका कज़ाख़ तथा मध्य एशिया के साहित्यों पर गहरा प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव केवल उनके सृजन-कार्य ने ही नहीं, स्वयं उनके व्यक्तित्व ने भी डाला था। समस्त जनगण की कला में जो कुछ भी नूतन होता था, उसमें उनकी गहरी रुचि होती थी। इसके साथ ही वह जातीय कलात्मक परम्पराओं से बहुत प्यार और आदर करते थे, जिनसे वह बहुत अच्छी तरह परिचित थे और जिन्हें उन्होंने अपनी भव्य रचनाओं में कई गुना बढ़ाया।

यह, मेरी राय में, सच्चे नवाचार की नींव है—जो कुछ तुम्हारी जनता ने संचित किया है, उसका पूरे सोवियत संघ तथा विश्व के कलात्मक अनुभव की सर्वोच्च उपलब्धियों के साथ आंगिक संलयन। हमारे बहुजातीय सोवियत साहित्य का पूरा मार्ग इस बात की अभिपुष्टि करता है। उक्राइनी इवान द्राच, लिथुआनियाई यूस्तिनास मार्त्सिन्क्याविच्यूस, मोल्दावियाई इओन द्रूत्से जैसे लेखकों, आज़रबाइजानी नाटककार इम्रान कासूमोव, पुरानी पीढ़ी के कवि रसूल र्ज़ा के नवाचारात्मक गुण कलात्मक सृजन में जातीय तथा अन्तर्जातीय परम्पराओं की अविच्छेद्यता के साक्षी हैं।

मैंने कई देशों की यात्रा की है और बहुत-सी अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेसों में भाग लिया है। मैंने विदेशों में देखा कि नस्लवाद, अंधराष्ट्रवाद जैसी भयानक बुराइयां लोगों के मानस को किस तरह पंगु बना देती हैं, कितने ज़ुल्म ढाती हैं और उनके कितने भयावह परिणाम हो सकते हैं। मैं उन महान लाभों को साभार स्मरण करता हूं, जो हमें महान अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति से प्राप्त हुए। ये हैं जातियों की समानता, उनका

परस्पर प्यार और आदर, सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विचार। हमारे राज्य में जातीय प्रश्न का समानता के आधार पर समाधान ऐसी परिस्थिति है, जो समस्त सोवियत जातीय साहित्यों तथा संस्कृतियों के विकास में ज़बर्दस्त फलप्रद भूमिका अदा करती है।

कला की जातीय समस्याएं इस समय पूरे संसार में अत्यधिक वाद-विवाद को जन्म दे रही हैं। किसी भी जनता के जातीय गुण साहित्य को उसकी अपनी अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। जन्मभूमि, जनता, उसकी सबसे महत्वपूर्ण दैनंदिन समस्याओं के साथ लेखक का सम्बन्ध उसकी कृतियों को सजीव, फलप्रद आहार से पोषित करता है, लेखक को विशाल, असीम मानवीय विस्तारों में प्रवेश करने में सहायता देता है, क्योंकि जनगण के जीवन, उनके विश्वदृष्टिकोण में बहुत कुछ एकसमान है। इसलिए जातीय को कभी भी अन्तर्जातीय के मुक़ाबले में खड़ा नहीं करना चाहिए। परन्तु कभी-कभी जातीय विशेषताएं धर्म विधान बन जाती हैं, अतिवर्द्धित हो जाती हैं और इस तरह साहित्यों की अग्रगति को रोकती हैं: अन्ततः, जातीय जीवन तथा जातीय संस्कृति का निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

तरुण सोवियत साहित्यकार अब अनुकरण करने की अवधि पार कर चुके हैं, वे दूसरे साहित्यों का अनुभव और समाजवादी यथार्थवाद की सबके लिए एकसमान परम्पराएं सृजनात्मक ढंग से आत्मसात कर रहे हैं। परन्तु कुछ लेखक तथा समालोचक तरुण साहित्यों के लिए लोककथाओं की परम्पराओं के महत्व की अभी तक अतिरंजना करते जा रहे हैं। क़िर्ग़िज़िया की सबसे आरम्भिक पुस्तकों में लोककथाओं के गुण स्पष्ट रूप से समाविष्ट थे: परीकथाओं से सम्बन्धित विषय तथा नायक, जो भलाई अथवा बुराई का मूर्त्त रूप थे, अतिशयोक्तिपूर्ण बिम्ब, निश्चल पात्र ... यह उन वर्षों के लिए स्वाभाविक बात थी, परन्तु परिपक्व यथार्थवाद भिन्न वस्तु की अपेक्षा करता है। इस मामले में, जब अपनी साहित्यिक परम्पराएं कम विकसित हों, दूसरे, अधिक समृद्ध साहित्यों से, सर्वोपरि रूसी साहित्य से सीखना विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। यह अनुभव, जो आत्मसात तथा सृजनात्मक ढंग से परिष्कृत किया जाता है, जातीय साहित्यिक परम्पराओं के सक्रिय विकास में सहायता देता है।

मैं अपने पथ को स्मरण करता हूं। मेरे, तरुण लेखक के, केवल अक्तूबर क्रान्ति के उपरान्त जन्मे साहित्य के प्रतिनिधि के समक्ष एक

गम्भीर समस्या थी। यह थी भाषा की समस्या। मुझे अक्सर यह सुनने को मिलता है कि क़िर्गिज़ जनता की भांति हाल तक पिछड़ी हुई, सामन्ती अवस्थाओं में रहनेवाली जनता की भाषा वर्त्तमानकालीन लोगों की भावनात्मक अनुभूतियों, विश्व तथा समाज के प्रति उनके विचारों की संजटिल पद्धति को संप्रेषित करने में असमर्थ होती है। मुझे यक़ीन है कि बात ऐसी नहीं है। वास्तविक लेखक आधुनिक जन-जीवन तथा महत्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रियाओं को किसी भी भाषा में चित्रित कर सकता है। मैं अपनी पुस्तकें क़िर्गिज़ तथा रूसी, दोनों भाषाओं में लिखता हूं—मैं क्लासिकीय कृतियों और साथ ही सोवियत लेखकों की रचनाओं को बचपन से ही रूसी भाषा में पढ़ता आया हूं।

मुझे शायद अपने लघु उपन्यास 'विदा, गुलसारी!' से सर्वाधिक सृजनशील आनन्द तथा सर्वाधिक कलात्मक पीड़ा मिली। मैंने इसमें अपनी पूर्ववर्ती कृतियों की तुलना में कुछ नयी बात कहने का प्रयास किया। प्रेस की समीक्षाओं और सोवियत तथा विदेशी पाठकों की ढेर-सारी चिट्ठियों ने मुझे केवल नैतिक संतोष ही प्रदान नहीं किया, अपितु मुझे जीवन पर, साहित्य में चुने गये अपने पथ पर अब अधिक सोचने के लिए बाध्य किया है।

मेरे लिए यह लघु उपन्यास व्यक्तिशः मूल्यवान है, क्योंकि मेरा ख़्याल है कि मुझे इसमें वर्त्तमान क़िर्गिज़ जन-जीवन का चित्र खींचने में सफलता मिली। मैंने जातीय "अलंकरण" का पुनर्सृजन करने का नहीं, अपितु रहन-सहन के जातीय ढंग की विद्यमान समस्याओं को प्रस्तुत करने, सामाजिक टकरावों तथा अन्तर्विरोधों में गहराई से पैठने का प्रयास किया।

फिर भी मैं इस लघु उपन्यास को अपने लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय में केवल प्रवेशद्वार मानता हूं। हम सबके सामने अपने समकालीन की, सातवें दशक के मनुष्य की छवि की रचना का कार्यभार है। यह मनुष्य संजटिल है, उसकी जीवन के प्रति व्यापक दृष्टि है, वह अपने समय की सारी समस्याओं के बारे में चिन्ता रखता है और अतीत तथा भविष्य के प्रति उत्तरदायित्व का भार सचेत रूप से वहन करता है।

यह बात बहुत लम्बे समय से सुविदित है: अतीत के प्रति रुचि भविष्य के प्रति उत्तरदायित्व से जुड़ी हुई है। अब हमें अतीत को नये ढंग से देखने की सम्भावना प्राप्त है। मैंने महत्वपूर्ण परन्तु विस्मृत सच्चाइयों



2—907

के बहाल होने के बाद समाजवादी क्रान्ति के महत्व को विशेष रूप से अनुभव किया। हम सबके लिए आज वह समय आ चुका है, जब हमें समझना होगा कि हमें उस घटना से क्या उपलब्ध हुआ है, जिसने पचास वर्ष पूर्व बहुत-सी जातियों का भाग्य-परिवर्तन कर दिया था। हम अभी तक वह कलात्मक शब्द नहीं पा सके हैं, जिसका महान क्रान्ति पात्र है। यह, निस्सन्देह, शब्दाडम्बरपूर्ण यशगान नहीं, अपितु उस नूतन के सार में गहराई तक पैठना होना चाहिए, जो अक्तूबर क्रान्ति ने हमारे माता-पिताओं तथा हमें प्रदान किया। मैं एक ऐसी पुस्तक लिखना चाहता हूं, जो मुख्यतया आत्म-कथात्मक होगी। वह होगी: मेरे पिता के विषय में (वह क़िर्गिज़ प्रादेशिक पार्टी समिति के सचिव थे और १९३७ में कालकवलित हो गये थे), मेरे विषय में, हमारी पीढ़ी के विषय में, इन पीढ़ियों की विशिष्टता तथा उनके सम्बन्ध के विषय में। वे, हमारे माता-पिता, सब बातों में पहले थे। पहला स्कूल, पहली स्कूली बालिका, पहला वैज्ञानिक—यह सब पहली बार हुआ, सब "पहला" शब्द से आरम्भ हुआ। इस चीज़ ने अतुलनीय उत्साह को जन्म दिया। मैं उस चीज़ के बारे में कहना चाहता हूं, जो हमें विरासत में मिली और विकसित हुई, परन्तु जो खो गयी।

समय-चक्र के साथ सम्बन्ध को समझना, हमारी क्रान्तिकारी परम्पराओं को उनकी सम्पूर्ण महत्ता के साथ दर्शाना, हमारे पचास वर्ष के अनुभव को कलात्मक ढंग से चित्रित करना तथा इस प्रकार वर्त्तमान काल के सामाजिक विकास की तात्कालिक समस्याओं को सुस्पष्ट रूप से उजागर करना—यह कार्यभार हम से, लेखकों से नागरिक कर्त्तव्य की उदात्त भावना, क्रान्तिकारी संकल्प की अपेक्षा करता है।

नायकों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निरूपित करनेवाली परिस्थितियों के सर्वतोमुखी विवेचन का कदापि यह अर्थ नहीं है कि हाल के वर्षों का सर्वोत्तम साहित्य हर चीज़ के लिए "परिस्थितियों" को, "परिवेश" को दोषी ठहराता है। समाजवादी मानवतावाद से निदेशित कलाकार लोगों के प्रति केवल सहृदय ही नहीं होते, अपितु उनसे कठोर अपेक्षाएं भी करते हैं, क्योंकि वे इस सम्भावना में विश्वास करते हैं कि मनुष्य संसार को और स्वयं अपने को बदल सकता है। हमारे लेखकों की पुस्तकों का नायक सक्रिय इन्सान है, वह "परिस्थितियों" को प्रभावित करने का प्रयास करता है—यह, मेरी राय में, सोवियत साहित्य के सबसे मुख्य गुणों में से एक है।

मैं सकारात्मक नायक की, आत्मिक दृष्टि से सशक्त मनुष्य, सत्य तथा न्याय के हेतु, हमारे आदर्शों के हेतु लड़नेवाले निर्भीक योद्धा की शिक्षा-दीक्षा के महत्व के विषय में लिख और बोल चुका हूं।

परन्तु इस सिद्धान्त का कभी-कभी विशुद्ध शिक्षात्मक, मानकात्मक अर्थ में अतिसरलीकरण किया जाता है। जीवन को किसी भी तरह के मानकों तक, जिनमें साहित्यिक मानक भी शामिल हैं, सीमित नहीं किया जा सकता। जब हम आधुनिक सकारात्मक नायक की बात करते हैं, तो यह बेहतर होगा कि हम अपने चारों ओर के यथार्थ पर नज़र दौड़ायें और संकल्पनात्मक व्याख्याओं से निदेशित न हों, भले ही इस क़िस्म की व्याख्याओं में तीसरे तथा चौथे दशकों के साहित्य के हमारे सब मनपसंद नायकों के नामों का उपयोग किया जाता हो।

जनता की शिक्षा तथा संस्कृति संवर्द्धित हुई हैं—यदि किसी और नहीं, तो कम से कम इस कारण सकारात्मक नायक की छवि के विषय में हमारी धारणा परिवर्तित तथा विस्तारित हुए बिना नहीं रह सकती थी। मैं उन लेखकों की ओर आकृष्ट होता हूं, जो अनुकरण योग्य नायक की—सक्रिय, दृढ़ इच्छाशक्तिवाले, अपने सत्य की आवेगपूर्वक अभिपुष्टि करनेवाले नायक की—खोज करते हैं, परन्तु क्या हम यह भूल सकते हैं कि कोई कलाकृति उदाहरण की प्रत्यक्ष शक्ति के कारण ही नहीं, अपितु अधिक संजटिल तथा सूक्ष्म विधियों के कारण भी प्रभावशाली होती है? चेख़ोव को ही याद कर लें।

समाजवादी यथार्थवाद की कला का मानवतावाद और परिणामस्वरूप उसकी शैक्षिक भूमिका संजटिल तथा विविध रूपों में उजागर होते हैं। व्यक्तित्व की मौलिकता की रक्षा करते हुए तथा उसकी आत्मिक सम्पदा को अधिक पूर्णता के साथ उजागर करने का प्रयास करते हुए कला हमारे पूरे समाज के विकास, उसके पल्लवन का ध्यान रखती है।

हमने सामाजिक मामलों में सक्रिय और साथ ही चहुंमुखी, सामंजस्यपूर्ण ढंग से विकसित मनुष्य की शिक्षा-दीक्षा का कार्यभार अपने समक्ष निर्धारित किया है। और मैं उस चीज़ की याद दिलाना चाहता हूं, जिसके विषय में दोवभेंको, लेओनोव, पाउस्तोव्स्की, सोलोउख़िन तथा दोरोश ने अपनी कृतियों में इतने भावावेग के साथ लिखा था—उन्होंने प्रकृति के साथ, धरती के साथ मनुष्य के चिरकाल से चले आये सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने, उनके प्रति प्यार के बारे में लिखा था। अपनी जन्मभूमि के प्रति, प्रकृति के प्रति, समस्त

जीवधारियों के प्रति प्यार की भावना जगाना भी मनुष्य को शिक्षित-दीक्षित करना, उसकी "नैतिक क्षमता" बढ़ाना है।

इवान बूनिन ने रूस के मध्यवर्ती भागों में प्रकृति का, अनाज के खेतों, वनों, वर्षा, हिम का कितना सुन्दर वर्णन किया है! धरती माता के साथ इन चिरकालीन सम्बन्धों का पुनर्सृजन करने में हमारे लेखकों के प्रयत्न बहुधा सफल नहीं हो पाते और उनके वर्णन अक्सर क्षीण अनुकृतियां बन कर रह जाते हैं: प्रकृति के वर्णनों में हम भावनाओं की शुद्धता, प्रत्यक्ष अनुभूति, कलाकार के आत्मिक जगत के साथ इन वर्णनों का अविच्छेद्य सम्बन्ध अनुभव नहीं करते।

हमारे जीवन के जनवादीकरण, भौतिक तथा आत्मिक संस्कृति की संवृद्धि ने कलाकृतियों से सोवियत जनता की अपेक्षाओं को अपरिमित रूप से बढ़ा दिया है। साहित्य के शिक्षा-दीक्षात्मक कार्यभार कहीं अधिक जटिल हो गये हैं। हमारे समकालीनों की इन बढ़ती मांगों की पूर्ति करने के लिए साहित्य के लिए यह आवश्यक है कि वह चिन्तन तथा भावनाओं को अधिक "आहार" प्रदान करे, प्रत्येक मनुष्य को स्वतंत्र रूप से सोचना सिखाये, उनमें नागरिक कर्त्तव्य-भावना का समावेश करे। और यह कार्य भिन्न-भिन्न कलाकार भिन्न-भिन्न ढंग से करते हैं।

वैयक्तिकता को ढालने के लिए यह आवश्यक है कि स्वयं लेखक के पास वैयक्तिकता हो, वह आस्थावान, साहसी तथा ईमानदार मनुष्य हो। उसे अपनी कृतियों में विश्व के प्रति अपना दृष्टिकोण प्रकट करने में सक्षम होना चाहिए। हमारे सामाजिक आदर्श एकसमान होने का अर्थ कदापि यह नहीं है कि कलाकारों का आंतरिक जगत भी एकसमान होता है अथवा वे यथार्थ को भिन्न-भिन्न ढंग से नहीं देख सकते। समकालीन जीवन के संजटिल कलात्मक अवबोध की प्रक्रिया में लेखक की वैयक्तिकता समृद्ध होती है, उसका विश्वदृष्टिकोण व्यापक बन जाता है। पाठकों को शिक्षित-दीक्षित करते समय हम स्वयं भी निरन्तर जनता से सीखते रहते हैं, उस द्वारा अतीत में संचित आत्मिक अनुभव तथा उसकी नयी आवश्यकताओं का सूक्ष्मतापूर्वक विश्लेषण करते हैं।

# कुछ अपने विषय में *

दूसरों के लिए पढ़ने के वास्ते, प्रकाशन के वास्ते अपनी जीवनी लिखना ज़रा मुश्किल काम है। कौन जानता है, क्या बेहतर है—अपने जीवन का विस्तारपूर्वक वर्णन करना अथवा संक्षेप में वर्णन करना? अगर बहुत लिख दिया जाये, तो लोग कहेंगे—कितना ज़्यादा लिख मारा है; और कम लिखा जाये, तो कहेंगे: लिखने की ज़रूरत ही क्या थी, अगर शायद लिखने के लिए पास में कुछ भी दिलचस्प नहीं था। बेहतर यही हो कि कुछ लिखा ही न जाये।...

परन्तु चूंकि इस चक्कर में आ ही गया हूं, इसलिए कोशिश करूंगा—मैं चालीस से ऊपर का हो चुका हूं, इसलिए अपने जीवन के बारे में कहने के लिए शायद मेरे पास कुछ न कुछ है।

हमारे गांव में लोगों के लिए सात पीढ़ियों तक के अपने पूर्वजों के बारे में जानना आवश्यक था। बड़े-बूढ़े इस बारे में कोई रिआयत नहीं करते थे। आम तौर पर बच्चों की इस तरह परीक्षा लेते थे: "तो, जवांमर्द, बता, किस कुल का है कि, तेरे पिता का पिता कौन था? और उसका पिता और फिर उसका पिता? किस तरह का शख़्स था वह, क्या काम करता था, लोग उसके बारे में क्या कहा करते थे?" और अगर पता चलता कि लड़का अपनी वंश वृक्षवाली नहीं जानता, तो यह बात यक़ीनन उसके मां-बाप के कानों तक पहुंच जाती। बिना कुलवाला, बिना क़बीलेवाला कैसा पिता है वह? किधर हैं उसकी निगाहें? यदि अपने पूर्वजों का पता नहीं, तो मनुष्य कैसे बड़ा हो सकता है? आदि। इसमें पीढ़ियों के वंशानुक्रम और अपने कुल के नैतिक दायित्व प्रतिबिम्बित होते हैं। शायद किसी ने इस ओर ध्यान दिया हो: 'सफ़ेद जलयान' शीर्षक अपने लघु उपन्यास में मैंने यही बात एक बालक

---

* 'सोवेत्स्कीये पिसातेली। आत्मकथा', खंड ४, मास्को, ख़ुदोजेस्त्वेन्नाया लितेरातूरा, १९७२।

के मुंह से कहलाने का प्रयत्न किया, जब वह एक नवागन्तुक ड्राइवर के साथ बात कर रहा था।

मैं अपनी जीवनी यह बात कहकर भी शुरू कर सकता हूं कि मैं शेकेर कुल का हूं। शेकेर मेरे कुल के जन्मदाता थे। मेरे पिता का नाम तोरेकुल, उनके पिता का नाम आइत्मात, उनके पिता का नाम किम्बिल्दी और उनके पिता का नाम कोंचुजोक था। मेरे ख़्याल से इतना काफ़ी है। मैं नाम गिनाते जा सकता हूं, लेकिन उनके बारे में लगभग कुछ भी नहीं जानता। और वे लोग भी नहीं रहे, जो मुझे उनके बारे में बता पाते। मेरे परदादा के पिता का नाम कोंचुजोक नहीं था, यह तो उनका छद्मनाम था। वह आजीवन कच्चे चमड़े के जूते पहिनते रहे, इसलिए वह कोंचुजोक—याने बिना जूतेवाला—कहलाये गये, तो हम बिना जूतेवाले वंश के हैं। इसमें डींग की कोई बात नहीं है, पर जो हुआ, सो हुआ...

यह सब और वह जो मैं आगे बताऊंगा, मुझे, प्रसंगतः, अपने पिता से मालूम नहीं हुआ था। उन्हें इतनी उम्र ही नहीं मिली थी कि यह मुझे बता पाते।

इसके लिए मैं सबसे पहले अपनी दादी आइम्कान सातान-क़ीज़ी, और उनकी बेटी यानी अपनी बुआ कारागीज़ आइत्मातोवा का ऋणी हूं। यह विचित्र बात है कि रूपरंग, व्यक्तित्व, चरित्र, आत्मिक बनावट में मां-बेटी में कितना साम्य था। मेरे लिए दोनों अविभाज्य थीं, दो मुखाकृतियोंवाली एक ही दादी—बड़ी और कम उम्र में। यह मेरा सौभाग्य था कि मैंने ये अद्भुत मेधावी, अति रूपवती नारियां देखी थीं, उन्हें जाना था—वे सचमुच रूप की धनी थीं।... बीते युग तथा परिवार के वृत्तान्त के मामले में वे ही मेरी गुरु थीं।

अपने दादा आइत्मात को मैंने कभी नहीं देखा था। उनका देहान्त तीसरे दशक से पहले ही हो गया था और मेरा जन्म १९२८ में (१२ दिसम्बर को) हुआ था।

तालास घाटी के कीरोव ज़िले में हमारे गांव शेकेर के छोर पर बहती कुर्कुरेउ नदी के कछार में एक पुरानी पनचक्की का पत्थर आज भी पड़ा हुआ है। साल-दर-साल वह घिसता जाता है और ज़मीन के नीचे अधिकाधिक नीचे धंसता जाता है। मेरे दादा की पनचक्की यहीं थी।

लोग कहते हैं कि वह असल कारीगर थे, सिलाई कर सकते थे, वही

सबसे पहले शहर से सिलाई की मशीन ख़रीद कर लाये थे। इसी कारण उनका नाम "आइत्मात दर्ज़ी" पड़ा था। वह घोड़े की काठी तैयार कर सकते थे, कलई और झलाई कर सकते थे, कोमुज़ (तीन तारोंवाला लोक वाद्ययंत्र—अनु०) बजा सकते थे और इतना ही नहीं, अरबी लिपि में लिख-पढ़ सकते थे। परन्तु अपनी सारी उद्यमशीलता के बावजूद सारी ज़िंदगी ग़रीबी में काटी, क़र्ज़ और कंगाली के बोझ से बाहर नहीं निकल सके, कभी-कभी दूसरे गांवोंवालों के साथ भेड़ें चराने नहीं जा पाते थे, क्योंकि उनके पास भेड़ें ही नहीं होती थीं।

मेरे दादा ने ग़रीबी के चंगुल से छुटकारा पाने के लिए एक बार एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया। उन्होंने पनचक्की का निर्माण करने का निर्णय किया। उन्हें आशा थी कि उसकी आय से धनी बनने में मदद मिलेगी। उनके और उनके भाई बिरीमकुल के पास जो कुछ था, उस सबको, दो परिवारों की सारी दौलत को उन्होंने पनचक्की पर लगा दिया। कुर्कुरेउ नदी का पानी पनचक्की तक लाने के लिए सारे परिवार जनों ने पूरी गर्मियां नहर (अब उस नहर के चिह्न मुश्किल से मिल सकते हैं) खोदने, दीवालों की चिनाई करने और छत डालने में बिता दीं। साल बीता और पनचक्की आखिरकार काम करने लगी। परन्तु क़िस्मत ने बदक़िस्मत आइत्मात का फिर साथ नहीं दिया। पनचक्की में आग लग गयी और उसके पाट के अलावा सब जलकर राख हो गया। पूरी तरह बर्बाद मेरे दादा और उनका बारह वर्षीय पुत्र, मेरे पिता माइमाक स्टेशन के पास रेलवे सुरंग की निर्माण-स्थली के लिए रवाना हो गये। स्थानीय रूसी प्रशासन की मदद से मेरे पिता को आउलिए-आता नगर में, जिसका नाम अब जम्बूल है, क़िर्ग़िज़ और रूसी बच्चों के लिए स्कूल में दाखिला मिल गया।

यह मैं कोई खोखली बातचीत के लिए नहीं लिख रहा हूं। दुनिया में अकारण कुछ भी नहीं होता। यदि मनहूस पनचक्की जलकर राख न हुई होती, तो मेरे दादा रेलवे लाइन पर काम के लिए न निकलते और मेरे पिता शायद ही नगर के स्कूल में पढ़ाई शुरू कर पाते। चूंकि मेरे पिता क्रान्ति के आरम्भिक वर्षों में शिक्षित व्यक्ति थे (आगे चलकर वह पढ़ाई के लिए दो बार मास्को गये), चूंकि वह पहले क़िर्ग़िज़ कम्युनिस्ट बने, नेतृत्वकारी पदों पर रहे, राजनीति तथा साहित्य में उनकी अत्यन्त गहरी रुचि थी, और चूंकि मेरी मां—नगीमा हमज़ीयेव्ना आइत्मातोवा—भी शिक्षित, पूरी तरह आधुनिक नारी थीं, इसलिए

वे मेरे लिए कम उम्र में ही रूसी संस्कृति, रूसी भाषा और, इस तरह, रूसी साहित्य, स्वभावतया, बाल-साहित्य में प्रवेश करना सम्भव बना सके।

दूसरी ओर, दादी गर्मियों में भेड़ें चराने के लिए मुझे सदा अपने साथ पहाड़ियों पर ले जातीं। अत्यन्त आकर्षक, बुद्धिसम्पन्न, गांवों में सबसे आदर-सम्मान प्राप्त यह नारी लोककथाओं, प्राचीन गीतों, सच्ची तथा कल्पित कथाओं का भंडार थीं। मैंने यायावरी जीवन को उस रूप में देखा, जिस रूप में वह वस्तुतः था। यायावरी जीवन भेड़ों के रेवड़ के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रव्रजन मात्र नहीं होता था, अपितु बहुत बड़ा आनुष्ठानिक जलूस हुआ करता था। यह होती थी सर्वोत्तम साज़ों, सर्वोत्तम आभूषणों, घुड़दौड़ के सर्वोत्तम घोड़ों, लद्दू ऊंटों के सर्वोत्तम साज़ और उन क़ालीनों की प्रदर्शनी, जिनसे ऊंटों पर लदा माल ढका होता था। ऐसे अवसरों पर सर्वोत्तम नवयुवतियों तथा स्त्री-आशुगीतकारों को, जो शोकगीत (यदि उन स्थानों से रवाना होते, जहां किसी नज़दीकी व्यक्ति की मृत्यु हो गयी हो) तथा सफ़र के समय गाये जानेवाले गीत गाया करती थीं—सुनने का मौक़ा मिलता था। मैं इन ज्वलन्त परिदृश्यों का अन्त तक साक्षी होता था, और फिर यायावरों के बस जाने के साथ वे लुप्त हो गये।

शायद स्वयं अनुभव किये बिना दादी ने अपनी मातृभाषा के प्रति प्यार की भावना का मुझमें समावेश किया। मातृभाषा! इस बारे में कितना कुछ कहा जा चुका है! मातृभाषा का चमत्कार समझाया नहीं जा सकता। केवल अपनी मातृभाषा का बचपन में सीखा और समझा गया शब्द ही जनता के अनुभव से जन्मे काव्य से हृदय को भर सकता है, मनुष्य में जातीय गौरव के प्रथम स्रोत जगा सकता है, अपने पूर्वजों की भाषा के नाना लयों, नाना अर्थों का सौन्दर्यात्मक आनन्द प्रदान कर सकता है। बचपन जीवन का अद्‌भुत काल ही नहीं है, बचपन में ही मानव-व्यक्तित्व के भविष्य का बीज केन्द्र निहित होता है। ठीक इसी अवस्था में अपनी मातृभाषा के सच्चे ज्ञान की नींव पड़ती है; ठीक इसी आयु में अपने चारों ओर के लोगों के साथ, प्राकृतिक परिवेश के साथ, निश्चित संस्कृति के साथ अपने सम्बन्धों की अनुभूति पैदा होती है।

मैं स्वयं अपने अनुभव के बल पर कह सकता हूं कि बचपन में मनुष्य दो या इससे भी अधिक भाषाएं गहराई के साथ सीख सकता है, यदि वे आरम्भिक वर्षों में उसके जीवन में बराबर-बराबर भूमिका

अदा करती हों। मेरे लिए रूसी भाषा क़िर्ग़िज़ से कम मात्रा में मातृभाषा नहीं रही है, वह बचपन से ही, जीवन भर मातृभाषा रही है।

मैं पांच वर्ष का था, जब मैंने पहली बार दुभाषिये की भूमिका अदा की थी और उबले मांस की बोटी मेरी पहली "फ़ीस" थी। यह घटना गर्मियों के मौसम में पहाड़ पर हुई थी, जहां मैं आम तौर पर दादी के साथ जाया करता था।

तब सामूहिक फ़ार्मों की स्थापना शुरू ही हुई थी। उस वर्ष हमारे पहाड़ी चरागाह में एक मुसीबत आ पड़ी। एक नस्ली घोड़ा, जिसे सामूहिक फ़ार्म ने कुछ ही समय पहले ख़रीदा था, एकाएक मर गया। दोपहर के समय उसका पेट फूल गया और उसने प्राण छोड़ दिये। चरवाहों में घबराहट फैल गयी—वह बहुत क़ीमती और दोन नस्ल का था, जो दूर रूस से मंगाया गया था। एक सन्देशवाहक सामूहिक फ़ार्म के और दूसरा ज़िला अधिकारियों के पास भेजा गया। एक दिन बाद एक रूसी हमारी पर्वतीय स्थली में पहुंचा—लम्बा क़द, सुर्ख़ दाढ़ी और नीली आंखें, बदन पर काले चमड़े का जैकट और बग़ल में झोला। मुझे उसकी शक्ल-सूरत आज भी भली-भांति याद है। उसे क़िर्ग़िज़ भाषा का और हमारे लोगों को रूसी भाषा का एक शब्द भी नहीं आता था। उसे घोड़े की जांच करनी थी, बीमारी का कारण स्पष्ट करना था और दस्तावेज़ तैयार करना था। गड़ेरियों को यह तय करने के लिए ज़्यादा नहीं सोचना पड़ा कि दुभाषिये का काम मुझे करना है। मैं बच्चों की भीड़ में खड़ा था और हमारी नज़रें नवागन्तुक पर टिकी हुई थीं।

"आ मेरे साथ," एक गड़ेरिया ने मुझसे कहा और मेरा हाथ पकड़ लिया। "उसे हमारी भाषा नहीं आती। इसलिए वह जो बोले, उसका तू अनुवाद कर हमें बता, और हम जो कहें, उसे बता।"

मैं झेंप और डर रहा था। मैं अपने को उस आदमी से छुड़ाकर दादी के पास तम्बू में घुस गया। मेरे दोस्तों का पूरा झुंड कुतूहलवश मेरे पीछे-पीछे भागा। कुछ ही देर बाद वही व्यक्ति शिकायत करता हुआ मेरे पास आ धमका। यों तो दादी का स्नेह-भंडार सदैव लबालबभरा रहता था, पर इस बार उसकी भौंहें तनी हुई थीं।

"तू आगंतुक के साथ बात क्यों नहीं करना चाहता? इतने बड़े लोग तुझसे अनुरोध कर रहे हैं, क्या बात है, तुझे रूसी भाषा नहीं आती?"

मैं ख़ामोश रहा। तम्बू के बाहर मेरे दोस्त अटकलें लगा रहे थे—क्या होगा?

"क्या हुआ तुझे, रूसी बोलने में शर्माता है या अपनी भाषा में? सब भाषाएं भगवान की देन हैं। बंद कर यह सब, चल।" उसने मेरा हाथ पकड़ा और मुझे अपने साथ ले गयी। बच्चों का झुंड फिर हमारे पीछे चला आ रहा था।

तम्बू के अन्दर लोग भरे हुए थे। वहां मेहमान के सम्मान में मांस उबाला जा रहा था। वे कुमिस पी रहे थे। पशु-चिकित्सक बुज़ुर्गों के साथ बैठा हुआ था। मुझे देखकर वह मुस्कराया और बोला:

"आ, बच्चे, यहां आ। तेरा नाम क्या है?"

मैंने धीमे से अपना नाम बुदबुदाते हुए बताया। उसने मेरे सिर पर हाथ फेरा।

"इनसे पूछ, यह घोड़ा कैसे मरा?" और यह कहते हुए उसे लिखने के लिए काग़ज़ का एक टुकड़ा निकाला।

सब लोग ख़ामोशी से इन्तज़ार कर रहे थे, परन्तु मैं सहज नहीं हो पाया, मेरे मुंह से एक भी शब्द नहीं निकला। दादी परेशान बैठी हुई थी। तब एक बुज़ुर्ग, हमारे एक रिश्तेदार ने मुझे अपनी गोद में बिठाया, मुझे अपने सीने से लगाया, विश्वासभरे और बहुत गम्भीर स्वर में मेरे कानों में फुसफुसाया:

"यह व्यक्ति तेरे पिता को जानता है। वह उसे हमारे बारे में क्या बतायेगा? वह कहेगा कि उसके बेटे की क़िर्ग़िज़ कितने ख़राब ढंग से परवरिश कर रहे हैं!" फिर उसने ऊंचे स्वर में ऐलान किया: "अब यह बोलेगा। अपने मेहमान को बताओ कि इस जगह का नाम उउ-साज़ है।..."

"चाचा," मैंने सकुचाते हुए बात शुरू की, "इस जगह का नाम उउ-साज़, यानी ज़हरीला चरागाह है।" मेरी हिम्मत बढ़ गयी, जब मैंने देखा कि मेरी दादी, यह नवागंतुक तथा तम्बू के अन्दर बैठे लोग कितने प्रसन्न हैं। मैं बातचीत का दो भाषाओं में, शब्द के लिए शब्द के एक साथ अनुवाद को आजीवन स्मरण रखूंगा। पता चला कि उस घोड़े ने कोई ज़हरीली घास खा ली थी। दूसरे घोड़ों ने वह घास क्यों नहीं खायी—इस प्रश्न के उत्तर में हमारे गड़ेरियों ने बताया कि स्थानीय घोड़े तो इस घास को कभी स्पर्श तक नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि यह खाने योग्य नहीं है। मैंने इस सबका अनुवाद कर दिया।

नवागन्तुक ने मेरी प्रशंसा की और बुज़ुर्गों ने मांस की एक पूरी

गरमागरम, महकदार बोटी खाने को दी। मैं विजयी भाव से तम्बू से भागा। देखते ही देखते बच्चों ने मुझे घेर लिया।

"भाई वाह, तू तो कमाल का इन्सान है!" वे उत्साहभरे स्वर में बोले। "तू तो ऐसे रूसी बोलता है, जैसे नदी बिना रुके बहती जाती है!" पर सच्चाई तो यह थी कि मैं रूसी रुक-रुककर बोल रहा था, परन्तु बच्चों को यह सोचना पसन्द था कि मैं रूसी भाषा में मंजा हुआ हूं। हमने वहां बैठकर मांस खाया और खेलने भाग गये।

क्या लेखक की जीवनी में ऐसी बातें याद करना उचित है? मेरी राय में—हां। यह ज़रूरी है कि व्यक्ति की पहली यादों से शुरूआत की जाये, कब और कैसे यह घटना हुई थी। कुछ लोगों को अपने बारे में उस समय की याद रहती है, जब वे तीन वर्ष के थे, दूसरों को अपने बारे में उस समय की मुश्किल से याद रहती है, जब वे दस वर्ष के हो चुके थे। मुझे यक़ीन है कि इस सबका बहुत अर्थ है।

तो यह थी मेरे बचपन की घटना। मेरी दादी मुझसे बहुत प्रसन्न हुईं और उसके बाद बहुत लम्बे अर्से तक वह क़िस्सा, जिसने उनके हृदय को गर्व की भावना से ओतप्रोत कर दिया था, अपने परिचितों को सुनाती रहतीं।

दादी ने लोककथाओं तथा गीतों से मेरे बचपन को अलंकृत किया था, वह चाहे किसी के यहां अतिथि बनकर जातीं या मुशायरों में, चाहे वह किसी के अन्तिम संस्कार में हिस्सा लेने जातीं अथवा किसी के विवाह-समारोह में, वह मुझे सदा अपने साथ ले जातीं, और अक्सर अपने सपनों के बारे में मुझे बतातीं। ये सपने इतने दिलचस्प होते कि जब उन्हें थोड़ी झपकी आ जाती, तो मैं उन्हें जगाकर पूछता कि वह क्या सपना देख रही हैं। छोटे, अल्पकालीन सपने मेरे लिए पर्याप्त न होते। तब वह पड़ोसियों के पास जाकर किसी के सपने "उधार" ले आतीं। आगे चलकर मैं समझा: ये सपने तो उन्होंने ख़ाली मेरे लिए गढ़े थे।

दादी जल्द चल बसी। अब मैं बराबर शहर में रहने लगा। फिर स्कूल जाने लगा। दो साल बाद फिर अपनी जन्मभूमि, अपने गांव को लौट आया—पर इस बार बहुत देर के लिए और बहुत विषम अवस्थाओं के अन्तर्गत।

१९३७ में मेरे पिता, जो पार्टी के कार्यकर्त्ता तथा मास्को में लाल प्राध्यापक संस्थान में पढ़ रहे थे, अन्यायपूर्ण ढंग से गिरफ़्तार कर लिये

गये और उनका जीवन-दीप बुझा दिया गया। * हमारा परिवार गांव लौट आया। और यह तब की बात है, जब मेरे लिए जीवन का विद्यालय अपनी तमाम जटिलताओं के साथ शुरू हुआ।

उस विषम काल में हम लोग पिता की बहन—मेरी बुआ—के पास रहे। कितने सौभाग्य की बात थी कि वह हमारे बीच थी। उसने मेरे लिए दादी का स्थान ले लिया। अपनी मां की तरह मेरी बुआ भी बहुत हुनरमंद, कथावाचक, प्राचीन लोकगीतों की गायिका थी। इस कारण गांव में उसका उतना ही आदर-सम्मान होता था, जितना मेरी दादी का होता था। मेरी मां बहुत सख़्त बीमारी की हालत में गांव आयी थी, और कई वर्षों तक बीमार रहीं। परिवार में चार बच्चे थे और उनमें मैं सबसे बड़ा था।

बहुत भयंकर हालात थे, परन्तु बुआ कारागिज़-आपा ने हमारी आंखों के सामने यह तथ्य उजागर कर दिया कि इन्सान पर मुसीबतों के चाहे कितने ही पहाड़ क्यों न टूटें, अपने लोगों के बीच रहने पर वह तबाह नहीं हो सकता। केवल हमारे सगे-सम्बन्धियों, शेकेरों ने ही नहीं, अपितु हमारे पड़ोसियों और एकदम अजनबियों तक ने हमें मुसीबत में अकेले नहीं रहने दिया, हमारी ओर से मुंह नहीं फेरा। अपने पास की सब चीज़ों—रोटी, जलावन, आलू, यहां तक कि गर्म कपड़े—का वे हमारे साथ मिल-बांटकर उपयोग करते थे।

एक बार जब मैं अपने भाई इलगिज़ के साथ, जो अब क़िर्गिज़ विज्ञान अकादमी के अन्तर्गत खनन-कार्य की भौतिकी तथा यांत्रिकी सम्बन्धी संस्थान का डायरेक्टर है, खेत में जलावन के लिए सूखी टहनियां चुन रहा था, बढ़िया घोड़े पर सवार और अच्छे वस्त्र पहिने एक व्यक्ति हमारे पास आया और उसने पूछा:

"किसके बेटे हो तुम?"

कारागिज़-आपा, मेरी बुआ हमेशा यह सिखाती रही कि ऐसी स्थिति का सामना करने पर अपना सिर ऊंचा रखना और सीधे लोगों की आंखों को देखते हुए अपने पिता का नाम बताना चाहिए। हम भाई उस सबसे अत्यन्त उद्विग्न रहते थे, जो हमारे पिता के बारे में लिखा जा रहा था, लेकिन बुआ कारागिज़-आपा हमारी सकपकाहट से नाराज़ होती थी। किसी तरह यह निरक्षर नारी समझ गयी थी कि यह सफ़ेद झूठ है,

* मरणोपरान्त निरपराध घोषित।

कि हमारे पिता पर लगाये गये आरोप सच नहीं हो सकते। परन्तु वह अपना विश्वास स्पष्ट न कर पाती। तब तक मैं चेका* के गुप्तचर अफ़सरों के बारे में पुस्तकें पढ़ चुका था और मन ही मन किसी जासूस का पता लगाने, उसे पकड़ने और अपने प्राण दे देने का सपना देखा करता था, ताकि सोवियत सत्ता के समक्ष सिद्ध कर सकूं कि मेरे पिता निर्दोष थे।

तो इस शख़्स ने रुककर हमसे पूछा कि हम किसके बेटे थे। अत्यन्त पीड़ादायी स्थिति के बावजूद मैंने आंखें नहीं झुकायीं और अपना कुलनाम बताया।

"तेरे पास यह कौन-सी पुस्तक है?" उसने पूछा।

जैसा कि मुझे याद है, वह भूगोल की पाठ्य-पुस्तक थी, जिसे मैंने अपनी कमरपेटी के नीचे रखा था। उसने पुस्तक पर नज़र दौड़ायी और कहा:

"क्या स्कूल में पढ़ना चाहते हो?"

यक़ीनन चाहते थे। हमने ओंठ भींचे, ताकि आंसू न निकल पड़ें और स्वीकृति में सिर हिलाया।

"ठीक है, तुम लोग पढ़ोगे," यह कहकर वह चला गया।

एक हफ़्ते बाद हम स्कूल जाने लगे। जो घुड़सवार हमें मिला था, वह, पता चला, अध्यापकों में से एक है—उसुबअली तुनालिएव। मुझे इंकमाल जोलोयेवा की कक्षा में भेज दिया गया, जिसने उसी दिन से मेरे प्रति अत्यन्त सौहार्दपूर्ण व्यवहार किया।

मैंने जीवन के बहुत आरम्भ में ही काम करना शुरू कर दिया था: दस साल की उम्र से ही समझ गया था कि किसान किसे कहते हैं।

एक साल बाद हम ज़िला केन्द्र में चले गये। यह कीरोव्स्कोये नामक रूसी बस्ती थी। यहां मेरी मां अकाउंटेंट का काम करने लगी। मैं फिर रूसी स्कूल में जाने लगा।

जीवन कुछ व्यवस्थित हो ही रहा था कि फ़ासिस्टों के विरुद्ध युद्ध शुरू हो गया। १९४२ में स्कूल छोड़ना पड़ा, मां लड़ाई के ज़माने में हम सबको स्कूल नहीं भेज सकी थी।

मैं फिर शेकेर लौटा, जो युद्ध की कठिनाइयों से तबाह-बर्बाद पड़ा था। सबसे अधिक साक्षर होने के नाते मुझे ग्राम सोवियत का सचिव

---

* ख़ुफ़िया पुलिस।

बना दिया गया। इस काम के लिए और कोई नहीं मिल सका। तब मैं १४ साल का था।

पर, जैसा कि कहते हैं, हर बुराई में भी कुछ अच्छाई छुपी होती है।

यदि बचपन में जीवन से मेरा साक्षात उसके काव्यमय, उजले पहलू में हुआ था, तो अब वह मेरे समक्ष अपने कठोर, सरासर नग्न, कटुतामय तथा वीरतापूर्ण पहलुओं के साथ खड़ा था। मैंने अपने लोगों को भिन्न अवस्थाओं में देखा—उस समय, जब हमारा देश सबसे अधिक ख़तरों से गुज़र रहा था, जब हमसे सर्वाधिक आत्मिक तथा शारीरिक प्रयासों की अपेक्षा की जा रही थी। मैं इसे देखने के लिए कर्त्तव्यबद्ध था, बाध्य था—मैं गांव सोवियत के अन्तर्गत प्रत्येक परिवार को जानता था, इन परिवारों के प्रत्येक सदस्य, उनकी गृहस्थी और सादी खेती-बाड़ी को पूरी तरह जानता था। मैंने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं, उसकी भिन्न-भिन्न अभिव्यंजनाओं को पहिचाना।

आगे चलकर मैंने युद्धकाल में ज़िला वित्त कार्यालय में टैक्सकलेक्टर का काम किया। अगर मुझे ज़रा भी पता होता कि युद्ध के ज़माने में, भुखमरी के ज़माने में यह कितना कठोर कार्य था! यह इतना पीड़ादायी कार्य था कि एक साल बाद, अगस्त, १९४४ में मैंने बिना अनुमति पाये काम छोड़ दिया और अदालत में पेश होने से बाल-बाल बचा। फिर मुझे गेहूं की फ़सल-कटाई करनेवाली एक ट्रैक्टर टोली में एकाउंट क्लर्क का काम मिल गया।

युद्ध जारी था और जीवन जनता के रहन-सहन के बारे में मेरे सामने, किशोर के सामने नये-नये पृष्ठ खोलता गया। यह सब आगे चलकर—जितना मुझसे हो सकता था, उसके अनुसार—मेरे लघु उपन्यासों 'आमने-सामने', 'धरती माता' और कुछ हद तक 'जमीला' तथा 'मेरे दिल की रानी' में प्रतिबिम्बित हुआ।

१९४६ में मैंने आठवीं कक्षा पास की और जम्बूल पशुपालन व्यावसायिक विद्यालय में भर्ती हो गया। मैंने १९४७-१९४८ में व्यावहारिक काम का सारा अभ्यास अपने गांव में पूरा कर लिया था, और अब मैं यहां अपनी जन्मभूमि के लोगों के जीवन में आये युद्धोत्तर परिवर्तनों को देख सकता था।

सर्वोच्च नम्बर पानेवाले छात्र के रूप में व्यावसायिक विद्यालय की पढ़ाई पूरी करने के उपरान्त मुझे क़िर्ग़िज़ कृषि संस्थान में

दाखिला मिल गया। प्रसंगत:, यहां भी मैंने सर्वोच्च नम्बर पाकर पढ़ाई पूरी की।

साहित्य से मेरा बचपन से ही अनुराग रहा। स्कूल में मैं अपने मनपसन्द विषयों पर सहर्ष निबंध लिखा करता था, संस्थान में पढ़ाई के ज़माने में मेरे लिए यह स्पष्ट हो चुका था कि ललित साहित्य मुझे सबसे अधिक आकर्षित करता है। उस ज़माने के सर्वोत्तम साहित्य में मैंने उन प्रश्नों के उत्तर की खोज की, जो मुझे उद्वेलित करते थे। मेरी बड़ी इच्छा थी कि सशक्त, भव्य कृतियां युद्ध के विषय में, जनता के शौर्य-पराक्रम के विषय में लिखी जानी चाहिए। तब क़िर्ग़िज़ साहित्य में युद्ध के विषय को अभी गम्भीरतापूर्वक स्पर्श नहीं किया गया था। मैं चाहता था कि क़िर्ग़िज़ पाठकों को भी युद्ध के विषय में सर्वोत्तम पुस्तकें पढ़ने का अवसर प्राप्त हो। इस अभिलाषा से प्रेरित होकर मैंने 'रेजिमेंट का बेटा'* और 'श्वेत भुर्ज वृक्ष'** का अनुवाद करने का जोखिम उठाया, हालांकि मुझे पता भी नहीं था कि साहित्यिक अनुवाद कैसे किया जाता है और पुस्तकें कैसे प्रकाशित होती हैं। जब मैं अपने अनुवादों को प्रकाशनगृह के पास ले गया, तो मुझे बताया गया कि इनका तो बहुत पहले ही अनुवाद हो चुका था और जल्द ही ये पुस्तकें छापाखाने से बाहर निकलनेवाली हैं।...

मुझे तब घोर निराशा हुई थी, परन्तु इन्हीं अनुवादों ने मेरे साहित्यिक जीवन की शुरूआत की थी। छात्र-जीवन में मैं अख़बारों में छोटी-मोटी रिपोर्टें, लेख तथा रेखाचित्र लिखा करता था।

संस्थान की पढ़ाई पूरी करने के उपरान्त मैंने पशुपालन विशेषज्ञ के रूप में काम किया। उस ज़माने में कहानियां लिखने लग गया था। १९५६ में मैं उच्च साहित्यिक महाविद्यालय में दाख़िले के लिए मास्को गया। वहां दो वर्षों के प्रशिक्षण ने मुझे, भूतपूर्व पशुपालन विशेषज्ञ को, बहुत कुछ दिया। मैंने केवल मानविकी और साहित्य के सिद्धान्त का ही नहीं, अपितु स्वयं व्यावहारिक कार्य का भी अनुभव अर्जित किया। हमारे सेमिनार और वाद-विवाद सृजन-कार्य के बहुत अच्छे विद्यालय थे। मास्को के सांस्कृतिक जीवन में—साहित्य में, रंगमंच पर—जो कुछ सर्वोत्तम था, उसे मैंने आत्मसात करने का प्रयास किया। पढ़ाई पूरी करने के बाद मैंने 'लितेरातूर्नी क़िर्ग़िज़स्तान' (क़िर्ग़िज़िया का

* सोवियत लेखक वालेन्तीन कातायेव (१८९७-१९८६) की उपन्यासिका।

** सोवियत लेखक मिख़ाईल बुबेन्नोव (१९०९-१९८३) का उपन्यास।

साहित्य) पत्रिका का सम्पादन किया, फिर पांच वर्ष तक क़िर्ग़िज़िया में 'प्राव्दा' के संवाददाता के रूप में काम किया—इसने भी मुझे पर्यवलोकन करने की अपनी दृष्टि-परिधि व्यापक बनाना, जीवन को बेहतर ढंग से समझना सम्भव बनाया।

लेखक को, निस्सन्देह, अपने स्वभाव से ही कलात्मक ढंग से चिन्तन करने की क्षमता प्राप्त करनी चाहिए, परन्तु उसकी प्रतिभा और उसकी वैयक्तिकता का विकास सामाजिक परिवेश, बौद्धिक अनुभव तथा सम्बद्ध परिवेश की सांस्कृतिक परम्पराओं, उसके विश्वदृष्टिकोण तथा राजनीतिक व्यवस्था से जुड़े होते हैं। हमारे लिए सामाजिक परिवेश सोवियत समाज, समाजवादी व्यवस्था, कम्युनिस्ट विश्वदृष्टिकोण है। यहीं से सोवियत लेखकों की सृजनात्मक दिशा जन्म लेती है।

यह बताने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है कि १९६३ में 'पर्वतों तथा स्तेपियों की कहानियां' के लिए मुझे प्रदान किया गया लेनिन पुरस्कार मेरे जीवन की सुखद तथा बहुत बड़ी घटना थी। इस उच्च पुरस्कार के लिए मैं जनता का आभारी हूं।

कोई अपने आप लेखक नहीं बनता: अपने साहित्यिक रुझान के बारे में जानने से बहुत पहले ही लेखकों के सृजनशील जगत में पूर्ववर्तियों का अनुभव प्रवेश करता है। यह सच है कि हम सब कला के दुरूह पथ पर आविष्कार करने में समर्थ नहीं होते, यह तो प्रतिभा पर, जीवन की दृष्टि-परिधि की व्यापकता पर निर्भर करता है। कभी-कभी हम कोई प्रगति नहीं कर पाते, कभी-कभी हुनर, गहनता तथा चरित्र चित्रण के अर्थ में प्रतिगमन तक होता है। साहित्यिक प्रक्रिया का, ज़ाहिर है, इसी तरह विकास होता है। पेचीदा, असमतल, कभी-कभी समझने में कठिन विकास।

मुझे भी बहुधा अपने विकास के बारे में सोचना पड़ता है और भिन्न-भिन्न कारणों से ऐसा करना पड़ता है। चूंकि मैं अपने बारे में बात कर रहा हूं, इसलिए मैं 'सफ़ेद जलयान' के बारे में कुछ कहना चाहता हूं, जिस पर पाठकों के बीच भिन्न-भिन्न प्रकार का वाद-विवाद पैदा हुआ है। वाद-विवाद स्वाभाविक हैं, साहित्य में आवश्यक हैं। परन्तु इस मामले में जिस बात ने मुझमें बहुत चिन्ता पैदा की, वह थी अत्यन्त सहृदय आलोचना का ख़तरा—जी हां, विरोधाभास, परन्तु ख़तरा, ऐसी सहृदय आलोचना का ख़तरा, जो अपने ढंग से अत्यन्त ईमानदारीभरी होती है। कुछ पाठक, जिन्हें 'जमीला',

'पहला अध्यापक', 'धरती माता' शीर्षक रचनाएं भायीं, वे कला के विषय में अपने विचारों के आधार पर चाहते हैं कि मैं केवल इसी भावना में लिखूं। मैं आत्म-त्यागी नहीं हूं, मैं उसके निश्चित महत्व से इन्कार नहीं करता, जो मैंने 'विदा, गुलसारी!' तथा 'सफ़ेद जलयान' से पहले लिखा था। परन्तु मैं वहीं रुकना नहीं चाहता, जिसे मैं पीछे छूट चुकी मंज़िल मानता हूं। साहित्य को निस्स्वार्थभाव से अपना सलीब उठाकर चलते रहना चाहिए तथा जीवन की जटिलताओं में गहरे पैठना चाहिए, ताकि मनुष्य उसे, जो अन्दर, लोगों में, समाज में, सबसे भला, सबसे अच्छा, सबसे उपयुक्त है, जाने, प्यार करे, उसकी चिन्ता करे। इसमें ही मैं कला का सच्चा उद्देश्य देखता हूं। और मुझे लगता है—और यह मेरा विश्वास है—कि सदैव, अनन्त रूप से ऐसा ही होता रहेगा, क्योंकि मनुष्य कला में अपनी सर्वोत्तम आकांक्षाओं की, उसके परित्याग की अभिपुष्टि की तलाश करता है, जो बुरा है, जो अन्यायपूर्ण है, जो उसके सामाजिक तथा नैतिक आदर्शों के अनुरूप नहीं है। यह बिना संघर्ष के, बिना सन्देहों तथा आशाओं के नहीं होता। और, शायद, शाश्वत रूप से ऐसा ही होता रहेगा। अतः, कला का काम यह है कि वह जीवन की जटिलताओं तथा सौन्दर्य के बारे में मनुष्य को शाश्वत रूप से बताती रहे।

मुझे पता नहीं है कि मेरी आगे की सृजनात्मक नियति किस प्रकार विकसित होगी, क्या मैं ऐसा कुछ कर पाऊंगा, जो दिलचस्प हो। समय बतायेगा।...

# मनास-अता पर हिम *

मैं बहुधा शेकेर जाया करता हूं—साल में दो-तीन बार। अलग-अलग कामों से, कभी शादी-विवाह में तो कभी किसी के अन्तिम संस्कार में शामिल होने के लिए।... अपनी माटी और अपने नाते-रिश्तेदारों के साथ सामीप्य की इस भावना का अपने बेटों, ठेठ शहरी हो चुके बेटों में समावेश करने का प्रयत्न करता हूं। पता नहीं, इसमें कहां तक सफलता मिली है मुझे। लगता है, वक़्त बदल रहा है।

हमारा शेकेर बड़ा, गहरी क़िर्गिज़ जड़ोंवाला गांव है। तीन सौ से कुछ ज़्यादा किसानी घर-गृहस्थियां हैं उसमें। जब भी वहां जाता हूं, तो हर बार यहां या वहां नया मकान देखने को मिलता है। नयी घर-गृहस्थियां जुड़ रही हैं। गांव बढ़ रहा है। वह अपने स्थान पर खड़ा है, जैसा कि कहते हैं, "पानी के सिर पर"—तालास पर्वतमाला की तलहटी पर, जुड़वें शिखरोंवाले मनास पर्वत के सामने। लोकगाथाओं का नायक मनास अपने घोड़े पर सवार होकर उस ऊंचे पर्वत के ऊपर पहुंचता और वहां से आसपास के पूरे क्षेत्र पर नज़र दौड़ाता है—यह देखने के लिए कि कहीं से तो दुश्मन नहीं आ रहा है। (यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि मनास उतनी ऊंचाई से कितने विशाल भू-क्षेत्र का पर्यवलोकन करता रहा होगा। पैमाना सचमुच वीरकथामूलक है। उस प्राचीन काल में लोग अपने बेटे तथा वीर मनास को इसी तरह देखना चाहते थे।) चलिये, ऐसा ही सही। अधीर, रक्त जमा देनेवाली शीतल कुर्करेउ नदी शाश्वत रूप से हिमाच्छादित मनास पर्वत से उन लोगों के लिए जल और जीवन लाती है, जो इस भूमि पर बसते हैं।...

और हर बार मैं उस समय उद्विग्न हो जाता हूं, जब मैं शेकेर के पास पहुंचता जाता हूं और दूर मनास पर नील-श्वेत हिम को देखता

---

* 'ओगोन्योक', अंक १६, १६७५।

हूं, जो अगम्य, दिव्य शिखर पर चमचमाता रहता है। यदि आप पर्वत तथा नभ को देर तक निहारते रहे, तो समय मानो अपने गुण खो बैठता है। अतीत की अनुभूति नि:शेष हो जाती है। नहीं, आप सोचते हैं, कुछ भी तो नहीं हुआ है, कुछ भी नहीं बदला है। सब कुछ बिल्कुल वैसा ही है, जैसा दस, बीस, हो सकता है, सौ या हज़ार वर्ष पहले था। मनास पृथ्वी पर वैसा ही खड़ा है, जैसा हमेशा खड़ा रहता था। और उसके ऊपर बादल भी वैसे ही मंडरा रहे हैं, जैसे कि हमेशा मंडराते रहे हैं, बिल्कुल वही बादल। और तुम भी वही नन्हे बालक हो, जो सुबह होते ही घर से बाहर दौड़ जाता है और गांव के ऊपर पर्वत को देखता है तथा आनन्दमग्न हो जाता है। दुर्भाग्यवश, दिवास्वप्न केवल एक या दो मिनट तक ही देखना सम्भव है।

परन्तु इस बार जब मैं शेकेर गया, तो मैं सामान्य से अधिक उद्विग्न था। इसकी वजह थी। मासिक 'ओगोन्योक' (मशाल) के सम्पादकमंडल ने युद्धकाल में अपने गांव-भाइयों के बारे में लिखने के लिए कहा था। पहले तो मुझे सन्देह था: क्या सचमुच यह लिखना सम्भव है, आखिर यह लड़ाई के मोर्चे का पृष्ठभाग ही तो था। युद्ध तो मुख्यतया समरभूमि है, बाक़ी तो सब कुछ गौण है। शेकेर जाते समय रास्ते में भी ये सन्देह मेरे दिमाग़ पर छाये रहे। परन्तु जब मैं गांव के पास पहुंचा और मनास पर्वत का शाश्वत हिम नज़र आया, तो बहुत-कुछ याद हो आया।

लिखने के लिए सामग्री थी। मेरा बचपन, युद्ध के वर्ष और युद्धोत्तर वर्ष इसी इलाक़े में बीते थे, जिसका नाम उन दिनों शेकेर गांव सोवियत था। इस बारे में, उन दिनों के लोगों के बारे में याद करने लगा।

लोग तो लोग ही थे—मेहनतकश, किसान, सक्रिय कार्यकर्त्ता, वैसे ही लोग, जो किसी भी सामूहिक फ़ार्म या राज्य फ़ार्म में देखने को मिलते हैं। आज जब मैं युद्ध को याद कर रहा हूं, उनमें से प्रत्येक की छवि युद्धकाल की घटनाओं की तेज़, गहरी रोशनी में मुझे नज़र आ जाती है। मैं युद्ध के पहले दिनों की मीटिंगों को याद करता हूं। अपने देश के भविष्य के प्रति संयुक्त दायित्व हममें से प्रत्येक का निजी दायित्व बन गया था। वालंटियरों के दस्ते के दस्ते मीटिंगों के बाद ज़िला केन्द्र से सीधे मोर्चे के लिए रवाना होते थे। इसमें निहित था सारा सार। जैसा कि आज मैं समझने लगा हूं, लड़ाई के मोर्चे पर अथवा

मोर्चे की पृष्ठभूमि में प्रत्येक व्यक्ति का, छोटे-बड़े का पूरी जनता के इस भव्य संघर्ष में अपना ऐतिहासिक स्थान था।... जी हां, ऐतिहासिक स्थान। दूसरे शब्दों में इसका वर्णन नहीं किया जा सकता।...

इसलिए जब हम कहते हैं: "युद्ध से पहले", "युद्ध के बाद", "युद्ध के समय"—तो ये महज़ बातचीत के फ़िक़रे नहीं हैं। मेरे लिए वे सादा कालक्रम से कुछ अधिक हैं, मेरे लिए ये शब्द जीवन का कठोर ढंग से संज्ञान प्राप्त करने के समय का, हमारे समाज के लिए विश्वव्यापी महत्व का अनुभव सीखने के समय का द्योतक हैं। इसलिए कि युद्ध केवल भूमंडलीय ऐतिहासिक मील का पत्थर मात्र नहीं था, जिसने २०वीं शताब्दी को मानवजाति के विकास के दो भागों—युद्धपूर्व की अवधि तथा युद्धोत्तर अवधि—में विभक्त कर दिया था, वह तो उस ज़माने में रहनेवाले प्रत्येक मनुष्य की नियति, भाग्य, उसके आचरण तथा नैतिक मूल्यों को मापने का पैमाना भी था। युद्ध शब्दश: हर इन्सान के सामने मुंह बाये खड़ा हो गया था। मुझे एक भी ऐसे व्यक्ति का पता नहीं है, जिसे युद्ध ने बख़्शा हो। जिस किसी ने उससे कतराने का प्रयास किया, उसे अनिवार्यत: जनता से टकराना पड़ा, क्योंकि यह तो जनता की समान नियति थी और कोई भी अपवाद नहीं हो सकता था। (यही मेरे पहले उपन्यास 'आमने-सामने' का सन्देश था।) युद्ध ने युग से, हरेक के जीवन से अधिकतम चुकाने की मांग की।

और यहां मैं अपने निजी अनुभव का हवाला दिये बिना नहीं रह सकता। जब युद्ध शुरू हुआ, मैं तेरह वर्ष का था। युद्ध से मेरी पीढ़ी के लिए विराट विश्व के द्वार खुल गये। अब तो स्वयं मेरे वास्ते यक़ीन करना मुश्किल है, चौदह साल की उम्र में मैं ग्राम सोवियत के सचिव का काम करने लग गया था। मुझे एक बड़े गांव के जीवन के नाना पहलुओं से सम्बन्धित काफ़ी जटिल सामाजिक तथा प्रशासनिक प्रश्नों का समाधान करने की ज़िम्मेवारी सौंपी गयी थी—और वह भी युद्धकाल में। परन्तु तब इसमें कुछ भी असामान्य नहीं लगता था। १९४१ में सातवीं कक्षा की पढ़ाई पूरी कर चुके किशोर, पाइज़्बेक मोम्बेकोव (वह आजीवन, ३३ वर्ष तक पढ़ाते रहे) और शेकेर के माध्यमिक स्कूल के वर्त्तमान प्रिंसिपल सेइताली बेक्माम्बेतोव छोटी कक्षाओं को पढ़ाने लग गये थे। युद्ध के उपरान्त उन्होंने उच्च शिक्षा पूरी की। मेरा भाई इलग़िज़ (वह इस समय क़िर्ग़िज़ विज्ञान अकादमी के अन्तर्गत

खनन-कार्य की भौतिकी तथा यांत्रिकी संस्थान का डायरेक्टर है) मुझसे तीन साल छोटा है। पूरे युद्धकाल में वह स्कूल में पढ़ता रहा और साथ ही डाकिये का काम भी करता रहा। मुझे उस पर गर्व है। उस विषमकाल में वह सच्चे हृदय से डाक बांटने का काम करता रहा। ग्यारह साल का नंगे पैर, दुबला-पतला बालक (आज तो शायद कोई भी इतनी छोटी उम्र के बच्चे को एक सड़क से दूसरी सड़क पर अकेले नहीं जाने देगा) सैनिकों की चिट्ठियां और अख़बार ले जाता, जिन्हें वह खेत पर काम करते लोगों को ऊंची आवाज़ में सुनाता। उसे सबसे नज़दीक के गांव में, जहां डाकघर था, पहुंचने के लिए कई किलोमीटर पैदल चलना पड़ता और एक नदी पार करना पड़ती। पन्द्रह साल की उम्र में उसे सामूहिक फ़ार्म की आम सभा के निर्णय पर '१९४१-१९४५ के महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध में पराक्रमपूर्ण श्रम के लिए' पदक से पुरस्कृत किया गया था। वह सचमुच इसका पात्र था। यह मैं यक़ीन के साथ कह सकता हूं।

पर बात यह नहीं है। वह और मैं, युद्धकाल के अपने बहुत-से दूसरे किशोरों की भांति, अपने सद्‌गुणों के लिए बुज़ुर्गों के ऋणी हैं, जिन्होंने अपने उदाहरण से हमें कथनी और करनी में शिक्षित-दीक्षित किया था।

मुझे १९४२ के जाड़ों का एक दिन याद है, गांव सोवियत के सन्देशवाहक केनेश मुझे लेने के लिए हमारे घर आये थे।

"बेटे, मेरे साथ घोड़े पर बैठ जाओ। गांव सोवियत के पदाधिकारी तुम्हें चाहते हैं, शायद कोई गम्भीर काम है।" केनेश ने रक़ाब से पांव हटाया और मुझे घोड़े पर चढ़ने में मदद दी। और हम रवाना हो गये। वह घोड़े पर आगे बैठे हुए थे और मैं पीछे।

केनेश यक़ीनन हमारे गांव में एक बहुत दिलचस्प व्यक्ति थे। असल नाम था इब्राहीम, परन्तु इलाक़े के सब लोग उन्हें केनेश ही कहते थे। "केनेश" का अर्थ है "सोवियत" और लोग जब उन्हें केनेश कहते, तो उनका अभिप्राय सोवियत सत्ता से होता था। ग़रीबों में सबसे ग़रीब यह मनुष्य हमारे गांव में उन पहले लोगों में से थे, जिन्होंने ग़रीबों की, सोवियतों की सत्ता का नारा बुलन्द किया था। इस निरक्षर खेत मज़दूर ने सोवियत सत्ता के लिए जीवनभर, समस्त छोटी-बड़ी सभाओं में आन्दोलन करने के लिए ख्याति अर्जित की थी। और वह हमेशा कहा करते कि वह अपने लिए किसी तरह की सुख-सुविधा की तलाश नहीं करते: "मुझे तो रोटी का एक टुकड़ा और अपने घोड़े के लिए कुछ

सूखी घास चाहिए। और कुछ नहीं। परन्तु सोवियत सत्ता के लिए दिन-रात, तब तक काम करता रहूंगा, जब तक घोड़े की ज़ीन से नीचे नहीं गिर जाता।" और वह सन्देशवाहक, स्वयंसेवी राजनीतिक कार्यकर्त्ता के रूप में ज़िन्दगी के आख़िरी दिन तक काम करते रहे और, कहा जा सकता है, उन्होंने ज़ीन पर बैठे ही प्राण त्याग दिये। मनास पर्वत की ढलानों पर लोग आज तक उन्हें मृदु शब्दों में स्मरण करते रहते हैं। आज तक वे उन्हें विस्मय की भावना के साथ याद करते हैं। युद्ध के वर्षों में केनेश वृद्ध हो चले थे, परन्तु सक्रिय बने रहे, उत्साह-उमंग से ओतप्रोत रहते थे। कई बार मैंने उन्हें सभाओं में स्वत:स्फूर्त ढंग से भाषण करते हुए देखा। वह हृदय की, आत्मा की गहराई से बोलते थे, अपने शब्दों से लोगों को अनुप्राणित करते थे।...

यह इन्सान मुझे गांव सोवियत ले गये। टूटी खिड़कियोंवाले ठंडे कमरे में तीन व्यक्ति बैठे हुए थे। फ़र कोट पहने, भूरी दाढ़ी और ऊंचे क़दवाले व्यक्ति थे नदी पार के सबसे नज़दीकी आर्चागुल गांव के बुज़ुर्ग गड़ेरिये काबुलबेक तुर्दुबायेव, गांव सोवियत के नये अध्यक्ष। उन्होंने मोर्चे पर चले जानेवाले अध्यक्ष का स्थान ग्रहण किया था। दो अन्य थे फ़ौजी कोट पहने और मोर्चे पर घायल हो जानेवाले सिपाही: सामूहिक फ़ार्म के अध्यक्ष अलीशेर आइदारोव, जो हाल में मोर्चे से लौटे थे और जिसकी बांह अब भी पट्टी से बंधी थी; गांव सोवियत के सचिव काली नुकीयेव, जो दीवाल का सहारा लिये हुए बैसाखियों पर खड़े थे।

"तुम्हें स्कूल फ़िलहाल छोड़ना होगा," तुर्दुबायेव बोले। बाद में, युद्ध ख़त्म होने पर पढ़ाई पूरी कर लोगे। काली नुकीयेव एक टोली का मुखिया बनने जा रहा है," उन्होंने नुकीयेव की ओर सिर हिलाते हुए कहा। "बैसाखी पर होने के कारण यहां सचिव के काम से बेहतर और क्या हो सकता था! परन्तु फ़ार्म टोली-मुखिया के बिना काम नहीं चला सकता। तुम ख़ुद समझते हो यह बात। यहां तुम्हारे सिवा और कोई नहीं है। मैं तो बहुत ही कम साक्षर हूं। ज़िन्दगीभर भेड़ें चराता रहा। मुझे एक चुस्त सहायक की ज़रूरत है। इसलिए हमने तय किया है कि तुम यह काम सम्भालोगे।..."

तो इस तरह मैं गांव सोवियत का सचिव बना। नदी पार का आर्चागुल गांव भी हमारी सोवियत के अन्तर्गत आता था। चिन्ताभरे उस युद्धकाल में दो बड़े गांव, जिनकी सोवियत का अध्यक्ष गड़ेरिया था तथा

सचिव एक स्कूली बालक। ऐसी थी हालत। परन्तु जीवन का चक्र घूमता रहा, वह नये-नये काम पेश करता, जिन्हें हल करने में विलम्ब की कोई गुंजाइश न होती। ढेर-सारे काम थे। और मैं पढ़ा-लिखा भी इतना न था। ज़िला कार्यकारी समिति के एक दस्तावेज़ में हमें "मालेनिज़ात्सिया" करने का निर्देश दिया गया था (आगे चलकर मुझे पता चला कि यह तो एक ख़ास क़िस्म की दवाई से घोड़ों की मालिश करने के लिए पशुचिकित्सा विज्ञान का शब्द है)। मैंने अध्यक्ष तुर्दुबायेव से कहा कि घोड़ों का "मोबिलिज़ात्सिया" (लामबंदी) शुरू होनेवाली है। उनका चेहरा पीला पड़ गया: "परन्तु भारवाही पशुओं के बिना सामूहिक फ़ार्म का काम कैसे चला पायेंगे?" हम दोनों जल्दी-जल्दी ज़िला केन्द्र कीरोव्स्कोये पहुंचे, जो ४० किलोमीटर दूर था। आधी रात के वक़्त रवाना हुए थे। जब ज़िला केन्द्र में पहुंचे, तो बहुत उद्विग्न थे। वहां हमें समझाया गया कि शब्द का असल मतलब क्या है। बड़ी शर्मिंदगी हुई। यही नहीं, जब हम लोग ज़िला कार्यकारी समिति के कार्यालय से वापस आने लगे और अपने घोड़ों पर चढ़ने लगे, तो मुझे अपने घोड़े पर बैठने में बहुत ही कठिनाई हुई, वह बहुत बड़ा था और मैं छोटा। फिर मेरे बदन पर फ़र कोट था, जो कमरपेटी से कसा हुआ था, सिर पर गर्म टोपी थी, जाड़े का मौसम था। इन कपड़ों में मैं रक़ाब तक नहीं पहुंच पा रहा था। और हमें बैंक जल्द पहुंचना था। मैं घोड़े पर चढ़ने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा ही रहा था कि तुर्दुबायेव ने मुझे ऊपर उठा दिया, वह बलिष्ठ थे। मेरी झेंप की कोई सीमा न थी। गांव सोवियत का कैसा सचिव हूं मैं, अगर बच्चे की तरह घोड़े पर चढ़ने में मुझे मदद लेनी पड़ती है!

"यह काम मैं आगे नहीं करूंगा!" मैंने कुछ तीखे स्वर में कहा।

"तुम्हें किसी ने भी नहीं देखा," तुर्दुबायेव ने मेरा हौसला बढ़ाते हुए कहा। "काम पर तुम्हें टिके रहना ही होगा। हां, केवल तुम्हें पढ़ाई करनी होगी। युद्ध ख़त्म होते ही फ़ौरन स्कूल में दाख़िल हो जाओ। तो, चलें।"

अब इतने वर्ष गुज़रने के बाद मैं अपने भाग्य का इसलिए आभारी हूं कि मुझे, जैसा कि कहा जाता है, इतनी कम उम्र में ही दिलचस्प, क़ाबिल लोगों से मिलने का मौक़ा मिला। ऐसे ही लोगों में से एक गांव सोवियत के अध्यक्ष, बुद्धिमान बुज़ुर्ग, भूतपूर्व गड़ेरिये तुर्दुबायेव थे। डेढ़ वर्ष बाद, जब साक्षर लोग, घायल अफ़सर मोर्चे से लौटे, तो

तुर्दुबायेव फिर अपने पुराने पेशे की ओर लौट गये। बहुत आगे चलकर हम दोनों अपने एक मित्र की स्मृति में आयोजित मृतक-भोज में मिले, बातें करने लगे, और, स्वभावत:, गांव सोवियत में अपने संयुक्त कार्य को याद करने लगे। मैंने सोचा कि बुज़ुर्ग उस ज़माने को याद करते हुए मेरा मज़ाक़ उड़ायेंगे, परन्तु नहीं, उन्होंने गम्भीरतापूर्वक बातें कीं। बहुधा, उन्होंने कहा, मैं सोचता हूं कि हम लोग क्या वह सब कर पाये, जिसकी हमसे अपेक्षा की जाती थी।

उस विषमकाल में हमें बहुत कुछ करना पड़ा था। एक के बाद दूसरी लामबंदी चल रही थी। मोर्चे के लिए, खानों में, लकड़ी-पड़ावों में काम करने के लिए, यहां तक कि चूया नहर के निर्माण के लिए, जिसका निर्माण-कार्य उन वर्षों में भी जारी रहा। हम लोगों को भर्ती के काग़ज़ात सौंपने और इसके लिए दफ़्तरी रजिस्टर भरने तक अपना कार्य सीमित नहीं रखते थे। तुर्दुबायेव प्रत्येक व्यक्ति के साथ, उसके परिवारजनों के साथ बातचीत करना, उन्हें समझाना-बुझाना, कथनी और करनी में उनकी सहायता करना अपना कर्त्तव्य मानते थे। वह उन्हें सदैव स्नेहपूर्ण शब्दों के साथ विदा करते, उनके साथ अक्सर ज़िला केन्द्र, फ़ौजी भर्ती दफ़्तर तक जाते, उनके विदा होने तक उनके साथ रहते। कभी वह मुझे उनके साथ जाने के लिए कहते, हालांकि मैं यह काम उनकी तरह निभाने में क़तई समर्थ नहीं था। मैं गम्भीर होने का प्रयत्न करता, परन्तु किशोर तो किशोर ही होता है।

एक बार ऐसा हुआ कि एक गड़ेरिया, जिसे किसी निर्माण-स्थली में काम करने के लिए बुलाया गया था, ज़िला केन्द्र जाने के लिए गांव सोवियत में उपस्थित नहीं हुआ। उसने सन्देशवाहक से कहा कि वह नहीं जायेगा। मुझे उसके पास भेजा गया। वह ग़ुस्से में और चिड़चिड़े भाव के साथ मुझे दरवाज़े पर मिला। सच तो यह है कि वह सही था। वह पूरे साल अपने परिवार तथा बच्चों के साथ भेड़ें चराता रहा। वह और उसकी पत्नी चार गड़ेरियों का काम करते रहे, परन्तु उस हिसाब से उन्हें भुगतान नहीं किया गया। जब उसे भर्ती का काग़ज़ मिला, तो वह पहाड़ से नीचे अपने गांव में अपने ख़ाली, उपेक्षित घर में पहुंचा। वहां कुछ भी नहीं था, रसद-पानी का नाम तक नहीं — न ईंधन, न वस्त्र, न मवेशियों के लिए चारा।

"इन्हें यहां छोड़कर कैसे जा सकता हूं?" उसने अपने नन्हे बच्चों,

कोने में लेटी और फ़र कोट से ढकी अपनी पत्नी की ओर इशारा करते हुए कहा।

मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या किया जाये। परन्तु इतना जानता था कि क़ानून तो क़ानून ही है, उसका पालन आवश्यक है।

"आप जाइये, आपके परिवार की हम देखभाल कर लेंगे," मैंने उसे सच्चे दिल से यक़ीन दिलाया, हालांकि मैं ख़ुद नहीं जानता था कि उसके परिवार की मैं किस तरह मदद कर पाऊंगा। गड़ेरिया उदास भाव से मुस्कराया:

"तुम इनकी देखभाल करोगे?"

"हां, हमारी गांव सोवियत करेगी यह काम।..."

"ठीक है, बच्चे," उसने गहरी सांस लेते हुए कहा। "मैं ख़ुद इनकी किसी न किसी तरह देखभाल कर लूंगा। तुम जाओ। मैं यहां थोड़े-बहुत काम निबटा लेता हूं। फिर जहां कहोगे, वहां चला जाऊंगा।"

मैं इस पूरे क़िस्से से अत्यन्त उद्विग्न अवस्था में गांव सोवियत लौटा। मैंने तुर्दुबायेव को सब बताया। उनके भौंहें चढ़ गयीं। दाढ़ी को मुट्ठी में मसलते रहे। यह उनकी आदत बन गयी थी।

"तो तुम्हारा क्या सुझाव है?" उन्होंने गहरी आवाज़ में कहा।

"उनकी मदद करें," मैं बोला। "उन्हें ईंधन, सूखी घास और आटे की ज़रूरत है। बच्चे ठंडे से ठिठुर रहे हैं, भूखे दिखायी देते हैं।"

"क्या ज़रूरी है, यह मैं ख़ुद जानता हूं। तुमने गांव सोवियत की ओर से वायदा किया है, इसका मतलब है, तुम्हें अपना वायदा निभाना होगा, वरना लोग हम पर यक़ीन नहीं करेंगे। फ़ार्म के अध्यक्ष के पास जाओ और सूखी घास तथा ईंधन लाने के लिए घोड़ागाड़ी मांगो। उसे परिवार को आटा और आलू देने का आदेश जारी करने को कहो। क़ल परिवार का मुखिया कार्य-स्थली पर चला जायेगा। उसे यह यक़ीन होना चाहिए कि यहां सोवियत सत्ता विद्यमान है। कोई बात नहीं, अगर हम दो में से एक बूढ़ा और एक छोटा है। हम ही तो सत्ता हैं।"

सामूहिक फ़ार्म के अध्यक्ष से ज़रूरत की चीज़ें हासिल करना आसान काम सिद्ध नहीं हुआ। ऐसे ख़राब ज़माने में ऐसी चीज़ें मांगना ही बेतुका लगता था। सामूहिक फ़ार्म में उनके पास अपने ही बहुत-सारे काम थे, चिन्ताओं में गले-गले तक डूबे हुए थे। उनसे सब चीज़ों की

मांगें की जा रही थीं: "योजनाएं पूरी करो, यह दो, वह दो।" कोई उनसे यह नहीं कह रहा था: "यह लो!" बस केवल—"दो!" और कुछ दे सकने के लिए काम करना ज़रूरी था। पर काम किससे कराया जाता, कौन करता? सूखी घास, भूसा पहुंचाने के लिए न तो आदमी था और न समय ही था। अगर किसी को कार्य-स्थली में बुला लिया गया है, तो क्या हुआ, जाने दो उसे, वह अकेला ही तो नहीं है। पूरा देश लड़ रहा है। सब परिवार ज़रूरतमंद हैं, सब कंगाल हैं।...

हुआ यह कि मैं अध्यक्ष के पास बुरी घड़ी में पहुंचा। बुरी तरह झुंझलाये हुए थे। परन्तु मैं भी अड़ा रहा, जहां तक सम्भव था, अपनी बात साबित करने का यत्न करता रहा, अनुरोध करता रहा। मैं इतना हताश था कि पांचे (खेत में अनाज, घास, आदि समेटने का औज़ार) पर झपटने के लिए तैयार था। हम लोग घुड़साल में थे। और जब अध्यक्ष आख़िरकार तैयार हो गये और मुझसे बोले: "वे रहे घोड़े, वह रहा साज़, भूसा खलिहान में है, सूखी घास के पुलिंदे बंधे हुए हैं, उन्हें ले जाने के लिए कोई नहीं है, जो चाहो करो!" बस फिर क्या था, मैंने घोड़ों की साज़ कसी, गाड़ी में कुछ पांचे फेंके और घोड़ागाड़ी को सड़क पर ले गया। जल्दी में था, जाड़ों में रात जल्द हो जाती है। मैंने गाड़ी पाइज़्बेक मोम्बेकोव के घर के पास रोकी, वह मेरा चचेरा भाई था और रिश्तेदारों के साथ रहता था, क्योंकि उसका पिता सेना में था और मां मर गयी थी। जैसा कि मैं पहले बता चुका हूं, पाइज़्बेक उस समय, पन्द्रह साल की उम्र में ही स्कूल में पढ़ाने लग गया था। ख़ुशक़िस्मती से वह घर पर ही था। हम दोनों भूसा इकट्ठा करने खेत में पहुंचे। हमने गाड़ी में बहुत-सारा भूसा भरा, पर रास्ते में हमारी गाड़ी उलट गयी। हमने फिर घोड़ों की साज़ कसी। अलबत्ता गाड़ी को फिर से पहियों पर खड़ा करने में बहुत कठिनाई हुई। आख़िरकार भूसा गाड़ी में भर दिया। शाम तक, जब अभी बाहर रोशनी थी, हम गड़ेरिये के घर में पहुंच गये। मैंने देखा कि वह अपने आंगन में काफ़ी पेड़ काट चुका है। हमने भूसा नीचे उतारा और वह कुल्हाड़ी चलाता रहा। पसीने से तरबतर वह हमारे पास आया। कुछ देर सब चुप रहे। फिर वह बोला:

"शुक्रिया, बच्चो। मैंने ईंधन के लिए पोप्लर के कुछ पेड़ काट डाले हैं। मेरे जाने के बाद थोड़ा सूख जायेंगे और ईंधन के लिए ठीक रहेंगे। अफ़सोस बस इतना ही है कि ये अभी छोटे ही पेड़ थे। चलो,

कोई बात नहीं, लड़ाई के बाद, अगर भगवान ने चाहा, हम नये पेड़ लगा लेंगे।"

मैंने उनके परिवार के लिए आटा और आलू देने के बारे में अध्यक्ष का निर्देश सौंपा। मुझे अभी तक अच्छी तरह याद है—आठ किलोग्राम आटा और बीस किलोग्राम आलू। मैंने उससे कहा कि सूखी घास हम सुबह ले आयेंगे।

"माफ़ी चाहता हूं, भय्या, इधर मैं जल्द गुस्सा हो जाता हूं," गड़ेरिया बुदबुदाया, उसे अटपटा लग रहा था। "मैं सचमुच घबरा गया था: बच्चे इतने छोटे हैं, घरवाली इधर अक्सर बीमार रहने लगी है। पहाड़ों पर उसे ज़ुकाम हो गया था। वरना मैं एक शब्द भी न बोलता।"

पाइज़्बेक और मैंने आरी पकड़ी और उस शाम देर तक लकड़ी के लट्ठे चीरते रहे और उन्हें काटकर जलावन तैयार करते रहे।

सड़क पर कुत्तों से बचते हुए घर देर से लौटा। रातभर ठीक तरह सो नहीं पाया। डर रहा था कि नींद कहीं देर से न खुले। सुबह तड़के ही तमाम लामबंद लोगों को ज़िला केन्द्र ले जाने का काम नियंत्रित करना था। पर वजह अकेली यही नहीं थी। मेरे दिमाग़ में तो तरह-तरह के विचार थे। युद्ध के बारे में सोच रहा था। पहले मैं युद्ध की कल्पना केवल मशीनगनों से गोली बौछार और पराक्रमपूर्ण कारनामों के रूप में करता था—शत्रु के सैनिक गाजर-मूली की तरह कट रहे हैं और हमारे सैनिकों को कोई छू तक नहीं सकता।... भोलेपनभरे, बचकानापनभरे इस भ्रम का क़िला बुरी तरह धराशायी हो गया था। एक भी दिन ऐसा न जाता, जब गांव सोवियत के पास शोकसूचक काग़ज़ न पहुंचता हो, जिसमें मोर्चे पर अंत्येष्टियों की सूचना रहती थी। बहादुरी से लड़ता हुआ खेत रहा यह, उसने वीरगति पायी, उसने, उसने।... और सबसे भयावह स्थिति का तब सामना करना पड़ता था, जब मृतक के परिवार को सूचना देनी होती थी। यद्यपि बुज़ुर्ग लोग यह कटु समाचार बहुत ही संभल-संभल कर सुनाते और सारा गांव मृतक के लिए शोक मनाता, परिवार के पास वह असल काग़ज़ पहुंचाने का दर्दनाक काम मेरा होता। तुरन्त नहीं, कुछ देर बाद, पीड़ा, हताशा के विस्फोट के बाद। फिर भी उस थैले से, जो भूतपूर्व सचिव मेरे लिए छोड़ गया था, फ़ौजी मोहर लगे और मेजरों, कप्तानों या अन्य कमांडरों के हस्ताक्षर से युक्त काग़ज़ को बाहर निकालने से मुझे घृणा होती थी। काग़ज़ पर केवल चंद पंक्तियां लिखी होतीं। मैं धीमे स्वर में उसे

पढ़ता, क़िर्गिज़ भाषा में अनुवाद करता और फिर ख़ामोश हो जाता। ऐसी वेदनाभरी, गहरी आहें सुनता, जो इस तरह ध्वनित होतीं, मानो किसी पहाड़ से चट्टान टूटकर नीचे लुढ़क रही हो। मुझे परिवारजनों से आंखें मिलाने में कठिनाई होती, हालांकि मैं किसी भी तरह क़सूरवार न होता। मैं उन्हें काग़ज़ सौंपता और उसे किसी सुरक्षित स्थान पर रखने के लिए कहता। और तुरन्त मां, जो किसी तरह अपने आंसू रोकने का प्रयत्न करती होती, रुक-रुककर और फिर फूट-फूटकर रोने लगती। क्या यह सम्भव है कि काग़ज़ का यह टुकड़ा उसके जीते-जागते बेटे का स्थान ले ले?!

मैं न तो खड़ा हो सकता था, न जा सकता था और न तसल्ली ही दे सकता था। यहां कौन-से शब्द तसल्ली दे सकते हैं! उन क्षणों में जी चाहता कि दरवाज़े से सीधे बाहर निकलूं, झपटकर मशीनगन पकड़ूं, जी हां, मशीनगन और ज़रा भी रुके बिना दौड़ता रहूं—सीधे मोर्चे तक, जहां से मृत्यु की ये सूचनाएं आ रही थीं। मैं कल्पना करता कि मैं आग-बबूला होकर, पूरी घृणा के साथ चिल्ला रहा हूं, फ़ासिस्टों को गोलियों से, गोलियों की अनन्त बौछार से भून रहा हूं। पर यह तो केवल मन का विचार ही होता था। मुझे, इतने छोटे लड़के को, मशीनगन कौन देता। काश, क़द थोड़ा ऊंचा होता।...

अन्ततः, इन लोगों के, जिनके साथ मैं अपनापन अनुभव करने लगता, शोक-संताप से उदास-उदास लौटता। थैला कंधे पर लटकाये मैं पांव बढ़ाता जाता। अभी तो और भी हैं, जिन्हें उनके आत्मीयजनों की मृत्यु की सूचना देनी है।

लड़ाई से पहले के इन सरकारी थैलों (ऐसे थैले आम तौर पर सफ़र करनेवाले अधिकारी इस्तेमाल किया करते थे) के बारे में मैंने एक बार एक गांव-भाई आशीम जाकीपबेकोव से बात की, जो प्रसिद्ध क़िर्गिज़ लेखक तथा 'क़िर्गिज़फ़िल्म' स्टुडियो के प्रमुख डायरेक्टर हैं। मेरा थैला उनके बड़े भाई आइताली का था (उस समय आशीम पहले दर्जे में पढ़ रहा था)। आइताली बहुत ही मिलनसार शख़्स था, लड़ाई के खेल आयोजित करता, पैदल सैर के लिए ले जाता। और फिर वह एकाएक बड़ा हो गया और युद्ध से कुछ समय पहले ही गांव सोवियत का सचिव बन गया था। जब सचिव बनने की मेरी बारी आयी, तो नुकीयेव ने मुझे अपना कार्यभार सौंपते हुए पूछा: "तेरे पास थैला है? काग़ज़ किसमें ले जाया करेगा?" ज़ाहिर है, मेरे पास थैला नहीं था। उस ज़माने में हम किताबें अपनी कमरपेटियों में खोंसकर स्कूल जाते थे। तब उसने

एक आलमारी के बिल्कुल नीचे रखे पुराने काग़ज़ात के बीच से थैला निकाला। "ये लो। यह आइताली का था। जब से वह फ़ौज में गया, तब से यहीं पड़ा है। तुम इसे इस्तेमाल कर सकते हो। काग़ज़ हाथ में नहीं ले जा सकोगे।"

इस तरह यह थैला मुझे मिला था। उसमें मुझे तरह-तरह के कामकाजी नोट, रसीदें, सम्पत्ति-कर के बांटे न गये नोटिस मिले, उनके बीच पद्य में लिखा एक प्रेमपत्र भी था, जिसका शीर्षक था: 'आशीक्तीक कात'। ज़ाहिर था, आइताली यह पत्र उस लड़की को नहीं दे पाया था, जिसके लिए वह लिखा गया था। मैं नहीं जानता कि इसका क्या करूं। पत्र में लड़की का नाम नहीं था, केवल नाम के आद्यक्षर ही थे। मुझे लगा कि यह पत्र किसी को नहीं दिखाना चाहिए, इसलिए अपने भोलेपन और पत्र के महत्व को न समझने के कारण मैंने उसे फाड़ दिया। बाद में मुझे बहुत अफ़सोस हुआ। जब मोर्चे पर आइताली के खेत रहने की सूचना भी इसी थैले में पहुंची, तो मुझे अपनी ग़लती का एहसास हुआ।

मेरे कर्त्तव्यों में से एक था मोर्चे पर गये लोगों के परिवारजनों की सूची के अनुसार उनके बीच घरेलू उद्योग-धंधों द्वारा उत्पादित दियासलाइयां, घर की बनी साबुन की टिकियाएं, प्रति परिवार के हिसाब से चौथाई लिटर किरासिन बांटना।

कंगाली, अभाव, दुख-कष्ट। सोचता था: क्या कभी यह सब ख़त्म भी होने जा रहा है? क्या यह अग्नि-परीक्षा नहीं है? परन्तु यह सबसे बड़ी अग्नि-परीक्षा ही नहीं थी—जनता महान, शब्दों में अवर्णनीय साहस का परिचय दे रही थी, मुंह बाये हुए युद्ध के सामने वह अपना सीना ताने खड़ी थी। चाहे कैसी भी विकट कठिनाइयां न आयी हों, जब लगता था कि निरन्तर प्रकट होती जाती नयी-नयी विपदाओं को झेलने और भयंकर बोझ वहन करने के लिए शक्ति नहीं बची है, जब लगता था कि मनुष्य का धैर्य चरम सीमा पर पहुंच चुका है, लोगों ने संघर्ष करते रहने की अपनी क्षमता नहीं खोयी, वे बराबर वह सब करते रहे, जो उन पर निर्भर करता था।

युद्धकाल में नारियों के बारे में बहुत कुछ कहा जा चुका है। मेहनतकशों तथा माताओं के रूप में वे यक़ीनन प्रशंसा के पात्र हैं। यदि मैं मूर्तिकार अथवा चित्रकार होता, तो युद्धकाल की नारी का ऐसा चित्र बनाता, जो उसके प्रति, बीसवीं शताब्दी की इस महती हस्ती के प्रति

आभार, प्रशंसा, गर्व, सहानुभूति की अपनी सारी भावनाएं एक साथ व्यक्त करता।

मुझे याद है कि हमारे गांव सोवियत में एक भ्रमणशील चित्रकार आया था। आटे के बदले इस बुज़ुर्ग व्यक्ति ने सबसे अग्रणी महिला कामगारों के छविचित्र तैयार किये थे। ख़ुशमिज़ाज, मिलनसार, सर्वोत्तम टोली-मुखिया, हमारी ख़ूबसूरत आसिया दुबानायेवा छविचित्र में सर्वथा भिन्न निकली। यह छविचित्र उसकी आकृति से मिलता था और नहीं भी मिलता था। पता नहीं, वह छविचित्र अभी तक संरक्षित है या नहीं। चेहरे से यौवन और सौन्दर्य टपकता हुआ, चिन्ता तथा विषाद से भरपूर आंखें। हम लोग चित्रकार के पास खड़े थे और उसे काम करते हुए देख रहे थे। किसी ने उससे कहा कि यह छविचित्र तो आसिया से नहीं मिलता।

"यह उन सबसे मिलता है, जो अपने पति की राह जोह रही हैं," चित्रकार ने उत्तर दिया।

दुर्भाग्यवश, हमारी आसिया अपने पति से फिर कभी नहीं मिल सकी। साल पर साल गुज़रते गये: वह प्रतीक्षा करती रही, काम करती रही, काम करती रही, प्रतीक्षा करती रही।

किशोर महज़ बड़े बच्चे होते हैं। परन्तु वे भी नारियों के साथ मिलकर काम करते थे, अपने परिवारों का पेट भरने के सामान्यतया मर्दाना कामों का बोझ अभी मज़बूत न बने, पूर्णत: परिपक्व न बने कंधों पर वहन करते थे।... उस समय के बारह-तेरह साल के लड़के हलवाहे, अनाज-उत्पादक बन गये थे। १९४२ में शेकेर में हमारे सामूहिक फ़ार्म ने वसन्तकालीन बुवाई के लिए ५०० एकड़ नयी ज़मीन पर जोताई करने का निर्णय किया। "सेना के लिए रोटी!" इन शब्दों में सब कुछ कह दिया गया था। आज के हिसाब से तो चन्द सौ हेक्टर ज़मीन की जोताई करना कोई समस्या ही नहीं है। बस खेतों में एक ट्रैक्टर पहुंचा दो और काम पूरा। परन्तु तब घोड़ों को जोतकर फ़ार्म के चन्द हलों से योजना से इतनी अधिक ज़मीन की जोताई करना एक ज़बर्दस्त कारनामा था। ऐसी ही थी स्थिति! एक दिन में चार घोड़े दो फालवाले हल से परती या अछूती पड़ी हद से हद दो एकड़ ज़मीन की जोताई कर सकते थे। अब आप ख़ुद हिसाब लगा लीजिये।

किशोर हलवाहों को इस ग़ैरमामूली काम के कारण स्कूल छोड़ना पड़ता, क्योंकि जाड़ों से ही घोड़े तैयार करने की ज़रूरत होती। भारवाही

पशुओं की रोज़ देखभाल करनी पड़ती है। वरना बुवाई के मौसम के शुरू होने पर कुछ दिनों में वे काम के लायक़ न रहते। हल चलाना खेती में सबसे मुश्किल काम होता है। हर किसान को यह मालूम है।

ठीक समय पर जोताई और बोवाई कर सकने के लिए उस साल वसन्त के बिल्कुल आरम्भ में ही काम शुरू करना ज़रूरी था। मिट्टी ने अभी-अभी "सांस लेना" शुरू किया था। जाड़ा अभी ख़त्म न हुआ था। मुझे यह इस तरह याद है, मानो आज की ही बात हो, फ़रवरी ख़त्म होने जा रही थी।

पहले ही दिनों में मैं कोक-साई स्तेपी में खेतों पर काम कर रहे अपने साथियों से मिलने गया। जब सुबह हुई, तो दिन भूरा-भूरा, उदास-उदास-सा था और जब मैं वहां पहुंचा, तो सहसा बर्फ़ गिरने लगी। चारों ओर सब कुछ सफ़ेद ही सफ़ेद हो गया था। आकाश में तिरते बर्फ़ के कणों के बीच खेत जोतते हलवाहों का वह नज़ारा मैं कभी न भूल सकूंगा। बड़े, घनीभूत, जल्द पिघल जानेवाले—ऐसे थे वे हिमकण। विशाल, बड़े वीरान क्षेत्र में बर्फ़ पड़ रही थी और विश्व का पर्यवलोकन करने की राह में बाधक बन रही थी। चारों ओर नीरवता व्याप्त थी, कहीं कोई मनुष्य नहीं था, केवल बर्फ़ पड़ रही थी, कोई ध्वनि पैदा किये बिना। केवल हलवाहे बिना रुके, घोड़े हांकते हुए काम करते जा रहे थे। टीले पर काली लीकों के साथ-साथ हल एक-दूसरे के पीछे ठीक इस तरह बढ़ रहे थे, मानो सागर के कुहासे में जहाज़ चले जा रहे हों। वे टीले के पीछे इस तरह ग़ायब हो रहे थे, मानो लहरों में डुबकियां लगा रहे हों। तब केवल लड़कों की आवाज़ सुनायी दी। मैं उनसे मिलने के लिए अपने घोड़े को मैदान के किनारे-किनारे ले जा रहा था।

हल बर्फ़ के तूफ़ान में से प्रकट हुए। लीक पर चलते हुए, तनाव से कसे हुए चार-चार घोड़ों की टोलियां एक-दूसरे से सटकर चल रही थीं। बर्फ़ उनकी गर्म हो चुकी पीठ पर तुरन्त पिघल जाती और सफ़ेद भाप ऊपर उठती। घोड़ों के लिए बहुत कठोर काम था, पैरों के नीचे ज़मीन नम और गीली थी, उनकी साज़ पानी से भारी हो रही थी। घोड़े हांक रहे लड़कों के लिए यह सब आसान न था, उनके सिर पर रखी ख़ाली बोरियां टोपी का काम दे रही थीं। वे भी गीली हो गयी थीं। ये तो महज़ बालक थे। इस तरह के मौसम में और सामान्य परिस्थितियों में वे घर पर गर्म कमरे के अन्दर बैठे रहते। परन्तु ये तो युद्धकाल की सन्तान थे और वे अपनी नियति तथा दायित्वों को जानते थे।

बर्फ़ पड़ती जा रही थी।... हल की काली लीकों पर हलवाहों की

टोलियां रेंगते हुए चल रही थीं। हल चलते जा रहे थे, बिना रुके।... मैं लड़कों को उनकी आवाज़ से पहिचान लेता हूं — बाइतिक, ताइरीबेक, सत्तार, अनाताई, सुल्तानमुरात।... सब मेरे सहपाठी। मैं देर तक उनके पास नहीं पहुंचा, नहीं चाहता था कि वे मुझे रोता हुआ देखें।...

जाड़ों में एक भयंकर घटना हुई। एक रात किसी ने मेरे कमरे की खिड़की को खटखटाया। वह काठी पर बैठे ही चिल्ला रहा था :

"उठो, उठो! जल्दी घुड़साल पहुंचो! घोड़े चुरा लिये गये हैं!"

मैंने क्षणभर में कपड़े पहिने और बाहर भागा। लोग भी घरों से बाहर निकल रहे थे, वे अब भी कपड़े ठीक से पहन रहे थे। जब मैं घुड़साल में पहुंचा, तो मैंने ऊंची, उत्तेजित आवाज़ें सुनीं। पता चला कि आधी रात के वक़्त, जब चौकीदार को नींद आ गयी थी, कुछ अजनबी दरवाज़े के पास से दो सबसे अच्छे घोड़ों को ले गये। पहले तो चौकीदार ने समझा कि घोड़े संयोगवश अपनी खूंटी से अलग हो गये हैं। पर उसे असल स्थिति का तभी पता चला, जब उसने देखा कि घोड़ों की ज़ीनें भी ग़ायब हैं। वह उनकी तलाश के लिए बाहर भागा, परन्तु तब तक बहुत देर हो चुकी थी।...

घोड़ों के चोरों को पकड़ना ज़रूरी था। हम लोग अपने सबसे नज़दीक के घोड़ों पर सवार हुए, जिन पर ज़ीन नहीं थी। भिन्न-भिन्न दिशाओं में अपराधियों का पीछा करने लगे। मैं कह नहीं सकता कि अगर हमने चोरों को पकड़ा होता, तो उनके साथ किस तरह पेश आते। घोड़ों के कौन-से चोर हम छोकरों से डरते?.. हमने पौ फटने तक तलाश जारी रखी। परन्तु उनका कहीं पता नहीं चला, वे अपने पीछे कोई निशान नहीं छोड़ गये थे। ज़ाहिर है, वे अनुभवी थे। हम लोग बुरी तरह परेशान थे। हमने घोड़े हल चलाने के लिए तैयार किये थे, ख़ास तौर पर इस काम के लिए पढ़ाई छोड़ी, परन्तु चोरों को इस बात से क्या लेना-देना था।...

मैं इन सब बातों के बारे में जानबूझकर अत्यन्त संयत तथा शुष्क ढंग से* लिखने का प्रयत्न कर रहा हूं, इसलिए कि अगर मैं उस ज़माने में अपने शेकेर में जीवन के बारे में अधिक विस्तारपूर्वक लिखने बैठूं, तो यह सम्बद्ध शैली के आवश्यक चौखटे के अन्दर फिट नहीं बैठेगा। मैं लोगों और घटनाओं का किसी तरह वर्गीकरण करने का प्रयत्न करूंगा। गांव के अपने सहपाठियों के बारे में मैं बहुत-सी रोचक बातें बता सकता

---

* 'जब पहले सारस आये' (१९७५) इस सामग्री पर आधारित था।

हूं। इसलिए कि हम उस पीढ़ी के किशोर थे, जिसने युद्ध के शुरू होने के अगले ही दिन बाल्यकाल की दुनिया से बाहर आकर सीधे युद्धकालीन जीवन के भंवर में और युद्ध के पार्श्वभाग के मोर्चे की भयावह वास्तविकता के लोक में प्रवेश किया था। इसने हमसे जिस परिपक्वता तथा साहस की अपेक्षा की थी, वे किशोरों की शक्ति से कोसों दूर थे।

जब मैं उस ज़माने के अपने हमउम्रों के बारे में सोचता हूं, तो तुरन्त इस निष्कर्ष पर पहुंच जाता हूं कि मेरी पीढ़ी ठीक शायद इन्हीं कठोर परिस्थितियों की बदौलत इतनी प्राणवान तथा ध्येयनिष्ठ बनी। इसके माने यह नहीं हैं कि माली सम्पन्नता की वर्त्तमान परिस्थितियां नौजवानों के प्राणवान होने के प्रतिकूल हैं। इसके उलट, केवल नासमझ व्यक्ति ही भले को अपने हित के विरुद्ध मोड़ सकता है। हर काल की मनुष्य से अपनी मांग, अपनी समस्याएं तथा अपेक्षाएं होती हैं। इसलिए जीवन कभी भी सुगम नहीं होता, यदि व्यक्ति उसके प्रति गम्भीर रुख अपनाये, यदि वह डटा रहे, चिन्तामुक्त जीवन की तलाश नहीं करे। चिन्तामुक्त जीवन के आरम्भ का अर्थ है सच्चे व्यक्तित्व का अन्त। आज नौजवानों को व्यक्तित्व के विकास की जो सम्भावनाएं सुलभ हैं, उनकी हम कल्पना तक नहीं कर सकते थे। पर मैं इस बारे में नहीं कह रहा हूं। मैं तो महज़ यह कहना चाहता हूं कि युद्ध के वर्षों के मेरे हमउम्रों में से एक भी ऐसा नहीं है, जिसके लिए मुझे शर्मिंदा होना पड़े। नहीं, एक भी नहीं। वे सब बहुत पहले से घर-परिवारवाले लोग हैं और लगभग सबके बच्चे वयस्क हो चुके हैं। हरेक अपने काम में जुटा हुआ है। और मुझे यह कहते हुए बहुत प्रसन्नता होती है कि उनका जीवन-पथ अत्यधिक मानव-गरिमावाले लोगों का पथ है। किसी को भी ले लें, मैं हरेक के बारे में यह यक़ीन के साथ कह सकता हूं। ताइसारियेव बन्धु — "हलवाहे" बाइतिक तथा ताइरीबेक — आज भी फ़ार्म पर काम कर रहे हैं: दोनों कम्युनिस्ट हैं और समुदाय में दोनों का सम्मान किया जाता है। बाइतिक तम्बाकू उत्पादकों की टोली के मुखिया हैं, जो जनतंत्र में प्रसिद्ध हैं। ताइरीबेक अच्छे किसान तथा पशुपालक हैं। मैं पाइज़बेक मोम्बेकोव की पहले ही चर्चा कर चुका हूं, वह तैंतीस वर्ष तक अध्यापक रहे। उनकी दो वर्ष पहले मृत्यु हुई। तोक्तोगुल उसुबालीयेव ने सहायक अकाउंटेंट के रूप में अपना जीवन-पथ शुरू किया था और सामूहिक फ़ार्म के अध्यक्ष के पद तक पहुंचे। अब वह पड़ोस में बाकाइर फ़ार्म के अध्यक्ष हैं। अब्दाली नूरालीयेव युवा कम्युनिस्ट संघ के भूतपूर्व संगठनकर्त्ता तथा

सामूहिक फ़ार्म के सक्रिय कार्यकर्त्ता हैं। तोक्तोगुल माम्बेत्कुलोव और बातीमा ओरोज़्मातोवा शेकेर में कई वर्षों से स्कूल में पढ़ाते आये हैं। नूरिया जोलोयेवा, ओरोज़्गुल उसुबालियेवा भी दूरवर्ती ज़िलों में अध्यापिकाएं हैं। अलीमसईत दोल्बेकोव पशु-चिकित्सक हैं और उन्हें अपने काम में कई वर्षों का अनुभव है। जापार्बेक दोसालियेव वन विभाग के कर्मचारी हैं। तुर्गुनबाई कज़ाक्बायेव 'रोस्सीया' सामूहिक फ़ार्म के अध्यक्ष हैं, जो जनतंत्र के सबसे बड़े फ़ार्मों में से एक है। उसके पास ६०,००० भेड़ें हैं। मिर्ज़ाबाई जोल्दोशेवा हमारे कीरोव ज़िले के एक और बड़े सामूहिक फ़ार्म में एकाउंटेंट हैं। गापार मेदेत्बेकोव नारीन ड्रामा थियेटर के प्रमुख अभिनेता हैं।

तो इस तरह बनी हमारी नियति। कठिन, बहुत कठिन, परन्तु निरुद्देश्य नहीं।

महान कज़ाख़ कवि अबाई ने कहा था कि जीवन समुद्र की गति है, जिसमें एक लहर के बाद दूसरी लहर आती है, "पूर्ववर्ती पीढ़ी" की लहर के स्थान पर दूसरी पीढ़ी की लहर आती है, उसके बाद तीसरी पीढ़ी और यह क्रम अनन्त रूप से चलता रहता है... और समुद्र जीवित रहता है।...

जब मैं युद्ध के वर्षों के बारे में सोचता हूं, तो मैं इस बात का क़ायल हो जाता हूं कि हमारे नैतिक विकास में प्रमुख भूमिका, निस्सन्देह, "पूर्ववर्ती लहर"—हमारी बुज़ुर्ग पीढ़ी ने, मोर्चे पर जानेवालों की पीढ़ी ने अदा की थी। इस बारे में मैं बहुत कुछ कह सकता हूं। निस्सन्देह, सभी पीढ़ियां परस्पर सम्बन्धित हैं। शान्तिपूर्ण जीवन में यह प्रक्रिया अनुभव तथा परम्पराओं के स्वाभाविक अनुक्रमण द्वारा होती है। युद्धकाल में परिवर्तन का चक्र बहुत तेज़ी से घूमता है। शाश्वत मनास पर्वत की तलहटी पर स्थित तथा पहाड़ों से घिरे हमारे छोटे शेकेर गांव ने अपने को एकाएक उस द्रुत आम घटना प्रवाह के बीच पाया, जो सारे संसार को झकोर रहा था। हमारे इलाक़े से लोग, जिन्हें मातृभूमि की रक्षा करने के लिए बुलाया गया था, मोर्चे की ओर लपके और निष्क्रमणार्थियों की लहरें हमारे यहां आ रही थीं। इस बीच पर्वतों के पार रेलगाड़ियां माइमाक रेलवे स्टेशन से, जो हमें शेकेर के सबसे नज़दीकी शहर जम्बूल के ज़रिये शेष संसार से जोड़ता था, रात-दिन पश्चिम और पूरब की ओर दौड़ती रहती थीं। यहां युद्धरत देश की तनी हुई नाड़ी की धड़कन अनुभव की जा सकती थी।...

हमारे प्रसिद्ध गायक तथा कवि मिर्ज़ाबाई उकुयेव पहले लोगों में से एक ऐसे व्यक्ति थे, जिसने अपने निजी अनुभव से हमें युद्ध, मोर्चे, टैंकों के साथ लड़ाइयों, बम-विस्फोटों, दावानल, लड़ते सैनिकों, अस्पतालों, सर्जनों, मौत और साहस के बारे में बताया था। उनकी काफ़ी पहले मृत्यु हो गयी, परन्तु उनके गीत मनास ज़िले में लोगों को आज भी याद हैं और वे आज भी गाये जाते हैं।

मिर्ज़ाबाई उकुयेव पहले घायल सैनिक थे, जिनका हम पूरे गांववालों ने हर्ष परन्तु घबराहट के साथ स्वागत किया था, इसलिए कि जब उन्हें घोड़ागाड़ी से नीचे उतारा गया, तो उन्हें बैसाखियां दी गयीं: उनका एक पैर नहीं था। ऐसा दृश्य हम किशोरों ने पहले कभी नहीं देखा था। लंगड़े, टेढ़े-मेढ़े पैरवाले लोग तो देखे थे, परन्तु बिना एक टांग का व्यक्ति पहले कभी नहीं देखा था। बहुत ही भयावह था वह दृश्य।...

कभी वह नौजवान, ख़ूबसूरत अध्यापक हुआ करते थे। उनके पास भूरे रंग का क़दमबाज़ घोड़ा था। उसे "मिर्ज़ाबाई का रहवाल घोड़ा" कहा जाता था। मिर्ज़ाबाई को कोमुज़ बाजा बजाते हुए गाना पसन्द था और वह स्वयं अपने गीतों की रचना करते। और वही इन्सान अब बिना एक पांव के सामने है, लंबे अर्से तक अस्पतालों में रहने और फ़ौजी गाड़ियों में लम्बी यात्रा के कारण चेहरा अस्वाभाविक रूप से पीला पड़ गया है, बैसाखियों के सहारे खड़ा है, अपने गांववासियों से घिरा हुआ है, मुस्करा रहा है, सबके साथ रो रहा है।

उस शाम को लोगों की बहुत भीड़ के सामने मिर्ज़ाबाई ने लड़ाई के गीत गाये, जिनकी उन्होंने अस्पताल में रचना की थी। हमारे लिए यह बहुत बड़ी घटना थी, आजीवन स्मरण रखूंगा उसे। हम सब युद्ध के बारे में गीतों तथा क़िस्सों को मंत्रमुग्ध होकर सुन रहे थे। लोग सांस रोके उन्हें सुन रहे थे और मन ही मन अपने प्रियजनों को याद कर रहे थे, जो मोर्चे पर थे। वे सुनते जाते और आंसू पोंछते जाते।... मिर्ज़ाबाई अपने बारे में, अपने साथी सैनिकों के बारे में गा रहे थे, परन्तु वह हममें से प्रत्येक के बारे में, पूरी जनता के बारे में भी गा रहे थे।

तत्क्षण तैयार मौखिक कविता का अनुवाद करना और उसे दुबारा कहना कठिन होता है, क्योंकि लोक कवियों तथा गायकों की कथाओं का अन्तर्य तो सुनाने की कला में, प्रस्तुति तथा रचना में सामंजस्य में निहित होता है। फिर भी मैं प्रयत्न करता हूं। हम विभिन्न जातियों के बेटे हैं—रूसी, कज़ाख, उज़्बेक, क़िर्गिज़; सेना में हम सगे-सम्बन्धियों

से भी अधिक नज़दीकी हो गये। हमारी एक मां—हमारा देश—है, जिसने हमें अपना उजला दूध पिलाया है। यदि हमारी मां मुसीबत में हो, तो हम बलिष्ठ कैसे अविचलित रह सकते हैं? जब सीधे ऊंचे पर्वत पर चढ़ते हैं, तो क्या वह हमारा सहारा नहीं होती, जब हम ऊंचे पर्वत से नीचे उतरते हैं, तो क्या वह हमारी आशा नहीं होती? आइये, अतीत के महान सेनानियों की भांति हम प्रतिज्ञा करें कि यदि हम मर जाते हैं, तो एक खेत में लेटे रहेंगे, यदि विजयी हो जाते हैं, तो हम एक पर्वत पर खड़े होंगे। यही हम वनों में एक-दूसरे से उस समय कहते, जब हम उन स्थानों के समीप पहुंचते, जहां हमें फ़ासिस्टों से लड़ना होता। हमारे पांवों के नीचे धरती किसी ज़बर्दस्त भूकम्प की तरह गड़गड़ाहट करती। ऊपर से बम गिर रहे होते, अपने भयंकर गर्जन से हमारी आत्माओं को शरीर से दूर फेंकते। और इस तरह हम लेनिनग्राद के पास समरभूमि में पहुंचे।...

यह उन्होंने अपने गांववासियों को अपने गीत में सुनाया। उनकी कथा में वह भाग हमारे लिए विशेष रूप से बहुमूल्य तथा मर्मस्पर्शी था, जिसमें बताया गया था कि सैनिकों की रेलगाड़ी, जो नोवोसिबीर्स्क से मोर्चे की ओर जा रही थी, स्पष्टतः अपना मार्ग बदलकर उस लाइन पर दौड़ रही थी, जो हमारे माइमाक रेलवेस्टेशन से गुज़रती है। पौ फटने पर वह स्टेशन पर अपनी रफ़्तार धीमी किये बिना ही माइमाक घाटी से, सुरंग से, तालास पर्वतमाला के साथ-साथ मनास पर्वत के सामने आगे बढ़ती गयी। और ज़ाहिर है, तभी उनके मन में वे शब्द जन्मे, जिन्होंने सीधे हमारे हृदयों को स्पर्श कर दिया और जो आज भी हमारे गांव में गाये जाते हैं। ये आला-तू पर्वतमाला के नाम एक बेटे के विदाई शब्द थे:

नज़र से ओझल हो गया आला-तू,
हिमाच्छादित शिखरों, शुद्ध जलधाराओं वाला आला-तू।
नज़र से ओझल हो गया हमारा मनास,
हिमधवल, पितृवत् पर्वत मनास।
विदा हिमाच्छादित आला-तू,
विदा पितृवत् पर्वत मनास,
कर कामना शत्रु पर अपने पुत्रों की विजय की।
दर्पण की भांति अपनी पुतलियों में
ले जाऊंगा आपको अपने साथ

हिमाच्छादित शिखरों, शुद्ध जलधाराओंवाला आला-तू,
हिमधवल, पितृवत् पर्वत मनास...

इस गाने को हम लोगों ने भेंट के समय अथवा विदाई के अवसरों पर न जाने कितनी बार गाया होगा! और ऐसे गीत बहुत-से थे।...

उसी जाड़े के मौसम में हमने १८ वर्षीय किशोरों को विदा किया। अभी हाल तक, लगता है, मानो हम लोग साथ-साथ खेलते थे। वे हमसे कुछ थोड़े बड़े थे, तो क्या हुआ, थे हम सामान्य दोस्त, साथी। आज ये लड़के मोर्चे पर जा रहे थे। उनमें मेरे रिश्तेदार और दोस्त जुमाबाई ओरुन्बेकोव था। बिल्कुल कम उम्र। वह पहले स्कूल में पढ़ता था, फिर सामूहिक फ़ार्म में काम करता रहा। इतनी ही थी उसकी सारी ज़िन्दगी, जिसे उसने मोर्चे पर न्योछावर कर दिया था। मुझे याद है, जब फ़ौज में भर्ती हुए लोग घोड़ागाड़ी में बैठे, तो उसने ही सबसे पहले यह गीत गाया था:

दर्पण की भांति अपनी पुतलियों में
ले जाऊंगा आपको अपने साथ
हिमाच्छादित शिखरों, शुद्ध जलधाराओंवाला आला-तू,
हिमधवल, पितृवत् पर्वत मनास...

वे गांव के रास्तों से गुज़रे। उन्हें विदा करने आये लोग उनकी घोड़ागाड़ी के साथ दौड़ रहे थे। केवल मिर्ज़ाबाई अपनी बैसाखियों पर अपनी जगह खड़े रहे, देर तक उनका विदाई गीत सुनते रहे।

मिर्ज़ाबाई को हमारे गांव से अत्यधिक आदर-सम्मान प्राप्त था, दुख हो या सुख, उनकी हमेशा ज़रूरत पड़ती थी, उनकी उपस्थिति की मांग की जाती थी। उनके विद्वत्तापूर्ण शब्द तथा गीत लोगों में आशा की ज्योति जगाते थे और उन्हें विजय में विश्वास करने, उसके लिए लड़ने का क़ायल करते थे।

गांव में छोटे से लेकर बड़े तक सब उन पर गर्व करते थे, उनकी मोर्चे की जीवनी से परिचित थे। हम उन सैनिकों के नाम जानते थे, जिनके साथ मिर्ज़ाबाई मोर्चे पर रहे, हम जानते थे कि वे कौन थे, कहां के थे, उनके कमांडर कौन थे, इसलिए कि मिर्ज़ाबाई ने युद्ध के बारे में गाये गीतों में इन सबके विषय में बताया था। हम जानते थे कि वह किस तरह घायल हुए और उन्हें किसने बचाया था।

यह घटना लेनिनग्राद के बाहर जंगल में हुई थी, या तो १९४१ की गर्मियों में अथवा पतझड़ के दिनों में। एक जगह, जहां लड़ाई हो रही थी, एक गोला फटा। मिर्ज़ाबाई को याद है कि उन्हें लगा कि किसी चीज़ ने उनके घुटने पर चोट की है। जब होश में आये, तो लड़ाई चल रही थी; वह अपने चारों ओर गोलाबारी और विस्फोटों की आवाज़ सुन रहे थे। उनके शरीर से बहुत ख़ून बह रहा था, वह निश्चेष्ट पड़े रहे, क्योंकि शरीर में हिलने-डुलने की ताक़त न थी, ज़िन्दगी को विदा भी देने लगे थे, जब एक सैनिक नर्स उनके पास आयी। रूसी लड़की थी वह, नाम तान्या था। गांव में उसका नाम तानिया पड़ा। बस, अगर उसे, हमारी तानिया को पता होता कि मिर्ज़ाबाई के गांववाले उसके कितने प्रशंसक थे, उसे कितना प्यार करते थे। अफ़सोस की बात है, हम यह कभी न जान पायेंगे कि वह कौन थी, क्योंकि मिर्ज़ाबाई उकुयेव जीवित नहीं हैं। उसने उनकी टांग पर पट्टी बांधी और उन्हें लड़ाई के मैदान से बाहर ले जाने में सफल रही। उसके बारे में मिर्ज़ाबाई ने अपने गीत में यह बताया:

कैसी होगी वह मां, जिसने दिया जन्म ऐसी किशोरी को,
जिसकी सहृदयता संसार में ढूंढ़े नहीं मिल सकती...
वह नारी है मेरे लिए अपनी मां से बढ़कर,
कैसा होगा वह पिता, जिसने पाला-पोसा ऐसी किशोरी को,
जिसका शौर्य-पराक्रम संसार में ढूंढ़े नहीं मिल सकता,—
ऐसा मनुष्य है मेरे लिए अपने पिता से बढ़कर...

ये पंक्तियां, स्वभावतया, केवल मोटा अनुवाद ही हैं। आख्यानात्मक काव्य को, जिसकी रचना कथावाचक अपने श्रोताओं के समक्ष ही करता है, काग़ज़ पर उतारने का प्रयत्न, शायद, करना ही नहीं चाहिए। ऐसा काव्य काग़ज़ पर उस फूल की तरह मुर्झा जाता है, जिसे पुस्तक के पन्नों के बीच सुखाया जाता है।

शेकेर के युद्धोत्तर नौजवान बहुत कुछ मिर्ज़ाबाई उकुयेव जैसे युद्ध में तपे-मंजे सैनिकों के ऋणी हैं। वह इस बात से बहुत परेशान हो गये थे कि हमें स्कूल छोड़ना पड़ा। १९४४ में, जब युद्ध दूर पश्चिम में हो रहा था, जब कार्य-परियोजनाओं के लोग और युद्ध से लौटे बहुत-से घायल भूतपूर्व सैनिक घर आये, तो मिर्ज़ाबाई ने हमसे स्कूल जाने का आग्रह किया। तब तक हममें से कुछ अपनी कक्षाओं को लौट गये थे। युद्ध

के बाद मैं पशु-चिकित्सा के व्यावसायिक विद्यालय में भर्ती हो गया। वे सचमुच कठोर, भुखमरी के दिन थे। एक दिन विद्यालय में इंटरवल के समय एक छात्र मुझसे बोला कि बैसाखी के सहारे चल रहा एक आदमी मुझसे मिलने आया है। मैं दौड़कर आंगन में पहुंचा, जहां मिर्ज़ाबाई खड़े मुस्करा रहे थे और अपनी मूंछें संवार रहे थे। कितना ख़ुश हुआ था मैं!

"मैं शहर काम से आया। सोचा, लगे हाथ तुमसे मिल लूं और देखूं कि तुम अपने विज्ञान में किस तरह पारंगत बन रहे हो।"

मैंने उन्हें यहां के जीवन तथा रहन-सहन के बारे में सब कुछ बताया। उन्हें तसल्ली हुई।

"चलो, बाहर चलें," उन्होंने कहा। "तुम्हारे लिए कुछ लाया हूं, घोड़ागाड़ी में रखा है।"

हम लोग फाटक तक गये।

"देखो, बात यह है," वह तब मुझसे बोले थे, "मुझे पता है कि यहां ज़िन्दगी बहुत मुश्किल है, बहुत मुश्किल है। परन्तु पढ़ाई छोड़ने की बात दिमाग़ में लाना तक मत। इसका हमें कोई अधिकार नहीं है। लड़ाई ख़त्म हो चुकी है। अगर हालत बहुत ही विकट हो जाती है, तो हमें बताना। हम गांव में कुछ सोचेंगे। तुम बस पढ़ते रहो।..."

हमारे गांव के कम्बाइन आपरेटर और पुराने कम्युनिस्ट तोइलुबाई उसुबालियेव मिर्ज़ाबाई उकुयेव की पीढ़ी के थे, उनके दोस्त थे। वह भी हम नौजवानों के गुरु थे। आज वह बुज़ुर्ग हैं, उनके कई नाती-पोते हैं। उनका बेटा साती तोइलुबायेव कोक-साई सामूहिक फ़ार्म की बहुत बढ़िया नस्ल की भेड़ों के गड़ेरिये हैं। साती के बच्चे भी एक के बाद बड़े होते जा रहे हैं। तोइलुबाई का उनके वंशज बहुत आदर-सम्मान करते हैं। फ़ासिज़्म पर विजय की ३०वीं वर्षगांठ की पूर्ववेला में मैं उनके परिवार की युवा पीढ़ी को याद दिलाना चाहता हूं कि तोइलुबाई युद्ध के दौरान उन विरल लोगों में से थे, जिन्हें उनके अनुनय-विनय के बाद भी मोर्चे पर नहीं भेजा गया था। कई सामूहिक फ़ार्मों के लिए वह अकेले कम्बाइन आपरेटर थे। मिस्तरी के रूप में उनकी योग्यता तो दंतकथाओं का विषय बन गयी है। किसी को भी यक़ीन नहीं होगा कि वह जो कुछ करते थे, वह सम्भव है। कोई भी उन मशीनों की मरम्मत करने का प्रयत्न तक न करता, जिन्हें वह ठीक कर देते: उसे अब तो बस रद्दी के ढेर में फेंक दिया जाता। परन्तु वह जीर्ण-शीर्ण हार्वेस्टर कम्बाइनों

में नया जीवन संचारित कर देते।... उनकी कम्बाइन के बारे में मैंने 'जमीला' में लिखा था। १९४४ के ग्रीष्मकाल में, फ़सल की कटाई के समय मैं उनका सहायक था। कम्बाइन काम करने लायक़ बना दिये जाते। हम लोग ज़रा भी आराम किये बिना चौबीसों घंटे काम करते। मोर्चे पर सैनिक इन्तज़ार नहीं कर सकते थे, फ़सलें इन्तज़ार नहीं कर सकती थीं।... वह मेरे जीवन का सबसे वीरतापूर्ण ग्रीष्मकाल था। उन दिनों को मैं कभी नहीं भुला पाऊंगा।...

अब मैं एक बार फिर गीत सुन रहा हूं। ज्यों-ज्यों गांव पास आता जा रहा है, मैं देखता हूं कि सड़क के किनारे घास हरी होने लगी है। भेड़ों के झुंड अपने मेमनों के साथ पहाड़ों पर चर रहे हैं। खेत दर्पण की तरह समतल हैं, कोई जाड़ों की फ़सल के लिए, तो कोई जोताई के लिए। ऊपर और खेत हैं, कोई जोताई के लिए, तो कोई जाड़ों की फ़सल के लिए।... पीछे छूट गया है जम्बूल, पुराना कारवांसराय आउलिए-अता, जो आज शहरीकरण की आधुनिक गति के तक़ाज़े के अनुसार निर्बाध रूप से बढ़ रहा है। इस स्थान से मेरे गांववासी विशेष रेलगाड़ियों से मोर्चे के लिए रवाना होते थे। और यहीं हम अपना अनाज लाया करते मोर्चे पर भेजने के लिए।... अपने आगे मैं मनास पर्वत का हिम देख रहा हूं।...

जम्बूल प्रादेशिक पार्टी कमेटी के प्रथम सचिव हसन बेक्तुर्गानोव ने, जो पहले मास्को की रक्षा करनेवाली एक स्की टुकड़ी के राजनीतिक प्रशिक्षक रह चुके थे, एक बार मुझसे कहा कि हर सैनिक के पास वीरगति पानेवाले अपने साथी सैनिकों का एक मरणोपरान्त कार्यभार होता है—इस तरह जिओ कि उनको, वीरगति प्राप्त करनेवालों को शुद्ध अन्त:करण से स्मरण किया जा सके।

यही बात हम अपने बारे में, युद्धकाल में लड़ाई के मोर्चे के पृष्ठभाग में काम करनेवाले अनगिनत लोगों के बारे में कह सकते हैं।

घोड़े पर सवार होकर गांव की ओर जाते समय और अपने स्वदेशी मनास-अता पर्वत को देखते समय मैं यही सोच रहा था।

# मैत्री तथा मानवीयता का गुणगान *

इस वर्ष की वसन्त ऋतु मेरे लिए आनन्ददायी घटना थी—मेरा लघु उपन्यास 'जमीला' फ़्रांस में प्रकाशित हुआ। 'नूवेल दे मोस्कू' साप्ताहिक ने मुझसे अपने बारे में चन्द पंक्तियां लिखने के लिए कहा। पर यह कहने से पहले मैं इस सुअवसर का लाभ उठाते हुए लुई आरागों का, जो हमारे बहुत बड़े मित्र तथा आधुनिक फ़्रांस के प्रमुख लेखकों में से एक हैं, हार्दिक धन्यवाद देना चाहता हूं, जिन्होंने मेरे लघु उपन्यास का अनुवाद किया और उसके लिए इतनी भावभीनी भूमिका लिखी। मैं इसके साथ ही एल्सा त्रिओले, आन्द्रे व्यूर्म्सेर तथा अन्य मित्रों को भी उनके स्नेहपूर्ण पत्रों के लिए धन्यवाद देना चाहता हूं और समस्त फ़्रांसीसी लेखकों का बिरादराना अभिवादन करता हूं।

फ़्रांस में 'जमीला' के प्रकाशन ने क़िर्ग़िज़िया पर बहुत प्रभाव डाला। इसका प्रमाण अख़बारों के लेख तथा पाठकों के पत्र हैं। अब मज़ाक़ में इसे "फ़्रांसीसी जमीला" कहा जाता है। यह वैसे तो बहुत उल्लेखनीय तथ्य प्रतीत न होता, परन्तु उसने मैत्री तथा विश्वास के वातावरण में अपना मामूली योगदान किया है। हम अब अपने को फ़्रांसीसियों के कुछ निकट अनुभव करते हैं। हमारे पास साहित्य के क्षेत्र में सहयोग का एक नया आधार उजागर हुआ है।

इस प्रसंग में मैं उस भूमिका के बारे में चन्द शब्द—हालांकि वे सर्वविदित हैं—कहना चाहूंगा, जो साहित्य एक-दूसरे के समीप आने के तरीक़ों की खोज करनेवाले, शान्ति तथा प्रगति के लिए लड़ रहे जनगण के आधुनिक जीवन में अदा कर सकता है। जब 'जमीला' का फ़्रांसीसी भाषा में अनुवाद हुआ, मैंने इसे केवल सौभाग्यपूर्ण संयोग माना था, परन्तु अन्य देशों और सोवियत संघ की पत्र-पत्रिकाओं में उसकी समीक्षाओं तथा इस तथ्य ने कि उसका अन्य भाषाओं में अनुवाद हो रहा

* 'सोवेत्स्काया क़िर्ग़िज़िया', २७ सितम्बर १९५९।

है, मुझे इस बात का क़ायल कर दिया कि यह महज़ संयोग न था। आज के विश्व का, मेरा तात्पर्य है सद्भावनाएं रखनेवाली शक्तियों का परस्पर समझदारी की ओर, परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान की ओर अरोध्य झुकाव है। यह तात्कालिक तथा जीवन्त आवश्यकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती और हमारे युग का उल्लेखनीय लक्षण बनती जा रही है। मैत्रीपूर्वक तथा सम्मानपूर्वक रह सकने के लिए इस बारे में अधिक और बेहतर जानना आवश्यक है कि पड़ोसी अपने घर में कैसे रहता है, उसकी अभिलाषाएं, आचार सम्बन्धी दृष्टिकोण, नैतिकताएं, रस्म-रिवाज क्या हैं। यह आवश्यक है कि सर्वोत्तम उपलब्धियों तथा अनुभव में हाथ बंटाया जाये। इस मामले में पुस्तकें सशक्त साधन हैं।

सोवियत साहित्य ने अपने पहले पग उठाने के साथ ही लोगों के हृदय तथा मन में मानवीयता, भलाई तथा मनुष्य में विश्वास की भावनाओं का समावेश किया। जो जीवन में सुन्दर तथा उदात्त है, उसका सोवियत साहित्य ने गुणगान किया और वह सामाजिक न्याय का सबसे उत्कट समर्थक रहा है। यह गुण जनता की अविभाज्य सेवा के स्वरूप में ही निहित है। ठीक इसी गुण के कारण सोवियत साहित्य ने अपने सर्वोत्तम प्रतिनिधियों के रूप में संसारभर के पाठकों से मान्यता प्राप्त की।

हमारी विभिन्न जातियों का साहित्य अब अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर प्रवेश कर रहा है। क़िर्ग़िज़ जाति के साहित्य का जन्म केवल १९१७ की महान अक्तूबर क्रान्ति के बाद ही हुआ। हम अभी से गर्वपूर्वक कह सकते हैं कि अआली तोकोम्बायेव, तुगेलबाई सिद्दीकबेकोव तथा कासिमअली बायालिनोव की सर्वोत्तम कृतियों का बहुत-से देशों में, बहुत-सी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। क़िर्ग़िज़ साहित्य का विकास जारी है। हमारे पास कहने के लिए कुछ है, हमारे पास अपनी पुस्तकों में दूसरी जातियों के साथ हाथ बंटाने के लिए कुछ है।

दूसरे देशों के पूर्वाग्रहभरे पत्रकार, जो सोवियत संघ आते हैं, मध्य एशियाई जनतंत्रों में जीवन के सर्वोत्तम पहलुओं का जानबूझकर विकृत चित्र प्रस्तुत करते हैं। यह ज़्यादा अच्छा होगा, अगर विदेशों से आनेवाले लोगों को मध्य एशिया के लेखकों की पुस्तकें पढ़ने का ज़्यादा मौक़ा मिले। मेरे विचार में पश्चिम में पाठकों की उमेतालियेव, मालिकोव, अब्दुमोमुनोव, एरालियेव, बाइतेमिरोव, बेइशेनालियेव, आदि जैसे लेखकों की कृतियों में, निस्सन्देह, दिलचस्पी होगी, जिनकी पुस्तकें हमारे देश में बहुत लोकप्रिय हैं।

लोगों को इन पुस्तकों में हमारी जनता की आत्मा, उसकी रचनात्मक शक्ति को देखने दीजिये, जिसने विराट परिवर्तन सम्पन्न किये हैं। लोगों को हमारे पर्वतीय प्रदेशों तथा मैदानों के गीत, स्वतंत्रता, प्यार, नये जीवन के निर्माण में उल्लास तथा विजयों के बारे में गीत सुनने दें।

संस्कृति तथा कला में, जो एक दूसरे के प्रति अच्छी भावनाएं पोसती हैं और मैत्री तथा मानवीयता को बढ़ावा देती हैं, पारस्परिक रुचि, निस्सन्देह, अपने फल देती है।

यदि 'जमीला' के पाठकों को उसमें इन विचारों की प्रतिध्वनि मिले, यदि वे जमीला और दानियार से प्यार करने लगें, जिनके लिए सुख अपने ज़मीन पर रहने और काम करने, उससे उसी तरह प्यार करने में निहित था, जिस तरह वे एक-दूसरे से प्यार करते थे, तो मुझे बहुत प्रसन्नता होगी।

लोग अक्सर मुझसे पूछते हैं कि जमीला और दानियार किनके प्ररूप हैं। ऐसे प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन है। वे जीवित, सचमुच के लोग थे, जिनके साथ मैंने सामूहिक फ़ार्म में काम किया और मेरे लिए वे स्वयं जीवन में विद्यमान हैं। उनसे मैं रोज़ टकराता हूं।

मेरी आंखों के सामने नयी जमीलाएं और दानियार बड़े हो रहे हैं।... वे बहुत सुन्दर लोग हैं, जिन्हें मैं सर्वोत्तम, सर्वाधिक उज्ज्वल पृष्ठ अर्पित करना चाहता हूं।

# बहुत कुछ आप पर निर्भर करता है...*

## जर्मन जनवादी जनतंत्र के स्कूली बच्चों के नाम खुली चिट्ठी

प्यारे बच्चो,

आप लोगों से एक ही पैकेट में २२ चिट्ठियां पाने पर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई, हालांकि, जैसा कि आप लोगों ने स्वयं अनुमान लगा लिया होगा, मुझे कुछ चिन्ता भी हुई। सारी चिट्ठियों का उत्तर देना इतना सादा काम नहीं है। इसलिए मैं आप सब लोगों के लिए एक ही चिट्ठी लिख रहा हूं।

मुझे यह जानकर, निस्सन्देह, प्रसन्नता हुई है कि 'ऊंट की आंख'** रचना जर्मन स्कूलों की पाठ्य-पुस्तक में शामिल की गयी है, मुझे प्रसन्नता है कि यह आपको क़िर्ग़िज़ जनता का जीवन जानने में कुछ हद तक मदद देगी। मुझे रचना के विषय में आपकी सद्भावनापूर्ण राय सुनकर प्रसन्नता हुई है। परन्तु मैंने सबसे ज़्यादा क़द्र उन बातों की है, जो आप लोगों ने अपने बारे में, अपने जीवन के बारे में और, जैसा कि आप अपनी चिट्ठियों में लिखते हैं, इस बारे में कही हैं कि "...हम क्या सोचते हैं और हम जीवन में क्या चाहते हैं"।

सचमुच, "...हम क्या सोचते हैं और क्या चाहते हैं"? हर नयी पीढ़ी इस शाश्वत प्रश्न के साथ जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करती है।

जहां तक मैं समझा हूं, आपमें से हरेक अपने परिवेश में कुछ न कुछ विशेष रूप से दिलचस्प पा लेता है और अपनी शक्ति तथा योग्यता अपने चुने हुए कार्यक्षेत्र को अर्पित करने के लिए इच्छुक है।

बाईस व्यक्ति, बाईस चरित्र, इस विषय में बाईस मत कि समाज के लिए सबसे अधिक उपयोगी कैसे बना जाये, सुख क्या है, अच्छे जीवन का क्या अर्थ है (बढ़िया वस्त्र पहनना, फूल उगाना, बाग़बानी

---

* 'कोम्सोमोलेत्स क़िर्ग़िज़िई', २० जनवरी १९६८।

** १९५६ में लिखित।

करना, प्रकृति से प्यार करना, खेलों में भाग लेना—देह की देखभाल, आदि)—यह सब मेरे लिए एक का समर्थन करना और दूसरे से असहमत होना सम्भव नहीं बनाता। परन्तु बड़ी बात यह है कि ये सब आकांक्षाएं स्वाभाविक हैं। ज़ाहिर है, आपमें से सब अपने-अपने ढंग से सही हैं। इन मतभेदों का कुल योग आज के मनुष्य की नाना पहलुओंवाली अपेक्षाएं व्यक्त करता है।

परन्तु चिट्ठियों में ऐसे कथन हैं, जिन्होंने मुझे गहन रूप से उद्वेलित किया है और ज़िनसे मैं पूरी तरह सहमत हूं।

आप लिखते हैं: "इस समय हमारी उम्र उतनी है, जितनी आपकी उस समय थी, जब हिटलरी जर्मनी ने सोवियत जनता की मातृभूमि पर आक्रमण किया था।" जी हां, सही बात है, उन दिनों मैं स्कूल में पढ़ रहा था। शायद आप लोगों के लिए यह कल्पना करना कठिन होगा कि यह मौत बरपानेवाला कैसा युद्ध था, उसमें जर्मनी में फ़ासिस्ट व्यवस्था को ध्वस्त करने के लिए सोवियत जनों को कितने भगीरथ प्रयास करने पड़े और क़ुर्बानियां देनी पड़ीं। शत्रु के प्रति हमारी घृणा इतनी अधिक थी कि अपने बालसुलभ भोलेपन के कारण हमारी पूरी कक्षा ने जर्मन भाषा सीखने से इन्कार कर दिया था। क्या मैं यह सोच भी सकता था कि कई वर्षों के बाद मैं जर्मन किशोरों से ऐसा पत्र पाऊंगा, जिसमें ये शब्द होंगे: "हम स्वतंत्रता तथा शान्ति के लिए आपके देश को धन्यवाद देते हैं।..."

आपके लिए और हमारे लिए यह बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें उस महानतम मानव संघर्ष के परिणाम का महत्व निहित है, जिसने विश्व शान्ति, जनगण के लिए स्वतंत्रता तथा सुख प्रदान किया। हमारे पिताओं तथा भाइयों ने, विजेताओं ने, इसके लिए शक्तिभर सब कुछ किया। तबसे २३ वर्ष बीत चुके हैं, नयी पीढ़ियों का उदय हुआ है। अब आप लोगों का वह समय आ गया है, जब बहुत कुछ आपके चिन्तन के ढंग, आपके काम करने के ढंग और साथ ही अन्य देशों में आपके हमउम्रों के चिन्तन के ढंग, काम करने के ढंग पर निर्भर करेगा।

आपकी चिट्ठियां पढ़ते हुए मैंने नूतन जर्मनी के, समाजवादी जर्मनी के साक्षात दर्शन किये। आपकी चिट्ठियां पढ़ते हुए मैंने अपने को यह सोचते पाया कि ऐसी कोई ताक़त नहीं है, जो हमारी मैत्री को, हमारी समाजवादी संघबद्धता के बंधनों को तोड़ सके। मैं इस बारे में सोचता हूं कि जनगण के लिए शान्ति तथा सहमति का रास्ता ढूंढ़ पाना कितना

कठिन है, इस खातिर हमने कितने बलिदान किये (एडेल्टूआड ने अपनी चिट्ठी में लिखा है: "जब मेरे पिता जी छत से गिरे थे, तो मैंने अनुभव किया कि पिता के होने का अर्थ क्या है और उसे खोने का क्या अर्थ है ..." हमारे देशों में ऐसी क्षति की पीड़ा लाखों-करोड़ों ने झेली। ...) इसी कारण हर ईमानदार इन्सान का यह कर्त्तव्य है कि वह प्राप्त शान्ति की, हमारी मैत्री की तथा समाजवाद के आदर्शों के प्रति वफ़ादारी की अपनी आंखों की पुतलियों की भांति रक्षा करे।

मैं वियतनाम में नाना वर्षों की रक्तपातपूर्ण घटनाओं के बारे में आपकी चिन्ता को समझता हूं।* आप लोगों की आत्माएं निर्मल हैं और अपने देश की स्वतंत्रता की वीरतापूर्वक रक्षा कर रहे शान्तिप्रिय निवासियों की अपराधपूर्ण और अमानवीय हत्याओं के प्रति आप तीक्ष्णतापूर्वक संवेदनशील हैं। आप लोगों ने रूसी भाषा में लाल स्याही से लिखा है: "वियतनाम में युद्ध का ख़ात्मा करो!" यह मानवजाति के अन्तःकरण तथा विवेक से हमारी संयुक्त अपील है, यह अमरीकी हमलावरों से हमारी मांग है।

मान्फ़्रेड ने लिखा है कि १९५८ में वह अपने पिता के साथ वियतनाम में रहते थे, जहां उनके पिता जलयानों का निर्माण करते थे। वहां सब कुछ पर बमबारी हो चुकी है, जहाज़-घाट नष्ट कर दिया गया है। "क्या जहाज़-घाट का पुनर्निर्माण करने, जहाज़ों की मरम्मत करने में बहुत समय लगेगा?" उसने पूछा है।

अगर केवल जहाज़-घाट और कुछ जलयान ही नष्ट हुए होते! वियतनाम में अमरीकी सेनाओं के अपराध हमारे ज़माने के इतिहास में बेमिसाल हैं; वे तो मानवजाति के विरुद्ध शाश्वत रूप से जघन्य फ़ासिस्टों के अपराधों की तरह के हैं।

संसार में हर बुराई का देर-सबेर अन्त होता है। वियतनाम में अमरीकी युद्ध का भी अन्त होगा। इसकी गारंटी है वियतनामी जनता का निर्भीकतापूर्ण संकल्प, पृथ्वी पर न्याय तथा शान्ति के लिए लालायित तमाम देशों तथा लोगों की वियतनाम के साथ स्थायी एकजुटता तथा उसकी सहायता।

मेरे प्यारे दोस्तो, हम विनाश की शक्तियों तथा नये जीवन का निर्माण कर रही शक्तियों के बीच तनावभरे संघर्ष के जटिल समय

---

* वियतनाम युद्ध (१९६४-१९७३)।

में रह रहे हैं। प्रगतिशील शक्तियों की विजय को अन्य सबके अलावा आत्मा के वे उदात्त संवेग सहायता पहुंचाते हैं, जो आपकी चिट्ठियों में दिखायी देते हैं। इन्हें पोषित करते रहें।

आपकी चिट्ठियां पढ़ने के बाद मेरे मन में ये विचार उठे और मैंने उन्हें आपको एक खुली चिट्ठी में बताने की आवश्यकता अनुभव की।

विदा। जहां तक आपके पास आने का सम्बन्ध है, मैं जब भी जर्मन जनवादी जनतंत्र जाऊंगा, पहला अवसर मिलते ही मैं आपके स्कूल में आने का प्रयत्न करूंगा। साहित्य के आपके अध्यापक को मेरा हार्दिक अभिवादन।

# मिलन-बिन्दु *

## समालोचक वीक्तोर लेवचेंको के साथ संवाद

**वी० ले०:** तब से तीस वर्ष से अधिक समय बीत चुका है, जब द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हुआ था, परन्तु आज के लेखकों की पुस्तकों में युद्ध की आग अब भी धधक रही है, तोपों का गर्जन-तर्जन बंद नहीं हुआ है। आपका नवीनतम उपन्यास 'जब पहले सारस आये' भी युद्ध को अर्पित है। आप इस विषय की ओर फिर क्यों लौटे हैं? क्या आपका यह चयन समकालीन समस्याओं का भी तक़ाज़ा था?

**चं० आ०:** समकालीन पाठक को, निस्सन्देह, बहुत अक्सर युद्ध के विषय में कलात्मक, डाकुमेंटरी, ऐतिहासिक कृतियां उपलब्ध होती रहती हैं। इसके अलावा इस विषय को टेलीविजन, रंगमंच पर भी देखा जा सकता है। समकालीन कला के क्षेत्र में युद्ध के विषय का भाग बहुत बड़ा है। बेशक, मनुष्य केवल युद्ध के संस्मरणों के सहारे जीवित नहीं रहता। लेकिन मानवजाति ने चूंकि *भूमंडलीय* ढंग से चिन्तन करने का तरीक़ा अभी नहीं अपनाया है, चूंकि हरेक दूसरे के बारे में अभी तक उतनी चिन्ता नहीं करता, जितनी अपने बारे में करता है, यह नहीं समझना चाहता कि दूसरे भी मौत से डरते हैं, दुख-कष्ट झेलते हैं और साथ ही जीवन से प्यार करते हैं, चूंकि संसार में सामाजिक विकास में अन्तर्विरोध तथा मुक़ाबलेबाज़ी की शक्तियां आज भी मौजूद हैं, जिनका समाधान सैनिक साधनों से किये जाने का ख़तरा मौजूद है, इसलिए युद्ध का विषय अपने भयावह अनुभव के अर्थ में आज भी एक सबसे जीवन्त, सबसे आकर्षक, एक सबसे अधिक, मैं तो कहूंगा, "रोगनिरोधी" विषय बना हुआ है (यदि कृति, निस्सन्देह, मानवतावादी स्थिति से लिखी गयी हो)।

युद्ध का ख़तरा आज भी मौजूद है।

---

* 'वोप्रोसी लितेरातूरी', अंक ८, १९७६।

जो कुछ मैंने कहा है, उसकी रोशनी में मेरे इस लघु उपन्यास को, यक़ीनन, *मनुष्य तथा युद्ध* के विषय में लिखी गयी कृतियों के बीच रखा जा सकता है। ज़ाहिर है, इस विषय का नाना पहलुओं से विश्लेषण किया जा सकता है: मोर्चे पर, उसके पृष्ठभाग में, छापामार दस्तों में मनुष्य। इधर शत्रु के इलाक़े में गुप्तचर एजेंटों के बारे में कहानियां विशेष रूप से लोकप्रिय हुई हैं।

अपने लघु उपन्यास में मैं उन लोगों के बजाय, जिनका युद्ध से *सीधे* टकराव हुआ था, — इस बारे में तो मुझसे पहले बहुत-से लोग लिख चुके हैं — उन्हें दिखाना चाहता था, जिनका उससे *परोक्ष* रूप से टकराव हुआ था। एक उदाहरण है 'धरती माता'।* युद्ध कहीं दूर शुरू हुआ था, परन्तु तोल्गोनाई के भाग्य में वह गेहूं के खेत में प्रकट हुआ।

**वी० ले० :** प्रसंगत:, यही बात 'जमीला'** में भी है। यह प्यार की कहानी है, परन्तु उसमें हम युद्ध को कितने तीक्ष्ण रूप में अनुभव करते हैं: "जहां भी लोगों ने युद्ध की ओर कूच किया, वे अपने पीछे कड़ुवाहटभरी राहें छोड़ गये।"

'आमने-सामने'*** लघु उपन्यास में वास्तविक युद्ध चल रहा है। हमें अभी यह पता नहीं है कि आगे क्या होगा, हम केवल पहले वाक्यों में इस बारे में पढ़ते हैं कि कैसे गज़ की तरह सीधे खड़े, सुडौल पोप्लर वृक्षों की पत्तियां झड़ रही हैं और हम आसन्न घटनाओं के बारे में आशंकित होने लगे हैं।

**चं० आ० :** यह कहना तो महज़ एक क़िर्ग़िज़ उपमा है: गज़ की तरह सुडौल। यह मेरी ईजाद नहीं है। शायद, यह विचार-साहचर्य को जन्म देता है, परन्तु ऐसा सचमुच संयोगवश हुआ, पहले से सोची-समझी गयी बात नहीं थी। परन्तु यह महत्वपूर्ण नहीं है। युद्ध का *प्रभाव* 'जमीला' में और मेरी दूसरी बहुत-सी कृतियों में सचमुच विद्यमान है। मुझे लगता है कि ऐसा रुख़ इस समय सम्पूर्ण विश्व साहित्य के लिए सबसे अधिक फलप्रद तथा रोचक है, ताकि हम युद्ध के इतने वर्षों के बाद भी मानव-अनुभव को ठीक इसी परोक्ष ढंग से समझ सकें। लड़ाइयां तो लड़ाइयां ही हैं। वे सदा-सर्वदा अगली क़तार में रहेंगी। परन्तु, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, नाना पहलू हैं।

---

* १९६३ में प्रकाशित।

** १९५८ में प्रकाशित।

*** १९६० में प्रकाशित।

मैं अपनी बात सटीक ढंग से पेश करने का प्रयत्न करूंगा। यदि सचेतन रूप से नहीं, तो असचेतन रूप से मैं एक मनुष्य के बारे में, एक किशोर के बारे में, इस बारे में कहना चाहता था कि उसके जीवन का युद्ध से कैसे टकराव हुआ। वह समाज का अंग है, जिसका अर्थ यह है कि वह उसके कुछ भार को वहन करता है। यह है पहली चीज़। दूसरी चीज़ यह है कि मेरा लक्ष्य अधिक व्यापक, यह दिखाना था कि युद्ध चाहे कितना ही विनाशकारी क्यों न हो, वह मनुष्य को नष्ट नहीं कर सकता। युद्ध आदतें, जीवन-पद्धति, लोगों के बीच सम्बन्ध बदलता है, भौतिक अभाव लाता है। युद्ध लोगों को कठोर बना सकता है, उन्हें केवल अपने लिए लड़ने के लिए मजबूर कर सकता है। यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है, तो क्रूरता की शक्तियां अपना निकृष्टतम रूप धारण कर लेती हैं। परन्तु ठीक इसी कारण तब युद्ध के स्वरूप के बावजूद और युद्ध की विनाशकारी शक्ति को चुनौती के रूप में मानव-आत्मा पल्लवित होती है। उसमें जो सर्वोत्तम है, उसे तथा अपनी रक्षाकारी शक्ति को आगे बढ़ाती है, ताकि बुराई का अन्त किया जा सके।

अब, प्रसंगत:, क्रूरता की समस्या को अन्य देशों की कलाओं में केन्द्रीय स्थानों में से एक प्राप्त है (विशेष रूप से फ़िल्म-निर्माण तथा रंगमंच के क्षेत्र में)। वह एक ऐसा प्रवर्ग है, जिसका सबसे अधिक दोहन किया गया है। हमारी सहजवृत्तियों के साथ खेलने का प्रयत्न करते हुए "भीड़ कला" अक्सर शारीरिक क्रूरता का पुनर्सृजन करती है—हिंसा, क़त्ल, पीड़ा, रक्त... यह सदैव उद्वेग, भय पैदा करती है, यह लोगों की आत्मा पर असर डालने का विश्वसनीय साधन और कला को एक तरह का सम्मोहनकारी, अंधा बना देनेवाला कारक बनाने का प्रयत्न है। केवल घासलेटी साहित्य ही इन सहजवृत्तियों के साथ खेलने का प्रयत्न नहीं करता। बड़े-बड़े लेखक भी क्रूरता का चित्रण करते हैं। परन्तु शारीरिक अर्थ में नहीं। वे अधिक जटिल क्रूरता का चित्रण करते हैं, जो मनुष्य की अन्त:प्रेरणा, इस या उस परिवेश के नियमों अथवा व्यक्ति की मनोदशा पर आधारित होती है। ऐसे सिद्धान्त प्रकट हुए हैं, जो इस विचार का औचित्य सिद्ध करते हैं कि बुराई तो मनुष्य की प्रकृति में आनुवंशिक अभिव्यक्ति होती है।

परन्तु मेरा विचार है कि कला का सामान्य मानव-जीवन से आविर्भाव होना चाहिए। मैं सामान्य कला के पक्ष में हूं, उन्मादपूर्ण कला के नहीं। मनुष्य के सुन्दर गुण इस बात पर निर्भर करते हैं

कि वह *किस हद तक* मनुष्य है। यही मैं दर्शाने का प्रयत्न करता हूं।

मैं अपने सुल्तानमुरात पात्र को भिन्न रूप में प्रस्तुत कर सकता था: चटकीले ढंग से यह दर्शा सकता था कि वह कैसे हिंसात्मक तरीक़े से न्याय हासिल करता है, कैसे घोड़े चुरानेवालों को ठिकाने लगाता है या इसके विपरीत, वह कैसे हिंसा का शिकार बन जाता है। परन्तु मेरा लक्ष्य तो भिन्न था—उन गुणों को उजागर करना, जो मनुष्य की सच्ची और सामान्य प्रकृति को प्रकट करते हैं। यह कार्यभार अधिक कठिन था। बुराई के विरुद्ध अच्छाई का संघर्ष दर्शाना आसान काम नहीं है।

**वी० ले०:** पर यह क़तई अनिवार्य नहीं है कि बुराई के विरुद्ध संघर्ष में क्रूरता दर्शाने से कतराया जाये।

**चं० आ०:** यह सच है, अगर शारीरिक शक्ति की सहायता से की जानेवाली क्रूरता को वर्जित किया जाये। स्वयं दैनंदिन जीवन में क्रूरता हज़ारों रूपों में अभिव्यक्त होती रहती है। इन अभिव्यक्तियों को देखने के लिए साहस तथा योग्यता की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के लिए, एक इन्सान बिल्कुल सामान्य हो सकता है, परन्तु उसकी आत्मा की गहराई में कहीं क्रूरता छुपी होती है। संकटमय स्थिति में वह किस तरह पेश आयेगा? उसमें विजय बुराई या अच्छाई की होगी? किस तरह का इन्सान है वह—अच्छा या बुरा? एक हद तक नेक? मेरे लिए छुपी हुई, अन्तर्निहित क्रूरता लड़ाई और क़त्ल से अधिक दिलचस्प है। हालांकि—और मैं दुहराता हूं—मैं इसका विवेचन नहीं कर रहा हूं। मैं तो मनुष्य में उन *मानवीय* शक्तियों के आरक्षित भंडार को दर्शाने का प्रयत्न करता हूं, जो बुराई के विरुद्ध लड़ती हैं।

अब इस बारे में कुछ तफ़सील से कहूंगा कि क्या मेरा चयन समकालीन समस्याओं का तक़ाज़ा है। निस्सन्देह, उनका तक़ाज़ा है। शान्तिकाल में भी मानवजाति क्रूरता से टकराती है, हालांकि यह टकराव प्रचंड लड़ाइयों में नहीं, अपितु रोज़मर्रा के, शान्तिपूर्ण कामों में होता है। समाज जितना ज़्यादा अमीर होता है, जितना ज़्यादा वह तृप्त होता है, उतने ही ज़्यादा लोगों को तृप्ति तथा समृद्धि की परीक्षा से गुज़रना पड़ता है। अक्सर, जब लोग प्राचुर्य में कोई अर्थ नहीं देखते, तो वह उन्हें क्रूर बना देता है। यह पश्चिमी समाज में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। हमारे देश में भी, दुर्भाग्यवश, हम लोगों की क्रूरता के मामले, वस्तु-पूजा के मामले कम नहीं हैं।

आज मैं शहर के बाहर घूम रहा था, देखता हूं कि सड़क के किनारे दो बिल्कुल नयी, लाल रंग की 'जिगुली' कारें खड़ी हैं, जिनके आगे चन्द युवाजन बड़े घमंड के साथ, यही नहीं, चेहरों पर चुनौतीभरे भाव लिये हुए (मानो याददाश्त के लिए अपने फ़ोटो खिंचवाना चाहते हों) शान से खड़े हैं, शोख़ पोशाकें पहने हुए हैं, सिगरेट पी रहे हैं, धुआं आकाश की ओर उड़ा रहे हैं और राहगीरों को लगभग हिक़ारतभरी नज़र से देख रहे हैं। कोई बात नहीं, मैंने सोचा, यदि वे अपनी कारों से सम्मोहित नहीं हैं: "मैंने अपनी कार इतने किलोमीटर चलायी।... उसमें मैंने ऐसे-ऐसे यंत्र बिठाये हैं।..." शायद वे इस बारे में शेखी न बघार रहे हों कि वे कार-मालिक हैं, कि यह चीज़ उन्हें लोगों के झुंड से अलग करती है। लेकिन अगर उनकी अन्य, ज़्यादा महत्वपूर्ण दिलचस्पियां नहीं हैं, अगर वे अपनी 'जिगुलियों' के केवल उपांग हैं, तो यह बुरी बात है। इन लोगों पर अफ़सोस होता है, लेकिन वे वहां इतने आत्म-तृप्त भाव से खड़े हैं: "देखा, हम भी कुछ हैं, इसे कहते हैं सफलता।" लेकिन उनकी अगर दूसरी दिलचस्पियां हैं, यदि वे एक-दूसरे को बौद्धिक तथा आत्मिक दृष्टि से समृद्ध बनाते हैं, यदि उनके मुंह और आंखों पर, जैसी कि क़िर्गिज़ कहावत है—चर्बी नहीं चढ़ी हुई है, तो, निस्सन्देह, आज सुबह कारों के मामले में जो दृश्य मैंने देखा, उसमें कुछ भी भयावह न होता।

**वी० ले० :** शुद्धाचारवाद तथा आत्मिकता के बीच सम्बन्ध, निस्सन्देह, इतना सरल नहीं है। ऐसी सूरत में यह और भी अधिक महत्वपूर्ण है कि मनुष्य तृप्ति की परीक्षा से गुज़रे। हालांकि, बेशक, मसला कार का नहीं, अपितु उसके प्रति दृष्टिकोण का है।

**चं० आ० :** कार के प्रति वैसा ही रुख़ अपनाया जाना चाहिए, जैसा कि अपने कोट के बटन के प्रति अपनाया जाता है। यह समझना ज़रूरी है कि कार वह नहीं है, जिसकी ख़ातिर मनुष्य को इस विशाल जगत में जीना चाहिए।

वह *समृद्धि*, जो लोगों को *समाजवादी* समाज में व्यक्ति के रूप में विकसित होने में सहायक होती है, ऐसी है, जिसकी ख़ातिर हम श्रम करते हैं। परन्तु मनुष्य यदि भौतिक ख़ुशहाली को अस्तित्व का ध्येय मानता है, यदि वह वस्तुओं के प्रति अपने मोह को क़ाबू में नहीं रख पाता, तो यह पतन की ओर ले जाता है। ऐसा मनुष्य अपना सार खो बैठता है।

इसलिए 'जब पहले सारस आये' में (निस्सन्देह, उन पाठकों

के लिए, जो इस उपन्यासिका को प्यार करते हैं) मैं उन आत्मिक गुणों के बारे में कहना चाहता था, जो सदैव, भयावह काल में तो और भी अधिक, सुन्दर होते हैं।

**वी० ले०:** और जो मनुष्य को भयावह काल में भी सुखी बना सकते हैं?

**चं० आ०:** इस सुख को समझना आवश्यक है। मेरा विचार है कि मोर्चों पर, जहां लोग मौत का सामना कर रहे थे, मानव-सुख के क्षण भी आते थे। सैनिकों ने शत्रु से केवल बेनाम शिखर ही नहीं छीने, अपितु वे मानवात्मा की बुलंदियों पर भी पहुंचे।

**वी० ले०:** हम यह बात सशर्त ही कहेंगे कि 'जब पहले सारस आये' कृति युद्ध को अर्पित है: यह कहना ज़्यादा सही होगा कि वह युद्ध के वर्षों की वे छापें लिये हुए हैं, जो आपके युवाकाल में आपके मन पर पड़ी थीं। चूंकि बचपन और युवाकाल की ऐसी छापें सृजन-कार्यों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं, इसलिए मैं आपसे इस सम्बन्ध में पूछना चाहता हूं: क्या ये छापें ही इस बात का कारण नहीं हैं कि संसारभर की यात्रा करने के बाद भी आप आत्मा से अपनी जन्मभूमि शेकेर में ही वास करते हैं और उस बारे में लिखते हैं, जो आपने स्वयं कभी अनुभव किया था?

**चं० आ०:** बचपन और किशोरावस्था की मन पर पड़नेवाली छापें लेखक के सृजनशील जीवन में सचमुच बहुत महत्वपूर्ण हैं। यह तो वह पवित्र झरना है, जिससे लेखक निरन्तर चिन्तन, चित्र तथा लोगों की आकृतियां प्राप्त किया करते हैं। बचपन और किशोरावस्था वह समय है, जब मनुष्य को विश्व के सौन्दर्य का सर्वाधिक बोध होता है और इस सौन्दर्य की उस पर सबसे ज़्यादा छाप पड़ती है।

**वी० ले०:** तुर्क कवि फ़ाज़िल हुसैन दाग्लार्स की, मेरी राय में, इस बारे में एक बहुत सुन्दर कविता है, जिसका नाम है: 'खुला घर':

बच्चे हैं घर ऐसा,
द्वार जिसके रहते
सदा खुले।
आते हैं इसमें
ऊंट और बिल्लियां,
मेघ और पंछी,
आते हैं यहां पूरे के पूरे शहर।

**चं० आ० :** मैं इन पंक्तियों तथा उनके रचयिता को भी जानता हूं। मुझे बहुत अच्छा लग रहा है कि आपने उनकी याद दिलायी। यदि उस विषय की ओर लौटें, जिस पर बातचीत हो रही थी, तो मैं कह सकता हूं कि बचपन के पास तो पूरे के पूरे शहर चले आते हैं। आगे चलकर जीवन में हमारे पास प्रकृति के सौन्दर्य का रसपान करने का समय ही कहां होता है! पूर्ण आत्मिक शान्ति के क्षण विरले ही मिल पाते हैं। बचपन में मनुष्य अक्सर अपने ही विचारों की दुनिया में अधिक रहता है, उसके पास अनुभूतियां भी अधिक होती हैं।

**वी० ले० :** 'जब पहले सारस आये', 'सफ़ेद जलयान' और 'जमीला' कृतियां मैंने जब पढ़ी थीं, तो मैं अक्सर सोचा करता था कि इन लघु उपन्यासों में बहुत-सी तफ़सीलें, नित्यप्रति के जीवन के बहुत-से मर्मस्पर्शी पहलू रचे और गढ़े नहीं जा सकते, कि उन्हें आपने, बहुत सम्भव है, अपने "पवित्र झरने" से ग्रहण किया था।

**चं० आ० :** तो, उदाहरण के लिए, वह चट्टान आज भी वहीं खड़ा है, जिसे हम लोग "काठी" कहते थे और जिस पर बैठकर मैं तूफ़ानी गति से बहती कुर्कुरेउ नदी पार करने की कल्पना किया करता था। निस्सन्देह, जीवन के वास्तविक दृश्य मेरी बाल्यकाल की कल्पना से अलंकृत होते थे, परन्तु मैंने उनका ठीक इसी परिवर्तित रूप में उपयोग किया। दूसरी बहुत-सी तफ़सीलें भी, ज़ाहिर है, बचपन की दुनिया से ही आयीं।

प्रसंगत:, इस बारे में कि बचपन के वर्ष लेखक के लिए कितने महत्वपूर्ण होते हैं, बहुत-से लोग लिख चुके हैं और मैं और आप पहले लोग नहीं हैं, जिन्होंने यह खोज की है। बचपन में मन पर पड़ी छापें ज़िंदगीभर बनी रहती हैं। मैंने दूर-दराज़ के देशों की यात्रा की है, जहां जाने की मैंने बचपन में ही कल्पना की थी—अफ़्रीका, भारत। मैं अधिक से अधिक देखना और समझना चाहता था। परन्तु अब मैं दूसरों को जब बताने का प्रयत्न करता हूं कि मैंने क्या-क्या देखा, तो मुझे उन दृश्यों को प्रस्तुत करने के लिए अपनी स्मरण शक्ति पर ज़ोर देना पड़ता है। यक़ीनन, ये सब विदेशी चीज़ें, जो मैंने अपनी वयस्कावस्था में देखीं, मेरा अपना अंग बन गयी होतीं, यदि मैं अपने बचपन में उनसे घिरा होता, यदि वे मेरी जन्मभूमि की होतीं।

आज, जब मैं "जन्मभूमि" शब्द सुनता हूं, तो मेरी चेतना में अनचाहे ही मेरे बचपन की जन्मभूमि उभर आती है। ऐसा तत्क्षण और

अनायास होता है। उसके बाद ही मैं अपने पूरे देश के, बाल्टिक से लेकर कामचात्का तक फैले देश के, सोवियत संघ के सम्पूर्ण क्षेत्र के बारे में सोचता हूं। और मेरे बचपन की जन्मभूमि मुझे कभी नहीं उबाती, उसे मैं सदैव मुक्त रूप से, ज़रा भी प्रयास के बिना स्मरण करता हूं।

**वी० ले० :** लेखक के रूप में आपके लिए, शायद, बहुत महत्वपूर्ण यह है कि आपके बचपन की जन्मभूमि शेकेर, गांव था, न कि शहर, जहां बच्चे का जीवन अधिक नियंत्रित होता है, वयस्कों की अपेक्षाओं के अधिक मातहत होता है।

**चं० आ० :** मैंने 'लितेरातूर्नाया गज़ेता' (साहित्यिक गज़ट) साप्ताहिक में लिखा था कि मेरा बेटा मैगपाई (मैना की तरह का पंछी) और गौरेया के अंडों में भेद नहीं कर सकता। यद्यपि नगर का जीवन *बौद्धिक* विकास की दृष्टि से अधिक प्रदान करता है, फिर भी नगरवासियों में कुछ न कुछ का अभाव रहता है। वे हमारे जगत की जटिलता को समझते तो हैं, परन्तु उसकी पूरी जटिलता को नहीं।

प्रकृति, घास, वन, पर्वत, पक्षी—ये सब उनके लिए उस काल में, जब मनुष्य पर जगत की विशेष रूप से छाप पड़ती है, एक ओर छूट जाते हैं। आगे चलकर मनुष्य बहुधा प्रकृति के प्रति उदासीन हो जाता है।

**वी० ले० :** और हम ऐसे लोगों से प्रकृति की रक्षा करने का आग्रह करते हैं।

**चं० आ० :** मैं इस अर्थ में नहीं बोल रहा था (हालांकि हमारे ज़माने में प्रकृति की रक्षा की कोई समस्या थी ही नहीं)। मैं पर्यावरण की रक्षा की नहीं, अपितु इस बात की चर्चा कर रहा था कि प्रकृति की प्रत्येक परिघटना को *अनुभव करना* और *समझना*, उसकी क़द्र करना कितना महत्वपूर्ण है। हालांकि अपने ज़माने में भी जब हम पक्षियों को मारते थे, तो हमसे कहा जाता था कि यह पाप है। यह शब्द हमारी चेतना में घर कर जाता था। इसलिए नहीं कि यह धर्म में आस्था रखनेवाले लोगों के दृष्टिकोण से पाप था, अपितु इसलिए कि पक्षियों को मारना *अनैतिक* था।

तो हम सबका बचपन का अपना संसार है। मेरे लिए यह है शेकेर, पर्वत, कुर्कुरेउ नदी, जो, दुर्भाग्यवश, लुप्त हो गयी है और मेरे लिए यह बहुत पीड़ादायी है।

एक बार मेरा अपने एक साथी के साथ तर्क-वितर्क हो गया। नहीं मालूम, कौन सही था, कौन नहीं। मैं यह मानता हूं कि नदियों को स्वाभाविक रूप से, अपने मार्ग पर बहते रहना चाहिए। परन्तु मेरे विपक्षी का सुझाव है कि लोगों की तरह नदियों को भी निदेश दिये जा सकते हैं। तो सीमारेखा कहां खींची जाये?

इस तरह का एक फ़िक़रा है: "नियंत्रित" नदी। इसका अर्थ है कि नदी में पानी नहीं है (उसे आर्थिक आवश्यकताओं के कारण दूसरे स्थान की ओर प्रवाहित कर दिया गया है)। मेरे दृष्टिकोण से, ऐसे मामले में मनुष्य प्रकृति द्वारा खींची गयी सीमारेखा का अतिक्रमण कर रहा है। परन्तु मेरे विपक्षी का कहना है कि मनुष्य नदी के साथ इस तरह पेश आ सकता है।

**वी० ले०:** अजीब-सी बात है, परन्तु हमारे युग में हम किसी न किसी कारण यह कहने में शर्माते हैं कि मनुष्य अपने को सदा पर्यावरण के अनुकूल ढालता रहा और ढालते रहना चाहिए; यह कथन, निस्सन्देह, सुनने में सुन्दर लगता है कि मनुष्य को प्रकृति पर विजय पानी चाहिए। परन्तु कभी-कभी विजयें बहुत महंगी पड़ती हैं।

मेरे कुछ मित्र पर्वतारोही हैं, उन्होंने मुझे बताया कि तियान-शान पर्वतमाला में उन्होंने हिमनदों की यह देखने के लिए जांच की कि उन्हें क्या गलाया जा सकता है। बर्फ़ को किसी ऐसे काले पदार्थ की परत से ढका जा सकता है, जो सूरज की किरणों को अपनी ओर आकर्षित करेगी, उससे हिमनद की बर्फ़ गलकर घाटियों में बहेगी और नदियां पानी से भर जायेंगी... परन्तु किसी को यह पता नहीं कि इस सबका परिणाम क्या होगा। आखिर, हम जलवायु को बदल डालते हैं, प्रकृति का सन्तुलन बिगाड़ देते हैं और प्रकृति के साथ मनमानी करते हैं।

**चं० आ०:** जी हां, यह जटिल समस्या है। ऐसा उपयोगितावाद मुझे भयभीत करता है। पानी की बदौलत हमारे पास कपास, चुकंदर, आलू, गेहूं और तम्बाकू है। परन्तु हम नदियां, घास तथा अन्य प्राकृतिक संसाधन खोने का जोखिम मोल लेते हैं, और यदि हम पृथ्वी पर यह करते हैं, तो अच्छा नहीं है। हमें प्रकृति के संरक्षण के उपायों पर विचार करना होगा। नदी तो सौन्दर्य है, उसे खाद में परिणत नहीं किया जाना चाहिए। दूसरे तरीक़े ढूंढ़ना ज़रूरी है। प्रकृति का दूसरे ढंग से उपयोग किया जाना चाहिए।

मैं दूसरे परिवर्तनों से भी चिन्तित हूं। शेकेर बदल गया है, अधिक

सुख-सुविधापूर्ण हो गया है। अधिक मकानों का निर्माण हुआ है तथा पुराने मकानों का पुनरुद्धार हुआ है। मकानों के फ़र्श अब लकड़ी के हैं, उनमें कमरे गर्म करने के स्टोव हैं। मेरे गांव में अब बिजली है, टेलीविजन सेट हैं, कारें हैं। कुल मिलाकर यह अच्छी बात है, परन्तु हम कुछ खो भी बैठे हैं: लोगों में एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति, करुणा, एकजुटता की भावना कम हो गयी है। आज हम एकजुटता शब्द को राजनीतिक अर्थ में समझते हैं, परन्तु मेरा आशय सगे-सम्बन्धियों, देशभाइयों की एकजुटता से है।

नूतन, बेशक, मुझे आनन्द प्रदान करता है। परन्तु उसमें कुछ ऐसा है, जिससे दुख होता है। बहुत अच्छी बात है कि मेरे गांवभाई साक्षर हो गये हैं, मशीन चलाना जान गये हैं, परन्तु मुझे सबसे ज़्यादा दुख इस बात का होता है कि वे, पहले तो, पुरानी लोक परम्पराएं भुला रहे हैं, दूसरे, अपनी आन्तरिक, मौलिक संस्कृति की सदैव क़द्र नहीं कर पाते।

अपने जीवन में मैं ऐसे लोगों से मिला हूं, जो निरक्षर थे, परन्तु उदात्ततम मानवीय सिद्धान्तों का पालन करते थे। और यह मुख्य बात है। इसलिए अपनी कृतियों में मैं उन लोगों के बारे में लिखता हूं, जिन्हें मैं जानता था और जिन्हें मैं याद करता हूं, जो मेरे स्मृति-पटल पर विशेष गुणों तथा उदात्त नैतिक सिद्धान्तोंवाले मनुष्यों के रूप में सजीव हैं।

बड़ा क़िर्ग़िज़ गांव मेरे सृजन-कार्य की आश्रम-स्थली है। नाना विचारों, पात्रों तथा बिम्बों की प्रेरणा मुझे इन लोगों के जीवन से मिली। इस तरह मेरा पहले का शेकेर समसामयिक समस्याओं की आत्मिक परिधि में शामिल है, और यह चीज़ मुझे आनन्द दिये बिना नहीं रह सकती, हालांकि, और मैं दुहराता हूं, मुझे उन चीज़ों के बारे में दुख होता है, जो शेष नहीं रह गयीं।

परन्तु शेकेर में आज जो हो रहा है, उसमें भी मेरी दिलचस्पी है।

**वी० ले०:** क्या आप अक्सर शेकेर जाया करते हैं?

**चं० आ०:** साल में दो या तीन बार।

**वी० ले०:** इन यात्राओं से आपके मन पर पड़नेवाली छापें क्या आपको अपनी कृतियों के लिए सामग्री देती हैं?

**चं० आ०:** मैंने शेकेर के बारे में सीधे-सीधे लिखने की बात न तो सोची और न सोचता हूं, क्योंकि कला को सदैव सामग्री का *रूपान्तरण करना* चाहिए। केवल तभी वह कला होती है।

**वी० ले० :** सामग्री से मेरा अभिप्राय उसके प्रत्यक्ष अर्थ से नहीं है (कृति के लिए), अपितु आलंकारिक अर्थ से भी है—इतिहास तथा काल के परिप्रेक्ष्य की रचना करने के लिए। इसलिए कि प्रस्थान-बिन्दु बन सके।

**चं० आ० :** मेरे विचार में, प्रत्येक लेखक का अपना प्रस्थान-बिन्दु, धरती के साथ अपना *मिलन-बिन्दु* होना चाहिए। निस्सन्देह, इसमें सारा अनुभव, संश्लेषण, कुल योग होना चाहिए। नगर का जीवन, यात्राएं और भी दूसरी चीज़ें। अर्थशास्त्रियों की भाषा में शेकेर मेरी *स्थायी* पूंजी है तथा "और भी दूसरी चीज़ें" वह साधन हैं, जो मुझे दूसरे स्रोतों से मिलते हैं। सम्भव है, वक़्त गुज़रने के साथ ये साधन मेरी कृतियों में हावी हो जायेंगे।

**वी० ले० :** बेशक, सब सम्भव है, परन्तु इस समय भी यह बात असंदिग्ध है कि अपने शेकेर का चित्रण करते समय आप केवल "स्थानीय" ही नहीं, अपितु सार्विक समस्याएं भी प्रस्तुत करने में सफल रहे हैं। इतना स्मरण करना पर्याप्त है कि लुई आरागों ने आपकी 'जमीला' उपन्यासिका का कितने हर्षपूर्वक अनुवाद किया था और उसे विश्व की सबसे सुन्दर प्रेमकथा कहा था। आपकी अन्य कृतियों ने भी केवल हमारे देश में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी गहरी दिलचस्पी पैदा की। इसलिए शेकेर को पूरे विश्व के साथ जोड़नेवाला "सेतु" काफ़ी मज़बूत है। जब आप 'जमीला' की रचना कर रहे थे, तो आपने क्या यह अनुभव किया था?

**चं० आ० :** क्या मैंने अनुभव किया था? मैं सदा इसमें यक़ीन करता रहा कि "शेकेर की समस्याएं" कलाकार की आत्मा में से गुज़रनी चाहिए। केवल तभी वे सार्विक बन सकती हैं। प्रत्येक ठोस मामले में ऐसी समस्याएं *होती हैं*, जिन पर *सार्विक* अर्थ में विचार किया जा सकता है।

यह रहा एक सर्वकालीन उदाहरण। अगर दोस्तोयेव्स्की इतने प्रतिभाशाली न होते, उनमें इतनी करुणा तथा दूसरों के दुख-दर्द के प्रति इतनी सहानुभूति न होती, तो उनका उपन्यास 'अपराध और दंड' केवल फ़ौजदारी के जुर्म के वृत्तान्त के अलावा और कुछ न होता। दोस्तोयेव्स्की ने *आपराधिक* घटनाओं को अत्यधिक *दार्शनिक* अर्थ प्रदान किया। जब रास्कोल्निकोव अपने इरादों को न्यायोचित ठहराने का प्रयास करता है, जब वह यह कहता है कि वह तो अभी जवान है और इस कारण

वह मानवजाति के लिए सूदख़ोर औरत से, जिसकी किसी को ज़रूरत नहीं है, ज़्यादा उपयोगी काम कर सकता है, तो हिंसा और अहं का सवाल पैदा हो जाता है।

**वी० ले०:** विशिष्ट प्रश्न सार्विक, काव्यमय और दार्शनिक बन जाते हैं, निस्सन्देह, कलाकार की बुद्धि तथा प्रतिभा की बदौलत। लेखक की क़लम की नोक से कोई गांव ऐसा स्थान बन सकता है, जहां सर्वाधिक जटिल, भूमंडलीय महत्व की, सार्विक समस्याओं का समाधान होता है।

**चं० आ०:** यदि लेखक वैसी भूमंडलीय समस्याएं पेश नहीं करता, जैसी कि दोस्तोयेव्स्की ने पेश की थीं, परन्तु अपनी रचना में अपना हृदय उंडेल देता है, तब भी उस द्वारा प्रस्तुत समस्याएं *सार्विक* दिलचस्पी की बन सकती हैं।

**वी० ले०:** फिर भी आपके लिए परिपूरक "सेतु", शायद, वह है, जिसे समालोचक सशर्त मिथक कहते हैं। क्या वे कथा-वर्णन को और भी अधिक सार्विक नहीं बनाते?

**चं० आ०:** मिथक क्यों?

**वी० ले०:** क्योंकि उनमें जगत का सार्विक प्ररूप निहित है। इन मिथकों में से अन्योक्तियां, प्रतीक संवर्द्धित हो सकते हैं।

**चं० आ०:** नहीं, मिथक कथा-वर्णन को सार्विकता नहीं, अपितु सामान्य नियमसंगतियों का ज्ञान प्रदान करता है। जिन्हें स्थानीय लेखक कहा जाता है, उनके साथ क्या मुसीबत है? वे स्थानीय जीवन को बहुत अच्छी तरह जान सकते हैं, परन्तु वे कभी उसके ऊपर नहीं उठ सकते। उन द्वारा चित्रित जीवन में आत्मा की गहराई नहीं होती, उसमें कलाकार के भावावेग नहीं होते। ठीक इसी कारण साहित्य में प्रान्तीयतावाद प्रकट होता है। बहुत-से इस पर गर्व करते हैं और इसी कारण विफल होते हैं। बहुत-से यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि पहले कैसा था और अब कैसा है। परन्तु उनकी कृतियां पाठक के मन को स्पर्श नहीं करतीं, वशीभूत नहीं करतीं, उसे ऊपर नहीं उठातीं। वे तो साधारण डाकुमेंटरी स्केच होते हैं, कला-कृतियां नहीं।

लेखक के पास आधुनिक ढंग का चिन्तन होना चाहिए, उसमें पांडित्य होना चाहिए, उसे इतिहास तथा संलग्न ज्ञान-विज्ञान की जानकारी होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, साहित्य का अध्ययन भी जीवन के बोध की एक विधि है। वह लेखक को जीवन को समझने, उस पर चिन्तन-मनन करने, सौन्दर्य के नियम सीखने में सहायता देता

है। मैं मिखाईल बाख़्तिन और प्योत्र पालियेव्स्की की रचनाओं का बहुत उच्च मूल्यांकन करता हूं, वे पाठक को चिन्तन की बहुत रोचक सामग्री प्रदान करती हैं।

देखिये न, ऐसे लोग हैं, जो बहुत-सी लोककथाएं, लोकगाथाएं, मिथक बहुत अच्छी तरह जानते हैं, इनके सारे विवरण, छोटी-सी छोटी बातें उनके स्मृति-पटल पर अंकित रहते हैं, परन्तु लेखक को *समकालीन* तैयारी की, समकालीन ज्ञान, विश्व संस्कृति के अतीत के सम्पूर्ण पूर्ववर्ती अनुभव की आवश्यकता होती है। यह उसका अवलम्ब है। उसके बिना लेखक स्थानीय समस्याओं को ऊंचे स्तर पर नहीं उठा सकता। यह उन तरुण, लेखन-जीवन आरम्भ कर रहे लेखकों पर लागू होता है, जो संचित ज्ञान के अर्थ में स्थानीय लेखकों के सदृश हो सकते हैं। यह ज्ञान और आन्तरिक संस्कृति, निस्सन्देह, अनुभव से प्राप्त होते हैं। यदि मुझे 'जमीला' या 'ऊंट की आंख' अब लिखना पड़ता, तो मैं उन्हें कहीं अधिक जटिल बना देता।

**वी० ले०:** 'ऊंट की आंख' लघु उपन्यास में आप यद्यपि टकरावों तथा जीवन के अन्तर्विरोधों से नहीं कतराते, उनके समाधान का स्वरूप 'सफ़ेद जलयान'* से भिन्न है। 'सफ़ेद जलयान' में टकराव अधिक गहन और त्रासदीपूर्ण है: शायद, इसकी बदौलत यह लघु उपन्यास अन्तत: 'ऊंट की आंख' से कहीं अधिक आशावादी है। क्यों? इसलिए कि उसकी त्रासदी हमें रोगमुक्त करती है, शुद्ध करती है, इसलिए कि, जैसा कि अरस्तू ने इस तरह की स्थिति के बारे में कहा था, वह भावनाओं के निकास का काम करती है।

यही बात 'जमीला' के बारे में कही जा सकती है। यह, शायद, दैनंदिन जीवन की असंयत तथा उद्देश्यहीन "चीरफ़ाड़" से कहीं ज़्यादा महत्वपूर्ण है, जैसा कि हमारे कुछ लेखकगण किया करते हैं और जिससे उन्हें इतनी हानि होती है। ऐसी पुस्तक पढ़ते समय आप ऐसा अनुभव करते हैं, मानो आप किसी छेद से कमरे के अन्दर झांक रहे हों। कुछ लोग कहते हैं कि इस तरह का झांकना शिक्षाप्रद है, परन्तु, मेरी राय में, वह केवल हमारी उत्सुकता की पूर्ति करता है।

**चं० आ०:** हो सकता है... परन्तु यदि हमने *सामान्य रूप से* साहित्य के बारे में बातचीत शुरू कर दी, तो मुझे ऐसे प्रतीत होता है कि साहित्य

---

* १९७० में प्रकाशित।

तब और भी ज़्यादा नुक़सान झेलता है, जब लेखक उसकी सीमा पार कर जाते हैं। साहित्य तब अपनी शक्ति खो बैठता है, जब लेखक स्पष्टत: आम वृत्तकार-पत्रकार बन जाते हैं, जब वे आर्थिक समस्याओं का सीधा उत्तर देने लगते हैं।...

परन्तु मिथकों के प्रश्न की ओर लौटा जाये। मिथक तो कच्चा माल हैं। वे लोक चेतना के लिए एक तरह की उर्वर भूमि होते हैं, जिसे अपने सृजन-कार्य में लाना चाहिए।

**वी० ले० :** लोककथाओं को कलात्मक कृतियों में लाने के भिन्न-भिन्न पथ हैं।

उदाहरण के लिए, 'विदा, गुलसारी!'* में तानाबाई और गुलसारी की एक जैसी नियतियां काव्यात्मक युक्ति हैं। और 'सफ़ेद जलयान' में मां हिरन की मर्मस्पर्शी कहानी अनायास ही नैतिक आदेशों का, परम्पराओं तथा अपने बाप-दादाओं की सीखों के प्रति आस्था रखने का बोध कराती है, जिनका उल्लंघन करने पर अथवा जिनकी अनुभूति न करने पर मनुष्य का नाश हो जायेगा।

बताइये, आपके लिए लोक महाकाव्य किस बात का द्योतक है: शाश्वत, स्थिर, सार्विक सिद्धान्तों की पुष्टि, जो आज तक अपने मूल्य को अक्षुण्ण रखे हुए हैं अथवा काव्यात्मक युक्ति, जो ठोस वर्णन से प्रतीकात्मक बिम्बों में संक्रमण करना सम्भव बनाती है?

**चं० आ० :** मैं सदैव महाकाव्य के बारे में सोचा करता हूं। यह लोक प्रज्ञा की बहुस्तरीय रचना है। परन्तु मैं अपनी कृतियों में महाकाव्य को महज़ शामिल नहीं करता, मैं तो उसे आत्मसात्कृत ढंग से उपयोग में लाने का प्रयत्न करता हूं।

मेरे प्रयोजन सर्वथा भिन्न-भिन्न होते हैं। एक मामले में वह युक्ति है। 'विदा, गुलसारी!' में शिकारी का गीत एक युक्ति है, वह नायक के जीवन में त्रासदी, गहन भावनात्मक उथल-पुथल संप्रेषित करती है। 'सफ़ेद जलयान' में यह अवधारणा है, लघु उपन्यास की बुनियादी परत है।

जिस ढंग से किसी महाकाव्य का उपयोग किया जाता है, उसे पूर्व नियोजित नहीं किया जा सकता, उसे रूढ़ नियम नहीं बनाया जा सकता और ऐसा करने का कोई तरीक़ा भी नहीं है; प्रत्येक ठोस मामला अपने रुख

---

* १९६६ में प्रकाशित।

की, अपने समाधान की अपेक्षा करता है, जो स्पष्टत: नायकों के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। कभी महाकाव्य नायक की सांस्कृतिक नींव होती है, कभी नायक, नायक के दादा, दादियां और मां-बाप 'मनास'* को जानते हैं, कभी महागाथा उनकी आत्मिक परिधि में शामिल होती है और उनकी मनोदशा, परवरिश के साथ उसका सामंजस्य होता है। यदि मैंने अकादमीशियन कुर्चातोव के विषय में उपन्यास लिखा होता, तो मैं, शायद, लोकगाथा के उपयोग की बात भी न सोचता।

कभी-कभी मैं अपनी कृतियों में लोकचेतना की *निर्वैयक्तिक* परत को शामिल करता हूं। लेखक की ओर से नहीं, नायक तक की ओर से भी नहीं। यह उस सूरत में होता है, जब मेरे लिए कोई *सार्विक* शब्द कहना आवश्यक हो जाता है।

**वी० ले० :** कुछ भी हो, इस बात के बावजूद कि आप महाकाव्य को काफ़ी बदल देते हैं, कई मामलों में आपकी रचनाओं की प्रेरणा का स्रोत सीधे महाकाव्य ही होता है। इसलिए मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि आपकी राय में साहित्य में लोककथाओं के उपयोग की सबसे अधिक रचनात्मक तथा सम्भावनापूर्ण विधि क्या है: किसी मिथक की अनुकृति में शैलीकरण, लोककथा के नायकों तथा आख्यानों के तत्त्वों को कथा के ताने-बाने में शामिल करना अथवा मिथक के तत्त्वों—मिथकीय संरचनाओं—का उपयोग करना, जो समसामयिक परिस्थितियों और टकरावों में मानव-अस्तित्व के मूलभूत सिद्धान्त उजागर करने में मदद देते हैं?

**चं० आ० :** तीसरा सबसे अधिक फलप्रद है। किसी मिथक की अनुकृति में शैलीकरण किसी हद तक निराला प्रतीत होता है। परन्तु मिथकीय तत्त्व घटनाओं का पुनरावलोकन करने, उनके बीच जटिल, अदृश्य, यहां तक कि कभी-कभी विरोधपूर्ण उस सम्बन्ध को देखने में सहायता देते हैं, जो सही अर्थों में मनुष्य के अस्तित्व के मूलभूत सिद्धान्तों की ओर ले जाता है।

इस बातचीत के सिलसिले में मैं प्रतिभाशाली कज़ाख़ लेखक अबीश केकिल्बायेव की पुस्तक 'स्तेपी भूमि की गाथा' की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं, जिसमें लेखक को मिथकीय पद्धतियों तथा संरचनाओं

---

* क़िर्ग़िज़ जाति का महाकाव्य, अपनी जन्मभूमि की रक्षा के हेतु मनास, उसके पुत्र तथा पौत्र के जौहर का वर्णन।

की सहायता से अतीत तथा वर्त्तमान के इतिहास की महत्वपूर्ण समस्याओं का विवेचन करने में सफलता मिली है।

यह पुस्तक—चिन्तन के अत्यन्त उच्च स्तर पर—मिथकों, दंतकथाओं और समसामयिक जीवन का संयोजन है, इतिहास तथा हमारे युग के अनुभव का संयोजन है। मेरी राय में, इन समस्त अवयवों (और इनके साथ-साथ, निस्सन्देह, लेखक की प्रतिभा) ने उपन्यास को अन्तर्वस्तु की दृष्टि से परिपूर्ण ही नहीं बनाया है, अपितु *कला की दृष्टि से* महत्वपूर्ण भी बना दिया है।

**वी० ले०:** 'जमीला' में दानियार और जमीला का गांव छोड़ना आदम और हौवा को घिनौने स्वर्ग से निकाले जाने की याद दिलाता है। यह दिलचस्प बात है कि यह विचार आपको कैसे प्राप्त हुआ: किसी अन्य कृति से? अथवा यह पाठक के नाते मेरे मन में उत्पन्न केवल विचार-साहचर्य है?

**चं० आ०:** यह बहुत ही सुन्दर विचार है। शायद, यह सच हो कि ईसाई धर्म की पौराणिक कथाओं का ज्ञान होने पर 'जमीला' पढ़ते समय कुछ नये साहचर्य दिखायी दें, परन्तु जब मैं उसे लिख रहा था, तो मैंने इस बारे में नहीं सोचा था। क्या आपने 'जमीला' के बारे में गाचेव की पुस्तक 'प्यार, मनुष्य, युग' पढ़ी है? मुझे वह दिलचस्प लगी, उससे मुझे बहुत-सी नयी बातें मालूम हुईं।

**वी० ले०:** याने यह मात्र संयोग की बात है कि बाइबलीय मिथक तथा जमीला की कथावस्तुएं सदृश हैं?

**चं० आ०:** जी हां, ऐसा अक्सर होता है।

**वी० ले०:** मेरे ख़याल से, हम लोग सृजनशीलता की मन:स्थिति तथा कला के बोध की "शाश्वत" समस्याओं की ओर लौट आये हैं। हमारी बातचीत के आरम्भ में, जब हम आपके लघु उपन्यास 'आमने-सामने' की बात कर रहे थे, आपने कहा था कि पोप्लर की गज़ से तुलना करते समय आप युद्ध के विषय की ओर कदापि संकेत नहीं कर रहे थे, हालांकि मुझे ऐसा ही लगा था। इस मामले में यह कहना कठिन है कि कौन ठीक है और कौन ग़लत। परन्तु ऐसा भी होता है, जब लेखक "नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है", उसका पूरा अर्थ नहीं समझता, जो वह कर रहा है। साथ ही पाठकों की अन्तर्दृष्टि अक्सर असत्य होती है, जिसे अन्योक्तिपरक साहित्य जन्म देता है। हुम्बोल्डट ने अकारण ही नहीं कहा था कि कोई भी समझ नासमझ होती है। यहां मैं ऐसे क्लासिकीय मामले की

याद दिलाना चाहूंगा कि समालोचकों ने 'फ़ाउस्ट' के दूसरे भाग में कैसे बहुत-सारे संकेत ढूंढ़ निकाले थे, जबकि स्वयं गेटे ने किसी भी तरह की अन्योक्तियों की रचना नहीं की थी।

**चं० आ० :** सब सम्भव है। एक बार किसी ने मुझसे पूछा था कि मेरा लघु उपन्यास जब पत्रिका में छपा था, तो क्यों उसका नाम 'सफ़ेद जलयान (आख्यान के बाद)' रखा गया और जब वह पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ, तो उसका नाम 'आख्यान के बाद (सफ़ेद जलयान)' रखा गया था। उसने सोचा कि पुस्तक के नाम और उपनाम का स्थान बदलकर मैं प्रतीक की जगह परिणाम पर, स्वप्न की जगह यथार्थ पर, आख्यान की जगह, उस पर, जो आख्यान के बाद मेरे नायकों के साथ हुआ, ज़ोर में परिवर्तन को परोक्ष रूप में लक्षित कर रहा हूं।

स्पष्टीकरण कहीं ज़्यादा सरल है। बात यह है कि जब मैं अपने लघु उपन्यास को 'नोवी मीर' पत्रिका के पास ले गया, तो अलेक्सांद्र त्वार्दोव्स्की ने कहा कि 'आख्यान के बाद' नाम उन्हें बहुत ही साधारण और परम्परागत प्रतीत हो रहा है। उन्होंने उसके स्थान पर 'सफ़ेद जलयान' नाम रखने का सुझाव दिया। पर मैंने जो नाम रखा था, वह मुझे ज़्यादा अच्छा लगा—वह सटीक था।

**वी० ले० :** मेरा ख़याल है कि यह समालोचकों के लिए शिक्षाप्रद है : यह पता लगाने का कोई लाभ नहीं है कि लेखक ने कहानी में कुछ क्यों बदला।

परन्तु महाकाव्य के बारे में अपनी बातचीत की ओर लौटा जाये। यद्यपि हम आपकी रचनाओं में मौखिक परम्परा के बारे में, इस बारे में काफ़ी बात कर चुके हैं कि आपने 'मनास' से क्या ग्रहण किया। मैं किसी और चीज़ पर ज़ोर देना चाहता हूं : लोककथा आपकी कृतियों में समसामयिक जीवन के साथ इतने अभिन्न रूप से गुंथा हुआ है कि यथार्थ तथा मिथक के प्रतीकात्मक दर्पण के बीच, जो इस यथार्थ को प्रतिबिम्बित करता है, सीमा-रेखा दृष्टिगोचर तक नहीं होती। यदि फिर से मां हिरन के आख्यान की ओर लौटें, तो यथार्थ क्या सारभूत रूप से उस आख्यान की पुनरावृत्ति नहीं करता, जो समझदार मोमुन बच्चे को सुनाता है? परन्तु जीवन में प्रतीकात्मक आख्यान, मेरी राय में, उपदेशकारी नीति-कथा नहीं, अपितु त्रासदी बन जाता है : बूढ़ा स्वयं वही करता है, जो न करने की चेतावनी आख्यान ने उसे दी थी। सबसे भयंकर बात तो यह है कि मोमुन ने अपने को ठेस पहुंचायी थी, अपने

अन्त:करण, अपने आदेशों का अतिक्रमण किया था—अपनी अभागी बेटी की ख़ातिर, अपने नाती की ख़ातिर!.. इस तरह त्रासदी केवल सार्विक अर्थ ही ग्रहण नहीं करती, जैसा कि, उदाहरण के लिए, सार्त्र के दार्शनिक नाटकों में करती है, अपितु मानवीय अर्थ भी ग्रहण करती है, जैसा कि पुश्किन तथा शेक्सपियर की कृतियों में करती है। वह हमें जकड़ लेती है, हमारी भावनाओं को उद्वेलित करती है, हमें जबरन अपनी समस्याओं के क्षेत्र में ले जाती है। दर्शन और सच्चे अर्थों में शेक्सपियरीय अनुभूतियों का यह संयोजन आपको नवाचारी और साथ ही महान यथार्थवादियों की परम्पराओं का निर्वाहक बना देता है।...

कृपया यह बताइये कि शैली, मनोदशा, नायक के चरित्र-चित्रण के मामले में कौन क्लासिकीय रचनाकार आपके सबसे समीप हैं? आप किसे अपना शिक्षक कह सकते हैं?

**चं० आ०:** आपने शेक्सपियरीय परम्पराओं और नवाचारों के बारे में काफ़ी कुछ कहा है। परन्तु बात गम्भीरतापूर्वक करें, तो मैं मोमुन के विषय में कुछ कहना चाहूंगा। मैं आपसे सहमत नहीं हूं। मोमुन ने मात्र अपने नाती और बेटी की ही ख़ातिर अपने पूर्वजों की स्मृति को ठेस नहीं लगायी थी, अपने अन्त:करण तथा आदेशों का अतिक्रमण नहीं किया था। मैंने तो इसमें *सामाजिक* पहलू भी देखा। मोमुन के सामने केवल यही विकल्प था: या—अथवा।

**वी० ले०:** पर मैं जब मानव त्रासदी की बात करता हूं, तो क्या मैं सामाजिक पहलू को अलग कर रहा हूं? क्या वह त्रासदी का भाग नहीं है?

**चं० आ०:** मैं यह दिखाना चाहता था कि सामाजिक प्रयोजनों समेत समस्त प्रयोजन एक-दूसरे से गुंथे हुए होते हैं। मैं मोमुन का परावलंबन दर्शाना चाहता था। मैं यह कहना चाहता था कि समाज को उसे स्वावलम्बी, सुखी, स्वतंत्र बनाने के लिए बहुत कुछ करना पड़ेगा। यह थी पहली चीज़।

दूसरी चीज़, मेरे लिए किसी एक क्लासिकीय रचनाकार को अलग करना मुश्किल है: ज़ाहिर है, वक़्त आ चुका है, जब वे एक विराट अनुभव में ऐक्यबद्ध हो जाते हैं: तोलस्तोय, चेख़ोव, दोस्तोयेव्स्की तथा पश्चिमी क्लासिकीय रचनाकार। यही कारण है कि मैं क्लासिकीय रचनाकारों को सूर्य की तरह मानता हूं। सूर्य प्रकाश देता है (एक सूर्य

में मेरे लिए टामस मान, शेक्सपियर और दोस्तोयेव्स्की शामिल हैं), उसकी किरणें किस तरह मुझ तक पहुंचती हैं, यह महत्वपूर्ण नहीं है।

**वी० ले०:** जब आप "परम्पराओं" तथा "नवाचार" शब्दों का उपयोग करते हैं, तो उनसे आपका तात्पर्य क्या है?

**चं० आ०:** मेरे ख़याल से यह स्वतःस्पष्ट है। यदि कोई कृति सुन्दर ढंग से लिखी हुई है, तो उसे अवश्य नवाचारात्मक होना चाहिए।

मुझे रस्पूतिन बहुत पसन्द हैं। उनकी रचनाएं पढ़ने में मुझे आनन्द आता है। परन्तु कह नहीं सकता कि वह नवाचारी हैं या नहीं। शायद हैं।

**वी० ले०:** आज किस चीज़ में नवाचारी बना जा सकता है? काव्यशास्त्र में? विषय के चयन में?.. लगता है, सब कुछ पुरातन काल में ही कहा जा चुका है।

**चं० आ०:** हम लोग पुरातन काल की ओर इसलिए आकृष्ट होते हैं कि हम जिज्ञासु हैं। मैं नहीं सोचता कि लोग होमर की कृति 'ओडिसी' को एक ही वार में पढ़ जाते हैं। देवताओं की सहायता से मनुष्य के आचरण-व्यवहार को समझाना हमें अजीब लगता है। जीवन के जटिल बनने के साथ ही साहित्य भी जटिल बनता जाता है। 'डॉन क्विकज़ोट' पैरोडी प्रतीत होता है।...

**वी० ले०:** उसे नाइट उपन्यास की पैरोडी के रूप में लिखा गया था।...

**चं० आ०:** जी हां, यह सुविदित है। परन्तु मैं दूसरी चीज़ के बारे में बोल रहा हूं। इस बारे में कि आज का लेखक इस तरह नहीं लिखेगा।

**वी० ले०:** हालांकि वह, शायद, बेहतर न लिख पाये।

**चं० आ०:** जी हां, हो सकता है, ख़राब ही लिखे, परन्तु वह जो लिखेगा, भिन्न होगा। आधुनिक साहित्य मेरे लिए कहीं अधिक दिलचस्प है। वह नवाचारपूर्ण है। यह चीज़ तो इस समय भी दृष्टिगोचर हो रही है।

निस्सन्देह, हम पुश्किन जैसे प्रतिभापूर्ण ढंग से नहीं लिख पाते। परन्तु सौन्दर्यात्मक तथा सामाजिक समस्याओं के नये पहलू, उनके प्रति नये दृष्टिकोण प्रकट हुए हैं। साहित्य की विषय-सामग्री का विस्तार हुआ है, हालांकि शाश्वत और आधारभूत समस्याएं बनी हुई हैं।

आइये, इस बारे में सोचें: क्या इस शताब्दी के तीसरे दशक के सोवियत लेखकों के समक्ष वही सामाजिक तथा कलात्मक समस्याएं थीं? एक ओर, जी हां, थीं—*नयी* सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों में वही *शाश्वत* समस्याएं थीं। परन्तु दूसरी ओर, जीवन

विकसित होता है, अधिक जटिल बनता जाता है, *पहले* अज्ञात परन्तु आठवें दशक के लिए प्रासंगिक नयी *समस्याएं* उत्पन्न होती हैं। कुछ भी हो, जिन समस्याओं को त्रीफ़ोनोव अपने समक्ष रखते हैं, वे सबकी सब सेराफ़िमोविच के समक्ष कदापि उपस्थित नहीं थीं। यह बात समझ में आती है, तब हालात दूसरे थे, लोग दूसरे थे, भौतिक सुख-समृद्धि को भिन्न अर्थ में समझा जाता था—वह वर्ग-संघर्ष का ज़माना था। यह संयोग की बात नहीं थी कि सेराफ़िमोविच का वर्ग-शत्रु एक निश्चित प्रकार का होता है, उसकी छवि निश्चित माध्यम से चित्रित की जाती है। अथवा शोलोख़ोव के लिस्तनित्स्की को ले लें। उसने ग्रिगोरी मेलेख़ोव के कोड़े खाये, फिर हम आगे उसकी आत्मा की गहराई में नहीं पैठते। ख़ैर, यह ज़रूरी भी नहीं है। या फिर 'अछूती धरती का उद्धार' में वर्ग-शत्रुओं को ले लें। उनके बारे में सब कुछ आरम्भ से ही स्पष्ट है। परन्तु बहुत साल बाद ज़ालीगिन हमें उन वर्षों की ओर वापस ले जाते हैं और हमें वह दिखाते हैं, जो तब समझा नहीं गया था और नहीं समझा जा सकता था।

**वी० ले०:** और वसीली बेलोव की रचना 'पूर्ववेलाएं'? वह भी तथ्यों के उपरान्त लिखी गयी थी और वह भी हमारे युग के नियमों के अनुसार, कालान्तर की घटनाओं को ध्यान में रखते हुए सामूहिकीकरण को समझने का प्रयत्न थी।

**चं० आ०:** समय के साथ, शायद, उनसे भी अच्छी कृतियां प्रकट होंगी, जो हम लिख रहे हैं। आख़िर अतीत तो थमे हुए पानी की तरह है: गंदला घोल तब स्वच्छ हो जाता है, जब कुछ तलछट बनकर जम जाता है और कुछ घुल जाता है, जब सब अपनी जगह पर आ जाता है।

यदि हम वर्त्तमान की बात कर रहे हैं, तो फिर सबसे पहले यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि लेखक के कार्यकलाप की क्या *सीमाएं* होती हैं। और केवल सीमाएं ही नहीं। उन उद्देश्यों को भी देखना ज़रूरी है, जिन्हें यथार्थ लेखक के समक्ष प्रस्तुत करता है।

जब मैं कहता हूं कि जीवन का विकास हो रहा है, तो मेरा आशय सर्वथा भिन्न-भिन्न वस्तुओं से है। उदाहरण के लिए, शान्ति कार्यक्रम।* यह राजनीतिक मामला मात्र नहीं है। यह मानवजाति के इतिहास में नया पृष्ठ है, जो हमें नाना समस्याओं—ऐतिहासिक, दार्शनिक तथा

* शान्ति कार्यक्रम सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की २४वीं कांग्रेस (३० मार्च—६ अप्रैल १६७१) द्वारा अनुमोदित किया गया था।

सामाजिक समस्याओं—पर विचार करने के लिए बाध्य करता है। विशेषकर मानवतावाद की अवधारणा। एक ओर, आज भी हम मानवतावाद की अमूर्त्त, समाजेतर अवधारणा के विरुद्ध हैं, परन्तु दूसरी ओर, मानवतावाद की हमारी धारणा पहले से अधिक व्यापक है।

मेरा ख़याल है कि इसे आज बहुत-से विदेशी लेखक भी समझते हैं, जिनमें कुर्ट वोन्नेगुट, गाब्रियल गार्सिया मार्क्वेज़ जैसे प्रमुख लेखक भी शामिल हैं। हम ही नहीं, अपितु वे भी हमसे संयुक्त सान्निध्य की तलाश करने का आग्रह कर रहे हैं। निस्सन्देह, इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारा विचारधारात्मक पुनर्जन्म हो रहा है, कि एक-दूसरे की ओर अभिमुखता का युग आ गया है। जी नहीं। परन्तु एक नयी ऐतिहासिक अवधि आ गयी है। पहला पग उठाया जा चुका है: समस्त राजकीय, सामाजिक, जातीय अन्तरों पर क़ाबू पाते हुए हम *सार्विक* समस्याओं के प्रति एकसमान रुख़ की तलाश करने का प्रयास कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, युद्ध तथा शान्ति की समस्या के प्रति। आख़िरकार हम लोग यह अनुभव करते हैं कि ख़तरा केवल एक देश द्वारा दूसरे देश पर हमला किये जाने का ही नहीं है, अपितु हमारी पूरी सभ्यता के नष्ट हो जाने का भी है। हमारी स्थिति को मैं कुछ इस तरह के दृष्टान्त से चित्रित करना चाहूंगा: यदि कुछ लोग अपने को समुद्र में पायें और उनमें से हरेक अपने ही लट्ठे पर तिरने लगे, तो वे सब मर जायेंगे। उन्हें एक-दूसरे के पास आना चाहिए, अपने सारे लट्ठों से नाव तैयार करनी चाहिए। तब उन्हें ज़िन्दा रहने की ज़्यादा सम्भावना प्राप्त होगी। लेकिन वे एक-दूसरे के लट्ठे के लिए जितना अधिक छीना-झपटी करने लगेंगे, ज़िन्दा रहने की सम्भावना उतनी ही कम हो जायेगी।

मैं फिर दुहराता हूं कि दुनिया आज नये सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित हो रही है, सांस्कृतिक संचार के नये सिद्धान्तों का जन्म हो रहा है। इसलिए हम सबके सृजन-कार्यों में नये पहलू प्रकट हो रहे हैं।

पिछले वर्ष मैं तुर्की में था। प्रसंगत:, मुझे तुर्क साहित्य ने बहुत प्रभावित किया। पूर्वी देशों में, विशेष रूप से अरबी तथा फ़ारसी साहित्य की पृष्ठभूमि में तुर्क साहित्य में इस समय बहुत उभार आ रहा है और वह पल्लवित हो रहा है। ऐसा क्यों?

हमारी बातचीत के आरम्भ में आपने दाग्लार्स की चर्चा की थी। वह महान लेखक हैं। और योद्धा हैं। तुर्की में बहुत-से लेखक हैं, जिनके

सृजन-कार्यों में सामाजिक धाराएं ज्वलन्त रूप से प्रकट होती हैं, जो बुद्धिजीवी समुदाय तथा युवाजनों की आत्मा को प्रतिबिम्बित करती हैं।

मैंने देखा कि वहां लोग समस्त जनगण के विकास के अपरिहार्य पथ के रूप में समाजवाद की बात करते हैं, इसलिए कि पूंजीवाद का आधार निःशेष हो चुका है। समाजवाद में वे भविष्य के दर्शन करते हैं। यह यासर कमाल, अज़ीज़ नेसीन और बेकिर याल्दीज़ जैसे तुर्क लेखकों का दृष्टिकोण है।...

यासर कमाल का नया उपन्यास तुर्क अख़बारों में धारावाहिक रूप में अविकल प्रकाशित हो रहा है। इससे पता चलता है कि साहित्य जनता के लिए जीवन्त आवश्यकता बन गया है। उसके पल्लवन का कारण यह है कि समाज में संघर्ष विकसित हो रहा है, जिसे सामाजिक विचार उत्तप्त कर रहे हैं। ईरान में ऐसा नहीं हो रहा है। अरब देशों में भी नहीं। इन देशों में जातीय समस्याओं को सामाजिक संघर्ष से अधिक स्थान प्राप्त है।

हमारे युग के महानतम कवियों में मैं पाब्लो नेरूदा और नाज़िम हिक़मत के नाम लूंगा। वे आधुनिक विश्व साहित्य में उल्लेखनीय विभूतियां हैं, उनकी नियतियां अत्यन्त शिक्षाप्रद हैं।

तुर्की में नाज़िम हिक़मत की कृतियों का इस समय व्यापक रूप में प्रकाशन हो रहा है। वह आधुनिक तुर्क संस्कृति के प्रतीक हैं। एक भी ऐसा अख़बार या पत्रिका नहीं है, जो उनके विषय में लेख प्रकाशित करना अपने लिए सम्मानजनक न मानता हो। उनका काव्य हमारी भी संयुक्त धरोहर है। तुर्क संस्कृति हिक़मत की उपेक्षा नहीं कर सकती। सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी अख़बार तक भी नहीं।

मेरा ख़याल है कि हम तुर्क साहित्य के बारे में और ज़्यादा तथा बेहतर जानने लगेंगे, जो चार करोड़ की आबादीवाले राष्ट्र के समृद्ध इतिहास तथा जीवन का प्रतिनिधित्व करता है और तीक्ष्णतम सामाजिक समस्याओं को प्रकाश में लाता है।

**वी० ले०:** क्या आप अक्सर तुर्की जाया करते हैं?

**चं० आ०:** तुर्की की कई सांस्कृतिक हस्तियों से मेरी मुलाक़ातें हुईं, बातचीत हुई। परन्तु मैं तुर्की केवल एक ही बार गया। वहां मेरी कृतियां अक्सर छपती रहती हैं। इस समय वहां 'फ़ुज़ी पर्वत'* के मंचन की

* आइत्मातोव और कज़ाख़ नाटककार काल्ताई मुहम्मदजानोव का नाटक।

तैयारी चल रही है, 'जब पहले सारस आये' का प्रकाशन हो रहा है—मेरी कृतियों के पूरे आठ संस्करण तुर्की में निकल चुके हैं।

**वी० ले० :** आप तुर्क भाषा पढ़ लेते हैं?

**चं० आ० :** मैं दोस्तों की तुर्क भाषा में चिट्ठियां पढ़ लेता हूं और उसी भाषा में उत्तर देता हूं। मैं अख़बार भी पढ़ लेता हूं (अख़बार पढ़ना और उपन्यास पढ़ना एक ही चीज़ नहीं है)। मुझे जितनी भाषा आती है, वह बातचीत के दौरान साहित्य, देश, वहां चल रहे सामाजिक संघर्ष के बारे में जानकारी पाने के लिए पर्याप्त है।

**वी० ले० :** यदि सूर्य की छवि की ओर, जो आपको, आपकी कृतियों को प्रभावित करनेवाले सांस्कृतिक अनुभव की समग्रता का प्रतीक है, लौटें, तो कहा जा सकता है कि आपकी कृतियों को संस्कृतियों के अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की उपज माना जा सकता है। इसके अलावा आप द्विभाषी लेखक भी हैं।

**चं० आ० :** यदि आप निजी तौर पर मेरी चर्चा कर रहे हैं, तो मेरा मामला वस्तुतः दो संस्कृतियों के संगम का उदाहरण है। समय के गुज़रने के साथ मैं इस बात का और भी ज़्यादा क़ायल होता जा रहा हूं कि रूसी साहित्य तथा रूसी भाषा ने क़िर्ग़िज़ संस्कृति के साथ मिलकर मुझ पर अपना प्रभाव डाला है। क़िर्ग़िज़ साहित्य, नाटक तथा गद्य ने मेरे लेखन-कार्य के आरम्भ होने से पहले ही लोक मिथक तथा पौराणिक कथाओं का विकास किया था। इन दो धाराओं, दो संस्कृतियों—*रूसी तथा क़िर्ग़िज़*—का एक ही दिशा में संगम हो गया।

जैसा कि सुविदित है, दो संस्कृतियों के संगम के क्षेत्र में नाना दिलचस्प परिघटनाएं प्रकट हुआ करती हैं। दो संस्कृतियों के संगम पर *द्विभाषी* लेखकों का आविर्भाव होता है, जो दो भाषाओं में समान रूप से पारंगत होते हैं। यह तो है एक पहलू। दूसरा पहलू: ऐसी प्रक्रियाएं चलती रहती हैं, जो कम दिलचस्प परन्तु काफ़ी कुतूहलजनक हो सकती हैं—ऐसे जातीय लेखकों का उद्‌भव, जो रूसी भाषा में लिखते हैं। ऐसे एक लेखक, उदाहरण के लिए, ओल्जास सुलेमानोव हैं।

यह सच है कि यदि सुलेमानोव ने केवल रूसी में ही नहीं, अपितु कज़ाख साहित्यिक भाषा में भी लिखा होता, तो यह चीज़ दुगुनी दिलचस्प होती। यह शिकायत नहीं है, झिड़की नहीं है। सब कुछ जीवन की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यह तो महज़ सैद्धान्तिक अर्थ में प्रस्तुत विचार है। अच्छा होता, अगर इतना प्रखर प्रतिभाशाली, मौलिक कवि,

अपने चिन्तन के सार की दृष्टि से ऐसा जातीय तथा अन्तर्जातीय कवि कज़ाख़ भाषा में भी लिखता।

कुछ अन्य जातियों के साहित्य में भी द्विभाषाई परिघटना जन्म ले रही है—उसके प्रति अधिक समझदारी से युक्त रुख़ अपनाया जाना चाहिए, उसके सम्पूर्ण तथा समान विकास में योग दिया जाना चाहिए। इसके लिए लेखक से दैनंदिन जीवन तथा साहित्य में उपयोग में आनेवाली भाषाओं के चहुंमुखी ज्ञान की अपेक्षा की जाती है। द्विभाषावाद तब अत्यन्त फलप्रद होता है, जब अपनी मातृभाषा का रूसी भाषा के साथ विकास तथा उपयोग किया जाता है।

द्विभाषावाद जातीय संस्कृति का नया रूप है: अपनी भाषा खोकर जातीय संस्कृति के विकास का, स्वतंत्र संस्कृति का कोई सवाल ही नहीं उठता।

हमें लोगों के बहुमुखी हितों को ध्यान में रखते हुए बुद्धिसंगत ढंग से काम करना चाहिए। द्विभाषावाद को जातीय संस्कृतियों का विकास करना चाहिए, उनका दमन नहीं, इसलिए कि किसी भी जनता की भाषा उसकी प्रतिभा से निर्मित अनुपम भंडार है। भाषाएं लुप्त हो सकती हैं, बहुत-सी लुप्त हो भी चुकी हैं, परन्तु उनका जन्म मुश्किल से ही होता है। वह समय सदा-सर्वदा के लिए गुज़र चुका है, जब भाषाएं जन्म लिया करती थीं। हमारे पास जो है, उसे हमें बचाकर रखना होगा। यह पूरी मानवजाति की सम्पत्ति है।

*अन्तर्राष्ट्रीयतावाद* सर्वोपरि विचारधारात्मक एकता के आधार पर पारस्परिक सहायता तथा अन्योन्यक्रिया है। अधिक विकसित संस्कृति दूसरी संस्कृति की सहायता करने का दायित्व ग्रहण करती है।

व्यावहारिक, सुस्पष्ट तथा सच्ची सहायता का एक उदाहरण क़िर्ग़िज़ फ़िल्म-निर्माण कला का विकास है। पन्द्रह वर्ष पहले तरुण विशेषज्ञ मास्को और लेनिनग्राद से आये और हमारे साथ मिलकर उन्होंने फ़िल्म-उद्योग की स्थापना का काम आरम्भ किया। सोवियत फ़िल्म-निर्माण कला संस्थान* में प्राप्त अनुभव तथा शिक्षा और रूसी सिनेमा-निदेशकों की सहायता की बदौलत क़िर्ग़िज़िया के पास आज अपना फ़िल्म-उद्योग है।

दूसरा उदाहरण है वैज्ञानिक सहायता, जो प्राचीन तुर्क शब्दकोश के प्रकाशन में दी गयी। कुछ वर्ष पहले लेनिनग्राद के विद्वानों ने एक

---

* मास्को में अखिल संघीय सिनेमाटोग्राफ़ी संस्थान, जिसकी स्थापना १९[illegible] में हुई थी।

बृहत्कार्य सम्पन्न किया—यह था ७वीं तथा ११वीं सदियों के बीच उपयोग में आनेवाली प्राचीन तुर्क भाषा का शब्दकोश। इसमें कोई अतिरंजना नहीं है कि यह रूसी तुर्कविशेषज्ञों का पराक्रमपूर्ण कार्य था।

एक ज़माना था, जब तुर्क जातियां साइबेरिया की विस्तृत भूमि पर बसी हुई थीं। उनकी अपनी संस्कृति, लिपि थी, जो ओर्ख़ोन-येनिसेई संस्कृति के आलेखों, पांडुलिपियों तथा पुस्तकों में संरक्षित रही। मंगोल-तातार हमले के बाद ये सब जातियां पूरी दुनिया में बिखर गयीं। रूसी विद्वानों को प्राचीन लिपि का संग्रह करने तथा उसका अर्थ निकालने में पूरे सौ वर्ष लगे। शब्दकोश में रूसी में अनूदित २०,००० से अधिक शब्द तथा पद हैं। रूसी विद्वानों ने हमारे पूर्वजों की लुप्त हो जानेवाली भाषा हमें लौटा दी। यह गहन अन्तर्राष्ट्रीयतावादी कार्य है। यह हमें लौटायी गयी हमारी सम्पदा है। ये हैं बौद्ध पाठों, मैनिकीयन* तथा ईसाई धर्म की पुस्तकों का अनुवाद, चीनी और फ़ारसी स्रोतों से उइगुर भाषा में अनुवाद, ज़रतुश्त (पारसी) धर्म के पाठ, युसुफ़ बालासागुनी का काव्य 'कुताद्गू बिलिग' (ज्ञान, जो सुख देता है), जिसने तुर्क लिखित काव्य की नींव रखी, महमूद अल-काश्गारी का ११वीं सदी का शब्दकोश। यह है मेरे लिए अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का दृष्टान्त! प्रत्येक अक्षर का अर्थ निकाल लिया गया। ऐसा उदाहरण हमें और कहां मिल सकता है?

**वी० ले०:** आपने 'धरती माता' और 'आमने-सामने' कृतियां पहले क़िर्ग़िज़ भाषा में लिखी थीं, फिर उनका रूसी में अनुवाद किया। परन्तु 'सफ़ेद जलयान', 'विदा, गुलसारी!', 'जब पहले सारस आये' आपने रूसी में लिखीं। क्या वजह है कि एक मामले में आप रूसी और दूसरे मामले में क़िर्ग़िज़ में लिखते हैं?

**चं० आ०:** मैं दो स्कूलों में पढ़ा। शुरू में क़िर्ग़िज़ स्कूल में, फिर रूसी स्कूल में, एक बार फिर क़िर्ग़िज़ स्कूल और उसके बाद फिर रूसी स्कूल में। उसके बाद मैं पोलिटेक्निकल स्कूल, इंस्टीट्यूट में पढ़ा, मास्को में इंस्टीट्यूट में पढ़ाई की। इस तरह कभी एक तो कभी दूसरी भाषा का अध्ययन करता रहा।

इसी कारण मैं रूसी में लिख सकता हूं और उसका क़िर्ग़िज़ में अनुवाद कर सकता हूं।

---

* मैनिकी—एक धार्मिक पद्धति के अनुयायी, जो शैतान को परमात्मा के साथ सह-शाश्वत मानती थी; द्वैतवादी।

**वी० ले०:** अपनी रचनाओं को सिनेमा की भाषा में ढालने में (विषय को एकाएक बदलने के लिए माफ़ी चाहता हूं) कौन-सी समस्याएं आपके समक्ष खड़ी होती हैं? एक लेखक के नाते आपको फ़िल्म में क्या आकर्षित करता है और क्या फ़िल्म का रूप ग्रहण करने पर आपकी रचनाएं बहुत कुछ खो बैठती हैं?

**चं० आ०:** मैं अपना उत्तर भूमिका के साथ शुरू करूंगा। यदि अभिप्राय जातीय संस्कृति से है, तो आज कोई भी जातीय संस्कृति *फ़िल्म-निर्माण उद्योग* के बिना पूर्ण नहीं हो सकती। फ़िल्मों के बिना आधुनिक संस्कृति की कल्पना तक नहीं की जा सकती।

फ़िल्मों का जनव्यापी स्वरूप होता है और वे साहित्य को दृष्टव्य बनाती हैं, इन बातों की बदौलत साहित्य मनुष्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है।

**वी० ले०:** लोग कहते हैं कि सिनेमा-कला के अपने नियम होते हैं, परन्तु ये शब्द बहुधा ऐसे डायरेक्टर को न्यायोचित ठहराने के काम आते हैं, जो किसी साहित्यिक कृति के साथ छूट लेता है। किसी भी साहित्यिक कृति की रजतपट पर प्रस्तुति से उसका सार सदैव विकृत होता है। प्रसंगत:, केवल रजतपट पर प्रस्तुत किये जाने के मामले में ही नहीं। गद्य की नाना क्लासिकीय रचनाएं भी आज थियेटर में मंचित की जा रही हैं। ऐसा क्यों? क्या इस कारण कि अच्छे आधुनिक नाटक नहीं लिखे जा रहे हैं? नहीं! और क्या इसलिए रंगमंच निदेशक उसे, जो "सामने पड़ा है", चुन लेते हैं, यह मानते हुए कि कला की भिन्न-भिन्न क़िस्मों तथा रूपों के बीच विभाजन-रेखा अस्थिर रहती है, कि इस रेखा को पार करने में कोई हानि नहीं है, वे उपन्यासों को नाटकों में, कविताओं को बैले में, काव्य-उपन्यासों को आपेरा में बदल डालते हैं? उदाहरण के लिए, यह सुविदित है कि हाल में बेंजामिन ब्रिट्टेन ने टामस मान की कृति 'वेनिस में मृत्यु' से आपेरा तैयार किया (यहां आशय सिद्धान्त से है, मूल्यांकन से नहीं)।

फिर बाख़ के क्लासिकीय संगीत का लुई आर्मस्ट्रांग द्वारा जाज़ रूपान्तरण! मैं मानता हूं कि यह मेधापूर्ण कार्य था, परन्तु बाख़ क्यों?

लेस्सिंग ने अपनी कृति 'लाओकून' में हमें ऐसे साहस-प्रदर्शन से उस समय पहले ही सचेत किया था, जब उन्होंने कहा था कि कवि जब किसी चित्रकार से कोई विषय उधार लेता है, तो वह भारी ग़लती करता है और चित्रकार भी उस समय ग़लती करता है, जब वह कवि

के वर्णनानुसार चित्र तैयार करता है। चित्रकारिता के अपने विषय होते हैं और कविताओं के अपने विषय होते हैं। ठीक उसी तरह ऐसे विषय तथा कथानक होते हैं, जो मंचन के लिए नहीं होते। इसलिए एक रूप से दूसरे रूप में ढाले जाने पर कोई कलाकृति कुछ खोये बिना नहीं रह सकती : उदाहरण के लिए, जो चीज़ शब्दों में व्यक्त की गयी है, उसे कोई भी समान अर्थ में रंगों में चित्रित नहीं करेगा। आप, निस्सन्देह, जानते ही हैं कि गोगोल, फ़्लोबेर अपनी पुस्तकों के लिए चित्रकारिता के कितने कट्टर विरोधी थे। और फ़िल्मों के बारे में उन्होंने क्या कहा होता?

**चं० आ० :** मैं भी कृतियों के लिए चित्रकारिता के विरुद्ध हूं। मेरा मत है कि वह मुख्यतया बच्चों के लिए होनी चाहिए। परन्तु फ़िल्मों को मैं चित्रकारिता नहीं मानता। मुख्य बात यह है कि अभिनय करनेवाले लोग *जीते-जागते* मनुष्य हैं। उन्हें अभिनय में लीन हो जाना चाहिए, ताकि कृति का *सार* संप्रेषित कर सकें।

**वी० ले० :** पुस्तक पढ़ते समय नायक की कल्पना सटीक रूप में की जा सकती है, परन्तु फ़िल्म में छवि दर्शक पर थोपी जाती है।...

**चं० आ० :** नायक की मेरी कल्पना भिन्न हो सकती है, परन्तु मुख्य वस्तु है सार संप्रेषित करना। केवल इस कारण कि मैं नायक की इस रूप में और आप अन्य रूप में कल्पना करते हैं, फ़िल्म-निर्माण कला की ओर से मुंह नहीं फेरा जाना चाहिए।

यदि आधुनिक फ़िल्म-निर्माण कला ऐसा जलयान है, जिसका अपना मस्तूल, पतवार और साज़-सामान है, तो साहित्य जलयान का इंजन है। यह बात आज ख़ास तौर पर सच है।

हो सकता है कि रजतपट पर एक सौ प्रस्तुतियां असफल रहें, परन्तु एक प्रस्तुति कला की एक महती कृति सिद्ध हो सकती है। और मैं इसी एक महती कृति की आस लगाये रहता हूं।

**वी० ले० :** आप उनमें से किन्हें सबसे ज़्यादा सफल मानते हैं, जो आपने फ़िल्मों के लिए लिखीं?

**चं० आ० :** 'सफ़ेद जलयान' और 'लाल सेब'।

**वी० ले० :** आप संसार के विषय में अपना आम विचार किस तरह व्यक्त करते हैं— आपको क्या पसन्द है और क्या नहीं? क्या लिखते समय आप इनके बारे में सोचते हैं? अथवा अपने पात्रों के विषय में आपका लेखकीय निर्णय अवचेतन होता है?

**चं० आ० :** अपने नायकों को केवल विशुद्ध तर्कणा से समझ पाना शायद ही सम्भव हो। फिर भी यदि इसे हासिल करने की सर्वोत्तम विधि की बात हो रही है, तो मुझे इस समय यह लगता है कि सर्वाधिक परिपक्व विधि नायक का अन्य पुरुष की ओर से वर्णन है, जब लेखक स्वयं नायक का मूल्यांकन कर सके। इससे आप यथार्थ का सर्वाधिक पूर्ण रूप में पुनर्सृजन कर सकते हैं। उत्तम पुरुष की ओर से वर्णन करने से सम्भावनाएं संकुचित हो जाती हैं।

**वी० ले० :** नायक मनोवैज्ञानिक रूप से सत्य के अनुरूप हो सके, इसमें लेखक के जीवन्त अनुभव का हिस्सा कितना बड़ा होता है?

**चं० आ० :** यह तो नायक पर निर्भर करता है।

**वी० ले० :** उदाहरण के लिए, 'आमने-सामने' में इस्माइल।

**चं० आ० :** तब, निस्सन्देह, लोगों से नाना प्रश्न करने पड़ते हैं, जो बातें सुनने को मिलती हैं, उनकी तुलना करनी पड़ती है, पूछना-जानना पड़ता है।

**वी० ले० :** आपको अपनी कल्पना-शक्ति की सहायता कब लेनी पड़ती है? ऐसी सूरतों में, जब आपको कुछ मालूम न हुआ हो, स्वयं अनुभव न किया हो?

**चं० आ० :** लेखक को अन्दर से अभिनेता होना चाहिए। उसके पास विकसित अवलोकन-शक्ति का होना आवश्यक है। परन्तु लेखक सन्त अथवा देवदूत नहीं होते, उनके चरित्र, उनके व्यवहार में नाना, दैनंदिन अन्तर हो सकते हैं। परन्तु अपनी कला के माध्यम से वे सर्वांगपूर्णता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। और यह मुख्य बात है। निस्सन्देह, तब बहुत ही अच्छा होता है, जब लेखक का *वास्तविक* जीवन *आदर्श* जीवन के साथ मेल खाता हो। परन्तु यह नियम नहीं है, दो दूना चार नहीं है। यह तो अत्यन्त पेचीदी समस्या है। यहां गणना उच्च गणित के नियमों के अनुसार की जाती है।

**वी० ले० :** कला आपको सबसे अधिक क्या देती है: दिल की गांठ खोलने या किन्हीं सत्यों, विचारों, आस्थाओं का प्रचार करने की सम्भावना? बेशक, दोनों अटूट रूप से जुड़े हुए हैं, दिल खोलकर कहना शिक्षात्मक भी हो सकता है। परन्तु मैं यह जानना चाहता हूं कि आपको कौन-से आन्तरिक अभिप्रेरक लिखने के लिए अनुप्राणित करते हैं?

**चं० आ० :** मेरा ख़याल है कि खुले दिल को प्रचार की तथा प्रचार को खुले दिल की अनुपूर्ति करनी चाहिए।

मैं संगीत से सचमुच प्यार करता हूं। वह ऐसे सूक्ष्म तथा पकड़ में न आनेवाली भावनाओं को उद्वेलित करता है, जिसे शब्दों में स्पष्ट करना, ठोस रूप देना, व्यक्त करना कठिन है। शायद, इसी कारण वे आलोचना के लिए अभेद्य होती हैं। संगीत के विषय में चाहे कोई भी बात करे, उसकी टीकाएं सदैव अन्तर्ज्ञान पर, भावना पर आधारित होती हैं, वह अन्ततः केवल यही कह सकता है कि उसे संगीत पसन्द है या नहीं। साहित्य को वैज्ञानिक अर्थों, परिभाषाओं तथा शब्दों में व्यक्त करना अधिक सुगम है। क़रीब-क़रीब हरेक यह मानता है कि वह साहित्य का विशेषज्ञ, पारखी है। परन्तु संगीत के प्रति सब अधिक आदर का भाव प्रकट करते हैं।

परन्तु साहित्य के भी अपने लाभ हैं। उसमें मनुष्य अपने को अधिक पूर्णता के साथ, बहुस्वर संगति के साथ व्यक्त कर सकता है। मैं तो कहूंगा, और भी अधिक ज़ोरदार ढंग से—केवल गद्य ही *जीवन* तथा *इतिहास* का पुनर्सृजन कर सकता है। यह बात यथार्थवाद के लिए विशेष रूप से सच है। वह समस्त कलाओं का शिरोमणि है, उसका तना है। यथार्थवाद बड़े लाभ प्रदान करता है, क्योंकि कला में अन्य विधियों की कई शर्तें होती हैं और केवल यथार्थवादी गद्य की ही ऐसी *शर्तें* नहीं होतीं। सदैव, तब भी, जब आप अपनी दिल की गांठ खोल रहे हैं, आप अपने बारे में नहीं, संसार के बारे में अधिक बोलते हैं। फिर भी जब मैं लिखने लगता हूं, तो मैं जीवन और भावनाओं के बारे में *अपने* विचार प्रस्तुत करना चाहता हूं, चाहता हूं कि मेरी पुस्तक पढ़कर लोग अपने को जानें, अपने को समझें।

**वी० ले०:** आपके चिन्तन तथा विचारों की अभिपुष्टि में "सकारात्मक नायक" क्या भूमिका निभाता है? कुछ समालोचकों का कहना है कि अब साहित्य में उल्लेखनीय प्रवृत्ति इतना सकारात्मक तथा नकारात्मक नायकों को पेश करना नहीं, जितना कि लोगों में अच्छाई और बुराई का अध्ययन करना है। उदाहरण के लिए, आपके मोमुन* और चोरो**।

**चं० आ०:** मैंने अपने विचारों का अपने नायक में समावेश किया, मुझे वह पसन्द ही नहीं है, मुझे तो उसके लिए लड़ना भी चाहिए। परन्तु उसमें भिन्न तत्त्व हैं और उसे जटिल आन्तरिक संघर्ष का सामना करना

* 'सफ़ेद जलयान (आख्यान के बाद)' का नायक।
** 'विदा, गुलसारी!' का नायक।

पड़ता है। इसलिए, मेरी राय में, साहित्य का यह कार्यभार नहीं है कि वह किसी अच्छे कृषिविशारद या सामूहिक फ़ार्म के ख़राब अध्यक्ष, अग्रणी मज़दूर या घृणित शराबी की आलोचना करे या उसकी प्रशंसा करे। यह है पहली चीज़। दूसरी चीज़ यह है कि समालोचक "सकारात्मक नायक" का जो अर्थ लगाते हैं, वह बहुधा सरलीकरण होता है।

मैं समालोचकों के साथ बहस में नहीं पड़ना चाहता, परन्तु मैं उस समय भ्रान्त हो जाता हूं, जब हम अपने लिए किसी पवित्र और प्रिय वस्तु के वास्ते घिसे-पिटे शब्द का उपयोग करते हैं।

यह पवित्र वस्तु कई तरह से व्यक्त की जा सकती है और हर बार हम उसके लिए एक ही शब्द—"सकारात्मक नायक"—का उपयोग करते हैं। क्या यह अच्छी बात है? आख़िरकार, पवित्र वस्तुएं सर्वथा भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। मेरे लिए यह नारी, प्यार, पराक्रम, ईमानदारी या चुनौती हो सकती है।

**वी० ले०:** ओथेलो, मान्फ़्रेड, फ़ाउस्ट, ओनेगिन और पेचोरिन को मुश्किल से ही "सकारात्मक नायक" कहा जा सकता है, फिर भी हम उन्हें पसन्द करते हैं।...

**चं० आ०:** यदि नायक का अपना *निजी व्यक्तित्व* नहीं है, तो उसके अच्छे कार्य कैसे भी क्यों न हों, पाठक उसकी ओर आकर्षित नहीं होगा। यह नायक हद से हद सुन्दर देवप्रतिमा ही सिद्ध होगा। परन्तु जिन व्यक्तित्वों की आपने चर्चा की है, वे विरोधाभासभरे, शक्तिशाली तथा आन्तरिक सम्पदा से भरपूर हैं।

बात यह है कि अविवादास्पद, अथवा, जैसा कि कहा जाता है, आदर्श नायकों के साथ-साथ सदैव ऐसे लोग विद्यमान रहे और विद्यमान हैं, जो अपनी सम्भावनाओं को—इस या उस कारण—सशक्त ढंग से उजागर नहीं कर सके, हालांकि क्षमता की दृष्टि से कर सकते थे। साहित्य से इस बात की अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक तथा आर्थिक अवस्थाओं के समस्त समुच्चय को ध्यान में रखते हुए सामाजिक परिवेश के प्रसंग में व्यक्ति का अध्ययन करे। इस प्रकार का एक पात्र था गैडफ़्लाई, जिसने पराक्रमभरे कार्य किये और दूसरों का आह्वान किया कि वे उसके उदाहरण का अनुसरण करें।

**वी० ले०:** इस क़िस्म के पात्रों में, शायद, आपके दुइशेन को शामिल किया जा सकता है। निस्सन्देह, 'पहला अध्यापक' का दुइशेन अनुसरण के लिए एक अविवादास्पद उदाहरण है। परन्तु, मेरी राय में,

आपका तानाबाई कोई ख़राब दृष्टान्त नहीं है—वह भले ही अनुसरण करने के लिए न हो, इस योग्य तो है ही कि उस पर विचार किया जाये: आख़िरकार, आपका तानाबाई "सकारात्मक नायक" है (मुझे याद है कि लेखक गेओर्गी रादोव ने तो उसे बुद्धिजीवी नायक तक कहा था), हालांकि वह आदर्श नायक नहीं है, पर, शायद, इसी कारण वह अधिक घनिष्ठ और मानवीय है। ... और दुइशेन, कहा जा सकता है, उसी तरह हमारी पहुंच के बाहर है, जिस तरह किंवदंतियों का वीर मनास है, जिसमें वे गुण निहित हैं, जो आम नश्वरों में या तो होते ही नहीं हैं, अथवा बहुत अधिक नहीं होते।

**चं० आ०:** सचमुच, साहित्य में एक और क़िस्म का पात्र है: उदाहरण के लिए, मेलेख़ोव* अथवा मीश्किन**। उनमें भी नेकी, ईमानदारी तथा अटलता का स्फटीकरण होता है। इसलिए, मेरे ख़याल से, कला का उद्देश्य यह होना चाहिए कि मनुष्य में रुचि उत्पन्न की जाये, उसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया जाये, उसकी अनन्त विविधताओं में उसे समझने और उसका आदर करने की इच्छा को बढ़ावा दिया जाये।

इस सिलसिले में मैं साहित्य में नायक के *विकासक्रम* के बारे में कुछ कहना चाहता हूं। क्रान्ति होने के बाद के पहले वर्षों के लिए जो अभिलाक्षणिक था, जो युग के रोमांटिक उभार को प्रतिबिम्बित करता था, जो हैरतंगेज़ और कल्पनाशक्ति के परे था, वह लुप्त न होते हुए भी हमारे समाज की अग्रगति के साथ, उसकी सामाजिक-ऐतिहासिक संजटिलता के साथ पृष्ठभूमि में चला गया।

अपने सशक्त, प्रचंड, आदर्श नायकोंवाले स्वच्छन्दतावाद से हम ठेठ, जीवन से गहन रूप से सम्बद्ध यथार्थवाद की ओर बढ़े। वे समालोचक ग़लती कर रहे हैं, जो हमें पीछे ले जाने का प्रयत्न करते हैं।

न वे पाठक ही सही हैं, जिन्हें केवल पुरानी धारणाएं प्रिय हैं। लेखक को उन्हें खुश करने का यत्न नहीं करना चाहिए। 'कुछ अपने विषय में' में मैंने लिखा था कि कतिपय पाठक, जिन्होंने 'जमीला', 'पहला अध्यापक', 'धरती माता' और दूसरी रचनाएं पसन्द कीं, कला

---

* मिख़ाईल शोलोख़ोव (१६०५-१६८४) के उपन्यास 'धीरे बहे दोन रे' (१६२८-१६४०) का नायक।

** फ़्योदोर दोस्तोयेव्स्की (१८२१-१८८१) के उपन्यास 'मूर्ख' (१८६८) का नायक।

के विषय में पुरानी धारणाओं से चिपके रहते हुए यह चाहते हैं कि मैं आगे भी केवल इसी भावना में लिखता रहूं। मैं आत्म-त्याग की बात नहीं सोच रहा हूं, मैंने 'विदा, गुलसारी' और 'सफ़ेद जलयान' से पहले जो लिखा, उससे मैं इन्कार नहीं करता, लेकिन मैं वहीं नहीं रुकना चाहता। साहित्य को निस्स्वार्थ भाव से अपनी सलीब साथ ले चलना चाहिए और जीवन की जटिलताओं की गहराई में पैठना चाहिए, ताकि मनुष्य अपने अन्दर, दूसरे लोगों में, समाज में सर्वोत्तम गुणों को जाने, उन्हें प्यार करे। और केवल प्यार ही न करे, अपितु उनके लिए चिन्तित हो, उनके लिए लड़े।

निस्सन्देह, पाठकों को दोषी ठहराना मुश्किल है — उनकी रुचि नाना परिस्थितियों के अन्तर्गत निरूपित हुई थी। फिर भी हमारे साहित्य का भावी विकास यह तक़ाज़ा करता है कि वे भी कुछ प्रयत्न करें। साहित्य के उपदेशात्मक रूप से हम वर्णन के विश्लेषणात्मक रूप की ओर बढ़े हैं। हमें मनुष्य के स्वभाव में गहरे पैठना चाहिए, ताकि उसकी कमज़ोरियों और अन्तर्विरोधों को छुपाये बिना उसे अधिक पूर्णता के साथ उजागर किया जा सके। खेद है, लोग हमसे कह सकते हैं कि हम साहित्य में नायक के विकासक्रम को ठीक नहीं समझते। परन्तु सभी प्रहारों से बचा नहीं जा सकता, सब लोगों को ख़ुश करना असम्भव है। हम केवल यही कर सकते हैं कि अपनी क़लम पकड़े रहें और अपना काम जारी रखें।

# मनुष्य तथा संसार। आठवां दशक*

क़िस्सा इस तरह शुरू हुआ: जर्मन जनवादी जनतंत्र के एक प्रमुख समीक्षक हाइन्ज़ प्लाविउस फ़्रूंज़े आये। उनका उद्देश्य था साहित्य समीक्षा पत्रिका 'वेइमारेर बाइट्रेगे' के लिए अपने देश में सबसे लोकप्रिय सोवियत लेखकों में से एक से भेंटवार्ता करना। चंगेज़ आइत्मातोव की पुस्तकें उस देश में उतनी ही लोकप्रिय हैं, जितनी कि अपने देश में। जर्मन जनवादी जनतंत्र के अकेले एक सबसे बड़े प्रकाशनगृह 'फ़ोल्क उंड वेल्ट' ने उनकी आठ कृतियों की ४,३८,७०० प्रतियां छापी हैं। उनमें एक अत्यन्त सुन्दर दोखंडीय संस्करण भी शामिल है। इसके अलावा 'फ़ोल्क उंड वेल्ट' के लाइसेंस पर 'रेक्लाम', 'फ़ेर्लाग डेर नात्सिओन', 'किंडेर्बुख़-फ़ेर्लाग' प्रकाशनगृहों से चंगेज़ आइत्मातोव की पुस्तकों के पन्द्रह संस्करणों की ७,६०,००० प्रतियां निकली हैं।

भेंटवार्ता कई घंटों तक (कई दिनों के दौरान) चलती रही। जैसा कि पाठक देख सकते हैं, उनकी बातचीत का विषय आइत्मातोव की रचनाओं तक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने जितनी समस्याओं को स्पर्श किया, उनका दायरा बहुत व्यापक था। उनका सम्बन्ध सोवियत संघ तथा जर्मन जनवादी जनतंत्र के साहित्य से ही नहीं, अपितु आज के विश्व साहित्य से भी था। वे एक दूसरे को बहुत सुगमतापूर्वक समझ सके: प्लाविउस जर्मन साहित्य तथा सौन्दर्यशास्त्र पर नाना पुस्तकों तथा लेखों के रचनाकार हैं और उन्होंने कई वर्षों तक सोवियत संघ में अध्ययन किया। उनकी पहली कृति हेगेल के विषय में थी, वह भी सोवियत संघ में ही प्रकाशित हुई। स्वभावत:, वह केवल रूसी भाषा ही नहीं, वरन सोवियत साहित्य भी बहुत अच्छी तरह जानते हैं।

प्लाविउस ने टेपरेकार्ड की हुई भेंटवार्ता को 'वेइमारेर बाइट्रेगे' पत्रिका के लिए जर्मन भाषा में रूपांतरित किया। पत्रिका

---

* 'नोवी मीर', अंक १२, १९७७।

ने महान अक्तूबर क्रान्ति की ६०वीं जयन्ती को अर्पित अपने अंक में उसे अविकल रूप में प्रकाशित किया। सोवियत पत्रिका 'नोवी मीर' ने इस भेंटवार्ता को सोवियत पाठकों के लिए अत्यन्त रोचक माना। इसलिए उसने दोनों पक्षों की अनुमति से उसका जर्मन भाषा से थोड़े-से संक्षिप्त रूप में रूसी में अनुवाद कराकर प्रकाशित किया।

**हा० प्ला०:** जर्मन जनवादी जनतंत्र में आइत्मातोव के बहुत बड़े प्रशंसक "समुदाय" की ओर से पहले मैं आपको उनका अभिवादन और शुभकामनाएं देना चाहता हूं। इसका ज्वलन्त प्रमाण है वे नाना प्रश्न, जिन पर हम भेंटवार्ता के दौरान विचार करेंगे और जिन्हें 'वेइमारेर बाइट्रेगे' के संपादकमंडल समेत मेरे अनेक सहयोगियों ने आपके समक्ष प्रस्तुत करने के लिए मुझसे कहा है। मैं सहयोगियों की चर्चा इस बात पर ज़ोर देने के लिए कर रहा हूं: मुझे सतही ढंग की दिलचस्पी नहीं, अपितु यह आस्था अभिप्रेरित करती है कि हमारी संस्कृतियों तथा साहित्यों में ऐक्य इतना अधिक बढ़ा है कि आपकी समस्याएं हमारी समस्याएं बन गयी हैं। यदि मैं भेंटवार्ता के दौरान हमारी समस्याओं को, कुछ हद तक ही सही, आपकी समस्या बनाने में सफल हो जाता हूं, तो यह परस्पर उपयोगी होगा।

सबसे पहले मैं इस भेंटवार्ता के वास्तविक विषय का विवेचन करने की अनुमति चाहता हूं: गद्य की समस्याएं, उसकी आज की अवस्था तथा वे कारक, जो उसे आठवें दशक में प्रभावित कर रहे हैं।

हमारे साहित्यिक वाद-विवाद में यह विचार (अथवा इस विचार के अर्थभेदों की पूरी शृंखला) हावी रहता है कि गद्य समेत समकालीन साहित्य में नाना सारभूत परिवर्तन देखने को मिलते हैं। यद्यपि मेरा अभिप्राय सर्वथा भिन्न-भिन्न रचनाकारों से है, मैं कतिपय नामों और कृतियों के नाम लेने की इजाज़त चाहता हूं, ताकि हमारी बातचीत अधिक ठोस बन सके। आपकी कृतियों के साथ-साथ सोवियत साहित्य में त्रीफ़ोनोव, रस्पूतिन, तेंद्रयाकोव, ग्रानिन और अस्ताफ़ियेव की पुस्तकों की चर्चा करना चाहता हूं। और जर्मन जनवादी जनतंत्र के साहित्य में ये नाम लेना चाहता हूं: क्रिस्टा वोल्फ़, कांट, श्ट्रिटमाट्टर, वेल्म, पिचमान और केलेर।

मैं इन लेखकों को एक ही ग्रुप में जमा नहीं करना चाहता। परन्तु जो परिवर्तन हो रहे हैं, वे उनकी कृतियों में स्पष्ट रूप से दिखायी दे रहे हैं।



7—907

लोग जब इस सदी के आठवें दशक की बात करते हैं, तो वे आम तौर पर सूचना के प्रवाह, वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति के परिणामों का हवाला देते हैं।

परन्तु मुझे तो श्रम के स्वरूप में उन परिवर्तनों के परिणाम और भी अधिक गहन प्रतीत होते हैं, जो काम की प्रक्रियाओं में प्रविधि के भाग में तीव्र वृद्धि के कारण हो रहे हैं। फलस्वरूप जीवन-यापन के रंग-ढंग में भी परिवर्तन हो रहे हैं, नयी मनोदशा का जन्म हो रहा है, जो साहित्य को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। उत्पादन-विधि बदलती जा रही है, स्पर्श्य वस्तुओं के साथ मनुष्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध, जिसकी अभिलाक्षणिकता शारीरिक श्रम है, अधिकाधिक परोक्ष बनता जा रहा है। व्यक्ति तथा परिवेशी सजीव जगत को परस्पर जोड़नेवाले नये कारकों की आवश्यकता उत्पन्न होती जा रही है।

उदाहरण के लिए, यह सम्भव है कि पर्यटन इन प्रक्रियाओं के प्रति अचेतन प्रतिक्रिया है, क्योंकि इस मामले में केवल सुख-समृद्धि के संवर्द्धन तथा विश्राम की आवश्यकता का ही नहीं, अपितु प्रकृति के समीप पहुंचने की अभिलाषा का भी प्रभाव पड़ता है। इस नयी स्थिति के, जिसमें मनुष्य अपने को पाता है, प्रति कला की भी प्रतिक्रिया इसी तरह की होती है। कला मनुष्य को व्यापक विश्व तथा परम्पराओं के विश्व के साथ घनिष्ठ सम्पर्क की आवश्यकता के बारे में बताती है, वह विशेष रूप से परावर्तन के तत्त्वों के ज़रिये, मिथकों का उपयोग करते हुए, चित्रण के विषय के रूप में बहुधा कला की ओर मुड़ते हुए अपनी बात बताती है।

समस्याओं का दूसरा समुच्चय, जो गद्य में उल्लेखनीय परिवर्तन लाया है, विज्ञान की बढ़ती हुई भूमिका से उत्पन्न होता है, जो "अदीक्षित" की पहुंच से बाहर सामाजिक समस्याओं से अधिकाधिक संलग्न होता जा रहा है। यह बात उन अधिकांश समस्याओं पर भी लागू होती है, जिनके क्षेत्र में दार्शनिक, जीवविज्ञानी तथा समाजविज्ञानवेत्ता काम करते हैं। ऐसे विकास के फलस्वरूप, मुझे लगता है, निश्चित रिक्त स्थान का उद्भव हुआ है। साधारण मनुष्य के जीवन-मरण से सरोकार रखनेवाले कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रश्न दृष्टि-परिधि के बाहर छूट गये हैं। मध्य युग में ये प्रश्न धर्म हल किया करता था; ज्ञान-प्रसारण काल के आगमन पर धर्म का स्थान दर्शन ने ले लिया। यह मेरी अनुभूति है कि

आज की स्थिति में कला की, विशेष रूप से गद्य की ऐसी ही भूमिका तेज़ी से बढ़ती जा रही है।

**चं० आ० :** यदि अपनी बातचीत को इसी दिशा में बढ़ायें, तो उसके दिलचस्प बनने की सम्भावना है, क्योंकि आधुनिक साहित्य तथा कला लगभग उस सबको अपनी परिधि में ले आते हैं, जो आज मनुष्य को चिन्तित करता है। ये हैं दैनंदिन जीवन, आत्मिक तथा सामाजिक जगत। मेरे ख़याल से आपने आधुनिक बौद्धिक जीवन की महत्वपूर्ण विशेषताओं का सही अवलोकन किया है। विज्ञान आज इतना विशेषीकृत हो चुका है कि वह सबके लिए सुलभ नहीं रहा। साथ ही आज संसार को एकता में, एक समष्टि के रूप में, जहां पृथक-पृथक क्षेत्र भी परस्पर सम्बद्ध, परस्पर निर्भर हैं, देखने की आवश्यकता उत्पन्न हुई है तथा अधिकाधिक तीक्ष्ण बनती जा रही है। यदि पहले इस प्रकार के दीर्घकालीन सम्बन्धों का अध्ययन धर्म तथा दर्शन का क्षेत्र था, तो आज वह साहित्य का, विशेष रूप से गद्य का मिशन बनता जा रहा है—परन्तु गद्य का ही नहीं—स्वभावतया यहां सीमाएं संकुचित नहीं की जानी चाहिए, रंगमंच, फ़िल्म, साहित्यिक समालोचना, आदि को नज़रन्दाज़ नहीं किया जाना चाहिए।

सबसे पहला कार्यभार है स्वयं अपने जीवन का संज्ञान प्राप्त करना : हमारे बाद आनेवालों को नहीं, अपितु हमें अपने को उत्तर देना होगा कि इस आठवें दशक में हम क्या हैं और कौन हैं, मानव-समाज किसका द्योतक है, विपरीत सामाजिक प्रणालियों के सह-अस्तित्व की अवस्थाओं में इस अखंडता की गतिकी क्या है, समाजवाद की प्राणवान द्वन्द्वात्मकता क्या है। और अन्त में यह उत्तर देना होगा कि मनुष्य क्या है, कौन है।

साहित्य ने सदैव भूमंडलीय अर्थ में सोचने का प्रयास किया, यह न भूलते हुए कि उसकी आधारशिला व्यक्ति है। यह है स्वयं मर्म का मर्म।

व्यक्ति की तुलना फ़ोकस से की जा सकती है, जिसमें यथार्थ के समस्त कारक संकेन्द्रित होते हैं। इन कारकों का अध्ययन हमें मनुष्य के माध्यम से समय की अन्तर्वस्तु, मर्म तथा प्रवृत्तियों को समझने की सम्भावना प्रदान करता है। यह शायद बहुत अमूर्त्त ध्वनित होता है, परन्तु किसी बुद्धिमत्तापूर्ण तथा संजीदे गद्य का लक्ष्य ठीक यही तो है। कला के विकास में प्रमुख तथा निर्णायक प्रवृत्तियां महान कलाकारों के स्वर में विशेष स्पष्टता के साथ ध्वनित होती हैं। ब्रेख़्ट ऐसे एक उदाहरण हैं।

मैं उन्हें संयोगवश स्मरण नहीं कर रहा हूं, क्योंकि उन्होंने गहन मानवीय समझ के साथ नये युग को, समाजवाद के युग को स्वीकार किया था और वह अपनी कला में युग की आन्तरिक नाटकीयता को प्रतिबिम्बित करने में सफल रहे।

परन्तु मैं पहले आम प्रश्नों पर अपनी बातचीत रोककर जर्मन जनवादी जनतंत्र में पाठक के बारे में कुछ शब्द कहना चाहता हूं। वह है ऐसा ठोस व्यक्ति, जिसका व्यापक ज्ञान है और जो पुस्तकप्रेमी है। उसे और मुझे, हम दोनों को इस प्रस्थान-बिन्दु से आगे जाना होगा कि जर्मन जनवादी जनतंत्र राज्य तथा समाज के रूप में एक सर्वथा नयी ऐतिहासिक परिघटना है। जर्मन जनवादी जनतंत्र दो संसारों की सीमा पर स्थित है। इसलिए वहां संसार के बारे में आम दृष्टिकोण के अपने विशिष्ट लक्षण हैं। मानवात्मा के सर्वोत्तम सृजन-कार्य जर्मन जनता से, अर्थात् जर्मन जनवादी जनतंत्र से भी जुड़े हुए हैं। जर्मन जनवादी जनतंत्र के गठन के साथ-साथ सामाजिक-ऐतिहासिक रूपांतरणों की अवधि भी आरम्भ हुई। हमारा साझा ध्येय—नये समाज का निर्माण—हमारा सामीप्य निर्धारित करता है, हम एक ही क़तार में खड़े हैं। परन्तु दूसरी ओर, मैं नहीं चाहूंगा कि आप बिल्कुल मेरी तरह हों। हमें विविधता की आवश्यकता है, क्योंकि वह हमें समृद्ध बनाती है तथा हमारी आत्मिक क्षमता को कई गुना बढ़ाती है।

इसलिए हमें, लेखकों, कलाकारों को, इस बारे में बहुत गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिए कि साहित्य तथा कला की नयी क्षमताएं क्या हैं, हम अपनी कला से क्या अपेक्षाएं कर सकते हैं, उसे किस तरह बोलना चाहिए, हमारे युग के अनुपम महत्व की गहराई तक पहुंचने के लिए क्या करना चाहिए और कैसे उसे सम्पन्न करना चाहिए, जिसे इस या उस कारण हम अतीत में नहीं कर पाये थे।

समाजवादी समाज समेत कोई भी समाज कला के विकास के लिए आदर्श, त्रुटिहीन अवस्थाओं का निर्माण नहीं कर सकता। केवल प्राकृतिक जल ही—आसवित नहीं—सृजन की प्यास बुझा सकता है।

हम पश्चिमी सामाजिक-आर्थिक प्रणाली तथा अपने समाजवादी समाज के बीच मूल अन्तरों को स्पष्ट रूप से देखते हैं। सबसे महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि हमारे जनगण में आत्म-सम्मान की विकसित भावना विद्यमान है। हो सकता है कि भौतिक सुख-समृद्धि के स्तर के मामले में वे अभी विकसित पूंजीवादी समाज के औसत व्यक्ति के बराबर न हों।

परन्तु हमारे मनुष्य को किसी आक़ा के सामने गिड़गिड़ाने की ज़रूरत नहीं है। उसे पता है कि समाज मुख्यतया उस पर ही निर्भर करता है और एक भी मुखिया उसके बिना काम आगे नहीं बढ़ा सकता।

यह है मुख्य वस्तु और यह अच्छी बात है।

साहित्य तथा कला की जीवन्तता अन्य चीज़ों के अलावा इस बात से मापी जाती है कि वे सामाजिक विकास के, जिसमें हमारे समाजवादी समाज की प्रगति भी शामिल है, अन्तर्विरोधों के मर्म में कितनी गहराई तक पैठे हुए हैं।...

**हा० प्ला०:** यहां मैं आपके चिन्तन-प्रवाह में थोड़ा-सा विघ्न डालने की अनुमति चाहता हूं। मैं, सबसे पहले, आपको उसके लिए धन्यवाद देना चाहता हूं, जो आपने जर्मन जनवादी जनतंत्र के बारे में कहा। यह सुखद संयोग है कि हमारी पहली भेंट जर्मन जनवादी जनतंत्र के गठन की जयन्ती के समय हो रही है।

**चं० आ०:** यह तो और भी अधिक सुखद है। इस पर्व पर आपको मेरी ओर से बधाई।

**हा० प्ला०:** हम लोग साहित्य तथा दर्शन के सम्बन्ध के बारे में, अधिक सटीक शब्दों में, साहित्य में दर्शन के प्रवेश के बारे में बात कर रहे थे। मेरी राय में, यह सम्बन्ध स्पष्ट रूप से कमज़ोर हो गया है, जो हमारी एक बढ़िया परम्परा से पीछे हटने का द्योतक है। ज्ञान-प्रसारण काल, क्लासिकवाद तथा स्वच्छन्दतावाद के साहित्य तथा दर्शन के बीच घनिष्ठ सम्पर्क हुआ करता था। साहित्य के इतिहास में बहुत पीछे न जाते हुए ब्रेख़्ट को उदाहरण के रूप में ले लें। वह मात्र नाटककार तथा प्रगीतकार नहीं थे, अपितु चिन्तक भी थे। और केवल अपनी सैद्धान्तिक रचनाओं में ही नहीं, अपितु अपने नाटकों तथा गद्य में भी।

यदि हम अपनी समाजवादी प्रणाली को लें, तो आप साहित्य तथा दर्शन के बीच क्या सम्बन्ध देखते हैं?

**चं० आ०:** मेरा ख़याल से, अभी यह कहना जल्दबाज़ी होगी कि यह समस्या हल हो चुकी है। जहां तक मैं समझता हूं, यह मसला कदापि सादा नहीं है। ललित साहित्य तथा दर्शन के बीच सुदृढ़ सम्बन्धों के उद्भव के लिए कुछ ऐतिहासिक समय की आवश्यकता होती है। प्रत्येक क्रान्ति के उपरान्त समाज में जीवन सर्वथा नये आधार पर आरम्भ होता है। सब कुछ पुनर्निर्मित होता है। नयी नियमसंगतियां काम करना आरम्भ करती हैं, नये सम्बन्ध जन्म लेते हैं।

इस शुरूआती मंज़िल में साहित्य तथा, विशेष रूप से गद्य, दार्शनिक से भावनात्मक कहीं अधिक होता है, उसका भावावेशपूर्ण और कभी-कभी नारेनुमा वर्णन की ओर झुकाव होता है। वह नये का अनुसरण करता है, विध्वंस, वीरता की प्रशंसा करता है, जिसमें अंशत: स्वत:स्फूर्तता तथा अंशत: सचेतनता होती है, वह पुराने के नाश तथा नूतन के निर्माण में पहले पगों का वर्णन करता है।

इन सबका — वास्तविक घटनाओं और साहित्य में उनके परावर्तन, दोनों का — व्यापक दार्शनिक विश्लेषण होना अभी बाक़ी है।

दूसरी ओर, ऐसी अवधि में, जब नया समाज जन्म ले रहा होता है, बहुत-सी चीज़ें अधिक स्पष्ट हो जाती हैं: वह है मित्र और वह है कट्टर शत्रु, जिसे परास्त करना आवश्यक है; तुम्हारे सामने औद्योगिकीकरण का तात्कालिक कार्यभार आ खड़ा होता है, जिसका अर्थ यह है कि तुम्हें कल-कारख़ानों और मिलों का निर्माण करना होगा। ..

आज की टिकाऊ व्यवस्था अधिक संजटिल है। विविधतापूर्ण, एक-दूसरे से गुंथे हुए कारक प्रकट हो जाते हैं, जिनके विश्लेषण, अध्ययन का तक़ाज़ा किया जाता है। मनुष्य बार-बार अपने बारे में प्रश्न की ओर, इस प्रश्न की ओर लौटता है कि वह कैसे ऐसा बना, वह आठवें दशक में क्या है।

जब साहित्य के समक्ष ऐसे प्रश्न उठ खड़े होते हैं, तो वह उन साहित्यिक साधनों के भंडार से संतुष्ट नहीं हो सकता, जो उसके पास आरम्भ में थे। आरम्भिक अवधि की नियमसंगति से भली-भांति अवगत होने के कारण मैं इस अवधि की कदापि बुराई नहीं कर रहा हूं।

**हा० प्ला०:** जिसके बिना हम आज वहां न होते, जहां हैं।

**चं० आ०:** बिल्कुल ठीक। यह है विकास की नियमसंगति। निस्सन्देह, हमने आरम्भ में घोषित विचारधारात्मक सिद्धान्तों को, जो समग्र रूप में हमारे समाज की आधारशिला हैं, ध्यानपूर्वक अक्षुण्ण रखा है। इसमें से हरेक को प्रिय सामाजिक विचार अक्षुण्ण रखे गये तथा आगे विकसित किये गये हैं, परन्तु इन विचारों की पृष्ठभूमि में पूरे जीवन में, समाज के समस्त क्षेत्रों में विभेदीकरण की प्रक्रिया चल रही है। हमारे समकालीनों का आत्मिक स्वरूप भी अधिक जटिल हो गया है। एक प्राथमिक उदाहरण को ले लें। तीस (मैं पचास की बात नहीं कर रहा हूं) वर्ष पहले "पर्यावरणीय संरक्षण" पद का अस्तित्व ही नहीं था। कोई इसका सपना तक नहीं देख सकता था। प्रकृति, भूमि, जल — सब प्रचुर

था। मनुष्य अभी उन सन्देहों तथा चिन्ताओं की जकड़ में नहीं आया था, जिनसे आज वह घिरा हुआ है। और यदि स्कूलों को, शिक्षा-दीक्षा की समस्याओं को ले लें तो?..

**हा० प्ला०:** रास्ते में मैंने तेंद्र्याकोव की कहानी 'स्नातक बनने के बाद पहली रात' पढ़ी थी।

**चं० आ०:** उसमें ठीक इन्हीं समस्याओं को स्पर्श किया गया है। आज वे सब, जिनका शिक्षाशास्त्र तथा शिक्षा-दीक्षा से सरोकार है, एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से गुंथे हुए हैं, यहां तक कि किशोर भी अपने शिक्षकों पर प्रभाव डालते हैं। आगे चलें। वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति के साथ-साथ वह चीज़ हो रही है, जिसे "सूचना विस्फोट" कहा जाता है। आज से पहले की एक भी पीढ़ी को इस हद तक सूचना-सामग्री उपलब्ध नहीं हुई थी।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क भी इतने विकसित पहले कभी नहीं थे, जितने आज हैं। केवल एक उदाहरण लें: आपके आगमन से पूर्व मेरे पास अंटोनियोनी, उनसे पहले हंगरी के लोग और उनसे भी पहले जापानी आये थे। क़िर्गिज़िया तक में, अपने छोटे-से जनतंत्र तक में हम नित्यप्रति समकालीन जीवन की लय-गति महसूस करते हैं, हमें संसार के साथ अपने सम्बन्धों की अनुभूति होती है और उसके साथ हम सम्पर्क में रहते हैं।

यह सब, स्वभावतः, साहित्य से अपनी दार्शनिक परिधि के विस्तार की अपेक्षा किये बिना नहीं रह सकता। आज का साहित्य सर्वांगीण विश्वदृष्टिकोण अपनाये बिना, हमारे समकालीनों की मनोदशा का विस्तृत चित्रण किये बिना नहीं रह सकता।

जब साहित्य, गद्य इसमें सफल हो जाता है, तो वह पाठक पर पूरी तरह छा जाता है। मेरी राय में, टामस मान की कृतियां सर्वोत्तम उदाहरणों में से हैं।

मैं यह बता दूं कि मैं उनकी कृतियों को ही नहीं, अपितु उनकी चिट्ठियों को भी बहुत चाव से पढ़ता हूं। वह उन महान रचनाकारों में से हैं, जिन्हें किसी भी प्रवर्ग में नहीं रखा जा सकता। ऐसा महसूस होता है कि उनके बाद किसी ऐसे रचनाकार को प्रकट होना चाहिए, जो और भी ऊंचा हो। जैसा कि कहते हैं, प्रगति की भावना की दृष्टि से। परन्तु यहां प्रगति अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि इस समय कोई पीछे हटने की प्रक्रिया चल रही है, परन्तु

आगे की ओर काफ़ी बड़ा पग अभी तक नहीं उठाया गया है और ऐसा पग टामस मान जैसा ही कोई बड़ा व्यक्ति उठा सकता है। परन्तु वह दूसरा टामस मान नहीं होगा, वह उनसे मूलत: भिन्न होगा।

**हा० प्ला० :** इसी बड़ी समस्या के बारे में मैं चन्द शब्द कहना चाहता हूं... मैं ख़ाकाबंदी के प्रयत्नों के विरुद्ध हूं, परन्तु सादे शब्दों में, साहित्य भिन्न-भिन्न स्तरों का होता है। एक ओर, टामस मान के प्रवर्ग के रचनाकार हैं, जो महान चिन्तक तथा अन्वेषक हैं। यह साहित्य अछूती धरती पर जोताई करता है। उसका अनुसरण—और यह नैतिक-सौन्दर्यात्मक बुराइयों से सम्बन्धित नहीं है—साहित्य करता है।...

**चं० आ० :** उसके पीछे अनुकरणकर्त्ता—सकारात्मक अर्थ में—चलते हैं।

**हा० प्ला० :** ...जी हां, साहित्य, जो इन महान अन्वेषणों को अपना लेता है और इस बात का ध्यान रखता है कि वे सर्वसुलभ हो जायें। मेरे ख़याल से, साहित्य के ऐसे "स्तर" एक-दूसरे के बिना अस्तित्वमान नहीं रह सकते।

और उनके अन्त:सम्बन्ध की चर्चा करना भी आवश्यक है, एक मामले में "हसन!"* और दूसरे मामले में "सूली पर चढ़ा दो!" न चिल्लाया जाये।

**चं० आ० :** आप जिस बारे में कह रहे हैं, उसे सोवियत साहित्य में सुगमतापूर्वक देखा जा सकता है। उसके पास शोलोख़ोव, लेओनोव, पास्तेरनाक, मयाकोव्स्की जैसी चोटी की हस्तियां हैं। नयी पीढ़ी के लेखकों में हमारे पास उस तरह की हस्तियां नहीं हैं। ऐसे बहुत दिलचस्प गद्यकार तथा कवि हैं, जो अधिकतर महान रचनाकारों के अनुभव का सहारा लेते हैं।

**हा० प्ला० :** साहित्य में विभेदीकरण का दूसरा कारण है पाठकों की विविधतापूर्ण दिलचस्पियां। सभी को टामस मान पढ़ना चाहिए, यह ज़रूरी नहीं है। और न सब उन्हें पढ़ेंगे।

**चं० आ० :** बिल्कुल सही। मैं आपसे पूर्णत: सहमत हूं। यह वास्तविक स्थिति के अनुरूप है।

परन्तु हमें और आगे बढ़ना चाहिए। ऐसा साहित्य भी विद्यमान है,

---

* स्तुतिगान करना।

जो तीसरी और चौथी श्रेणी का है। यह सर्वथा "वर्णनात्मक" साहित्य है, जिसे पश्चिम में बाज़ार की स्वत:स्फूर्त मांग जन्म देती है। हमारे यहां तो इस स्तर का साहित्य विषयों की प्रासंगिकता के सहारे चल निकलता है। मैं इस प्रश्न को खुला छोड़ देता हूं कि इस तरह की पुस्तकें उपयोगी हैं या हानिप्रद। पर जैसे कि ऊंचे-ऊंचे दरख़्तोंवाला वन झाड़ियों के बिना नहीं हो सकता, वैसा ही साहित्य में भी होता है।

सच्चे, योग्य रचनाकारों के साथ-साथ लेखन के क्षेत्र में सदा दस्तकार भी विद्यमान होते हैं। उनका भी कुछ असर होता है। कभी-कभी उनके लिए परिस्थितियां अनुकूल होती हैं, हालांकि उन्हें कोई भी सचेतन ढंग से उपलब्ध नहीं करता। हल्की-फुल्की रचनाएं जन सूचना साधनों, विशेष रूप से टीवी के लिए, सर्वाधिक सुगमतापूर्वक "परिवहनयोग्य" होने के कारण व्यापक रूप से प्रचलित होती हैं और उनके इर्द-गिर्द एक तरह का जनमत बन जाता है। इस बारे में क्या कहा जाये? यह तो जीवन है।...

**हा० प्ला०:** निस्सन्देह, जीवन जैसा है, उसी रूप में हमें उसे ग्रहण करना चाहिए। परन्तु इस बारे में बोलना भी चाहिए।

**चं० आ०:** आप ठीक कह रहे हैं। मैं इस पक्ष में हूं कि हमारे अख़बार अपने पन्नों में आज के साहित्य के बारे में अधिक तीक्ष्ण लेख छापें। केवल तभी नहीं, जब ये कृतियां ऐसे विचारधारात्मक गुण प्रतिबिम्बित करती हों, जो हमें पसन्द नहीं होते, अपितु तब भी जब वे नीरस, हवा के रुख़ के अनुसार लिखी गयी हों।

**हा० प्ला०:** बहुत-से लेखकों के साथ बातचीत के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि लेखक दो क़िस्म के होते हैं। कुछ किसी अन्य द्वारा सुझाये गये "कामकाजी" विषय पर लिखने में असमर्थ होते हैं तथा कुछ समर्थ होते हैं। यह विभाजन लेखक की सौन्दर्यात्मक परिपक्वता अथवा उसके सृजन में कलात्मक निर्बलता से सम्बन्धित नहीं होता। मैं फ़्रांत्स फ़्यूमान के शब्दों की याद दिलाना चाहता हूं, जिनमें उन्होंने एक बार तरुण लेखकों को सलाह देते हुए कहा था कि वे लिखना शुरू न करें, अगर उन्हें यह अनुभूति न होती हो कि उन्हें इस विषय पर अवश्य लिखना चाहिए।

**चं० आ०:** किसी भी सार्थक सभा की भांति कला की भी अपनी कार्य-सूची होती है। यदि हमारी समाजवादी कला की बात की जा रही है, तो यहां कार्य-सूची में "पहला मुद्दा" मज़दूर वर्ग का चित्रण है।

ऐसा होना भी चाहिए, क्योंकि अभिप्राय समाज के उस भाग से है, जिसका श्रम भौतिक सम्पदा का निर्माण करता है और जो हमारे सामाजिक संगठन का आधार है। परन्तु कार्य-सूची एक चीज़ है और वक्ता दूसरी चीज़ है। कार्य-सूची को अनुमोदित करना हमारे वश में है, परन्तु वह हमारे वश में नहीं है, जो वक्ताओं को कहना है। हरेक को स्वयं यह तय करना है कि क्या वह इस पहले मुद्दे के लिए तैयार है। ...

**हा० प्ला० :** हमें कई बार यह देखने को मिला कि मात्र ऐसे विषय के, जो कार्य-सूची में पहला मुद्दा था, चयन के ही कारण समीक्षकों ने लेखकों को पेशगी में ही बहुत रियायतें दे दीं।

**चं० आ० :** विषय का चयन नहीं, अपितु विषय के समाधान का स्तर सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण होता है।

**हा० प्ला० :** इसलिए कि निम्न स्तर तो विषय पर वक्तव्य मात्र होता है, कला नहीं। मेरे ख़याल से, "औद्योगिक" विषय पर लिखने की कठिनाई इस बात से जुड़ी होती है कि ऐतिहासिक दृष्टि से स्वयं विषय अभी अत्यन्त शैशवावस्था में है। इसके अलावा यह विषय मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक मिशन जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों के साथ अपरिहार्य रूप से जुड़ा हुआ है।

**चं० आ० :** जी हां, यदि काल के व्यापक पैमाने को लें, तो हमारे समाज में कला स्वयं समाज की भांति अभी विकास की आरम्भिक मंज़िल में है। इतिहास की दृष्टि से पचास या साठ वर्ष क्या होते हैं? निस्सन्देह, इस अर्से में अविश्वसनीय प्रगति हुई है। परन्तु हमें यह बात कभी विस्मृत नहीं करनी चाहिए कि हमने कुछ ऐसी चीज़ आरम्भ की थी, जो सर्वथा नयी थी, जैसी पहले कभी नहीं थी। फिर भी हम चाहते हैं कि ग़लतियां कम से कम हों। ज़ाहिर है, उन मामलों में यही हमारी विशेष सावधानी का कारण है, जब सीधे-सीधे यह कहना आवश्यक हो जाता है कि किसी "सामयिक" विषय के बारे में लिखी गयी कृति कला की दृष्टि से कमज़ोर है।

समसामयिक जीवन के विषय में हमारी कृतियों में जिस बात का अभाव रहता है, वह है समय की सांस, महान विचारों तथा प्रक्रियाओं को अपनी दृष्टि-परिधि में लेने और उन्हें कलात्मक गहराई के साथ तथा विविधतापूर्ण ढंग से प्रदर्शित करने का प्रयास।

टामस मान का एक लेख है, उसका नाम है 'ल्यूबेक आत्मिक

जीवन का एक रूप'। स्वयं नाम अनन्य रूप से एक बड़ा बिम्ब है। मैं नहीं सोचता कि "ल्यूबेक" (व्यापक अर्थ में) को लाज़िमी तौर पर एक निश्चित भौगोलिक स्थान होना चाहिए, हालांकि मेरा अपना एक ऐसा स्थान है, यह है मेरा अपना गांव शेकेर। परन्तु बात जीवन के सामाजिक अथवा भौगोलिक रूप की नहीं है, बात तो यह है कि परम्पराओं, निश्चित सामाजिक स्तर, संचित व्यावहारिक तथा आत्मिक अनुभव के प्रभाव के अन्तर्गत, विश्व का परिवर्तन करनेवाली प्रक्रियाओं के प्रभाव के अन्तर्गत, जिनके हम साक्षी हैं तथा जिनमें हम भाग लेते हैं, जीवन का आत्मिक रूप बनता है, जो प्रतिभा को पोषित करता है। यहां प्रत्येक लेखक के अपने भिन्न-भिन्न स्रोत तथा सम्बन्ध हैं तथा प्रत्येक को अपनी क्षमता-सम्भावनाओं के अनुसार काम करना चाहिए।

मज़दूर वर्ग के विषय में उल्लेखनीय कृतियां हमारे ओजस्वी आह्वानों की बदौलत जन्म नहीं लेतीं, अपितु केवल तब जन्म लेती हैं, जब स्वयं विषय लेखक के आन्तरिक रुझानों तथा अनुभव के साथ मेल खाता हो।

इस महत्वपूर्ण विषय के आधार पर गम्भीर कृतियों की, जिनमें अत्यन्त गहन यथार्थता हो, रचना पूरे समाज में तथा स्वयं मज़दूर वर्ग के बीच व्याप्त सांस्कृतिक वातावरण पर निर्भर करता है। इसका अर्थ यह है कि उद्यम के साथ लेखक आवश्यक सम्बन्ध को शिथिल न बनाते हुए हमें सम्पूर्ण जनता की सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षमताओं का वास्तविक विकास करना चाहिए। यह कार्यभार केवल नेक इरादों के साथ निपटाना मुश्किल है। मैंने "वातावरण" शब्द का उपयोग संयोगवश नहीं किया है। छोटे तथा बड़े, दोनों तरह के प्रश्नों के मामले में अनुकूल वातावरण कला के पल्लवन के लिए निर्णायक पूर्वाधार होता है।

**हा० प्ला०:** लेखकों की एक बैठक में फ़्रांत्स फ़्यूमान ने कोयला खान-मज़दूरों के जीवन के बारे में अपने प्रेक्षणों की चर्चा की। अपने बीच वे एक ढंग से बात करते हैं, परन्तु जब वे अपने बड़े अधिकारी के कमरे में प्रवेश करते हैं या किसी मंच पर खड़े होते हैं, तो उनके बोलने की शैली एकदम बदल जाती है। लोग मानो एक पर्यावरण से दूसरे पर्यावरण में प्रवेश करते हैं। यह पानी में लाठी की तरह है: वह वहां नहीं होती, जहां वह विद्यमान प्रतीत होती है, परन्तु जहां वह होती है, वहां ऐसे प्रतीत होता है, मानो वह विद्यमान नहीं है। क्या ऐसे मामलों

में हम व्यक्ति को तैयारशुदा सांचे में फ़िट होते हुए, एक ही भाषा को दो में विखंडित होते हुए नहीं देखते?..

**चं० आ०:** मेरे ख़याल से, ऐसा विभेदीकरण स्वाभाविक है: जीवन तथा कला, दोनों इस मामले में "भिन्न" भाषाएं बोलते हैं। बैले के माध्यम को यह दिखाने के लिए इस्तेमाल करने का विचार किसी के भी दिमाग़ में नहीं उठेगा कि मज़दूर श्रम की अपनी सफलताओं के बारे में बताने के लिए किस तरह अपने बड़े अधिकारी के कमरे में प्रवेश करता है। बैले का अपना क्षेत्र, अपना ही तत्त्व होता है। यह है पौराणिक आख्यान, लोककथाएं, उन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, जिन्हें पूर्णत: यथार्थपरक विश्वसनीयता के साथ मूर्त्त रूप नहीं दिया जा सकता।

फ़्यूमान के बारे में आपने जो कहा, उसमें कुछ भी अप्रत्याशित नहीं है। अपने रोज़मर्रा के व्यवहार में कोयला खान-मज़दूर बेतकल्लुफ़ी से बातचीत करते हैं, गालियां देते हैं, एक-दूसरे को सीधे जहन्नुम चले जाने के लिए कहते हैं। यह सब सामान्य बात है। सामाजिक "नीति-आचार" के नियमों के अनुसार वे महत्वपूर्ण सार्वजनिक मामलों में भाग लेते समय भिन्न ढंग से पेश आते हैं। प्रत्येक क्षेत्र में उनका आचरण अपने ढंग से यथार्थ होता है। पर, ज़ाहिर है, फ़्यूमान की नज़र में दूसरी चीज़ भी थी—यह कि जब मनुष्य सामाजिक रंगमंच पर पहुंचता है, तो वहां वह जानबूझकर गम्भीर मुद्रा धारण करता है, अपने बारे में विशेष प्रभाव पैदा करने, अपनी आवश्यक छवि प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। कालजयी साहित्य में हमें ऐसी कई आकृतियां देखने को मिलती हैं।

हमारी परिस्थितियों में भी ऐसी परिघटनाओं की जीवन-शक्ति को नकारना विचित्र-सी बात होगी। इसे न देखने से, अपनी कृतियों में उसकी उपेक्षा करने से हम, स्वभावतया, विश्वसनीयता गंवाने का जोखिम उठाते हैं।

**हा० प्ला०:** अपनी बातचीत जारी रखते हुए मैं आठवें दशक के गद्य की विशिष्टताओं के प्रश्न की ओर लौटना चाहता हूं। शायद हम उनका अधिक ठोस ढंग से विवेचन करने का प्रयत्न कर सकते हैं।

**चं० आ०:** आइये, प्रयत्न कर लें। मेरा ख़याल है कि इस बात को अपना प्रस्थान-बिन्दु बनाते हुए कि मानवजाति तथा उसकी आत्मिक संस्कृति सतत रूप से परिष्कृत होती जा रही हैं, हमारे साहित्यिक

अनुभव का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करना महत्वपूर्ण है। प्रगति तथा परिष्करण साहित्यिक विधा के क्षेत्र में विशेष रूप से दिखायी देते हैं। परन्तु यही बात कलात्मक अन्तर्वस्तु पर लागू होती है (उदाहरण के लिए, पूरे कथानक को कृति के नाम अथवा उपशीर्षक में स्पष्ट करने की पुराने गद्यकारों की आदत को स्मरण कर लें — इसके बाद उसे पढ़ना ज़रूरी नहीं रह जाता था)। जब हम आधुनिक गद्य की बात करते हैं — मेरा अभिप्राय संसारभर में सर्वोत्तम कृतियों से है — तो हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि वह बढ़ती हुई संवेदनशीलता के साथ जीवन की तात्कालिक अग्रगति को, निजी सम्बन्धों की जटिलतम द्वन्द्वात्मकता को अपनी गिरफ़्त में लेता है, यथार्थ को सटीक, सुस्पष्ट ढंग से प्रतिबिम्बित करता है, मनुष्य में छुपी अन्तरतम भावनाओं की खोज करने और उन्हें व्यक्त करने का प्रयास करता है।

साहित्य अतीत में भी इसका प्रयास करता था। परन्तु जड़ीभूत सोपाधिकताएं कभी-कभी उसे सर्वथा स्वाभाविक बनने से रोक दिया करती थीं। उदाहरण के लिए, नाटक में नायक के विचार "पार्श्व" से की जानेवाली टीकाओं की सहायता से संप्रेषित किये जाते थे। इसी तरह के यंत्रवत् लक्षण गद्य की भी विशिष्टता थे। आज हम जानते हैं कि मन के अन्दर चल रही प्रक्रियाएं कितनी महत्वपूर्ण होती हैं, उसमें जो छुपा होता है, वह कितना महत्वपूर्ण है।

**हा० प्ला०:** आपने जब हमारे साहित्य की आरम्भिक मंज़िल के बारे में कहा, तो आपने "वर्णनात्मक" शब्द का उपयोग किया था। यह शब्द हमारे यहां विचार-विमर्श का विषय है। मैंने ख़ुद इसे अपने कतिपय लेखों में इस्तेमाल करने का प्रयत्न किया, ताकि उसकी सहायता से साहित्य में विभिन्न स्तरों का विवेचन किया जा सके। उसके प्रति कुछ लोगों में नकारात्मक प्रतिक्रियाएं हुईं।

**चं० आ०:** परन्तु क्यों?

**हा० प्ला०:** शायद, इस शब्द का उपयोग करते समय मैंने पर्याप्त विभेदीकरण नहीं किया। वर्णन, शायद, वास्तविक रूप से गहन यथार्थवाद की दिशा में संक्रमणात्मक मंज़िल है। लेनिन ने जब नयी वस्तुओं के संज्ञान के बारे में कहा, तो उन्होंने लक्षित किया कि संज्ञान की कोई भी प्रक्रिया बाहर से आरम्भ होती है। बाहरी परतों तथा सतहों का अध्ययन लाज़िमी तौर पर वर्णन की ओर ले जाता है।

**चं० आ०:** आइये, यह उदाहरण लें। हम सबने निकोलाई

ओस्त्रोव्स्की की कृति 'अग्नि-दीक्षा' पढ़ी है और हम सब इस उपन्यास को सोवियत साहित्य की कालजयी रचना मानते हैं। उसके आधार पर हमारा नैतिक तथा आत्मिक संवर्द्धन हुआ। हरेक ओस्त्रोव्स्की के कठिनाईभरे जीवन के बारे में जानता है, यह जानता है कि किन परिस्थितियों में उन्होंने अपना उपन्यास लिखा था। लेकिन यह बात अगर अलग रख दी जाये, अगर उनका लेखक के रूप में मूल्यांकन किया जाये, अगर उनकी भाषा की सटीकता के बारे में, बिम्ब-रचना के बारे में बात की जाये, तो हम देखते हैं कि साहित्य उसके आगे बढ़ गया है। चूंकि बात नियमसंगत प्रक्रिया की हो रही है, इसलिए इसे ओस्त्रोव्स्की का "अपमान" मानने का कोई कारण नहीं है। उनका महत्व तो, निस्सन्देह, स्थायी है। परन्तु क्रमिक वर्णन की परम्परागत विधि परिपक्व पाठक के लिए, शायद, पर्याप्त नहीं रह गयी है। वर्णन के साधन सीमित हैं, वह हमें अपने यथार्थ की सम्पूर्ण जटिलता की अनुभूति कराने की स्थिति में नहीं है। यही मनुष्य के प्रति आधुनिक लेखकों द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण में बहुमुखी मनोविज्ञानवाद का कारण है।

मुझे हाल में एशिया तथा अफ़्रीका के तरुण लेखकों के ताशक़ंद में हुए सम्मेलन में बोलने का सुअवसर मिला था। अपने भाषण में मैंने कला के मुख्य विषय के रूप में मनुष्य की असीमित क्षमता विषयक प्रस्थापना की अभिपुष्टि करने का प्रयास किया था।

हमारे लेखकों को मानवात्मा के क्षेत्र में अध्ययन करने के लिए बहुत कुछ करना होगा, बहुत कुछ समझना होगा, ताकि, यों कहें, समीक्षात्मक यथार्थवाद की महान विभूतियों की बुलंदी तक पहुंचा जा सके, शक्ति तथा प्रभाव में उनकी बराबरी की जा सके।

**हा० प्ला०:** मेरे ख़्याल से, हमें समाजवादी यथार्थवाद के, जो अपने अस्तित्व के दशकों के दौरान विश्व कला की सबसे महत्वपूर्ण दिशाओं में से एक बन गया है, विकास की मौजूदा मंज़िल की, जिससे हम गुज़र रहे हैं, अधिक सटीकता के साथ व्याख्या करनी चाहिए। यह उन सामान्य गुणों के सम्बन्ध में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो समाजवादी देशों में कला के विकास में उजागर हुए हैं।

हम अपने साहित्य के विकास की पहली अवधि के बारे में पहले ही बात कर चुके हैं और हम दोनों इस पर सहमत हो गये थे कि उसने वे पूर्वाधार बना दिये हैं, जिनके बिना आगे का विकास असम्भव होता। मुझे लगता है कि इस समय हम दूसरी अवधि के मध्यवर्ती भाग से गुज़र

रहे हैं, जिसके महत्वपूर्ण गुण आप पहले ही बता चुके हैं। मैं एक और विशेषता पर ज़ोर देना चाहूंगा, जिसकी जर्मन जनवादी जनतंत्र के साहित्य में काफ़ी स्पष्ट ढंग से व्याख्या की जा चुकी है। यह है अतीत के कलात्मक अनुभव तथा परम्पराओं का गहन उपयोग।

यह सुस्पष्ट है कि कलात्मक विधि के रूप में यथार्थवाद अतीत के अनुभव को बदलने और आत्मसात करने की समस्त विद्यमान विधियों में सर्वाधिक सक्षम है। समाजवादी यथार्थवाद के पास भी यह क्षमता है। शायद, उसके विकास की मौजूदा मंज़िल की इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है: अपनी बढ़ती हुई सौन्दर्यात्मक प्रभुसत्ता की पार्श्वभूमि में वह सम्पूर्ण विश्व संस्कृति का अनुभव आत्मसात कर लेता है। और यह, मेरी राय में, उसके आगे उभार की गारंटी है।

**चं० आ० :** मैं इस बात की अधिक सटीक व्याख्या करना चाहूंगा। बेशक, समाजवादी यथार्थवाद को उस सबका, जो उससे पहले था, उत्तराधिकारी होने का न्यायोचित अधिकार है। परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण है—साहित्य की अग्रगति में उसका अपना योगदान, वह चीज़, जो उसने अपने निजी अनुभव से ग्रहण की। इसके अलावा किसी भी तरह का अवधीकरण बहुत मनमानी चीज़ है और वह बहुत-सी चीज़ों की मन्सूबाबंदी करता है। जब ऐसी मंज़िलों की बात होती है, तो यह भावना पैदा होती है कि वस्तुत: एक-दूसरे के समानान्तर अथवा एक साथ चल रही प्रक्रियाएं सुसंगत रूप से एक-दूसरे का अनुसरण करती हैं।

**हा० प्ला० :** हम, लगता है, यह अपेक्षा कर सकते हैं कि हमारी इस बहस की प्रतिक्रिया होगी और फलस्वरूप अधिक उपयुक्त उत्तर प्राप्त होंगे।

मैं फिर से हाल के वर्षों में साहित्य के विशिष्ट लक्षणों की ओर लौटना चाहूंगा। बहुत ज़्यादा समय नहीं गुज़रा, जब आपने 'वोप्रोसी लितेरातूरी' (साहित्य के प्रश्न) के लिए एक भेंटवार्ता में कहा था: "...केवल गद्य, विशेष रूप से यथार्थवादी गद्य, जीवन, इतिहास का *पुनर्सृजन* कर सकता है। वह कला का मुकुट है।"*

मुझे भय है कि प्रकृतिवादी तथा नीरस कृतियों के लक्षणों की, जिनके बारे में हम बात कर चुके हैं, कतिपय सैद्धान्तिक पूर्वाधारों में अभिपुष्टि की जाती है। स्वयं जीवन के रूपों में जीवन के परावर्तन,

---

* देखें 'मिलन-बिन्दु'।

पुनर्सृजन की शक्ल में यथार्थवाद की व्याख्या को स्मरण करें। जब हम "पुनर्सृजन" पद का उपयोग करते हैं, तो क्या हम साहित्य को निष्क्रिय वर्णन की ओर नहीं धकेल देते?

**चं० आ० :** एक भी पद की निश्चित संदर्भ के बाहर कल्पना नहीं की जा सकती। जब हम "पुनर्सृजन" की बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय चिन्तन, विचारों से है। यथार्थ का यंत्रवत् पुनर्सृजन करना सम्भव नहीं है। मैं वैचारिक बिम्ब खोजता तथा गढ़ता हूं। जब आप मानसपट पर इन काल्पनिक प्रतीकों को पढ़ते हैं, तो आपके मानसपट पर यथार्थ जीवन का चित्र उभर आता है। यदि उसे इस तरह समझें, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गद्य में यदि और किसी कारण नहीं, तो कम से कम इस कारण सर्वाधिक क्षमता होती है कि वह रूप की छंद तथा लय जैसी शर्तों से जुड़ा हुआ नहीं होता। और, निस्सन्देह, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गद्य मानव-चिन्तन की प्रक्रियाओं, नित्यप्रति की साधारण चेतना के अत्यन्त समीप होता है, चिन्तन की धारा के समीप होता है (परन्तु इस फ़ार्मूले के आधुनिकतावादी अर्थ में नहीं)।

**हा० प्ला० :** आपको "केवल गद्य" कहते हुए उद्धृत किया जाता है। क्या यह बयान ज़रूरत से ज़्यादा दो टूक नहीं है?

**चं० आ० :** अच्छी बात है, इसे यों कहें: सर्वोपरि गद्य। थियेटर, उदाहरण के लिए, आम तौर पर जीवन के किसी निश्चित पहलू को लेता है। यही काम फ़िल्म भी करती है। कभी-कभी वह उसे भी प्रदर्शित कर सकती है, जिसे गद्य नहीं कर सकता। परन्तु अन्तत:, जब मनुष्य अकेला रहता है, तो उसे अत्यन्त जटिल प्रश्नों के घेरे में अपने आत्मिक बोध, आत्मिक दिशा-निर्धारण की नींव के रूप में पुस्तक की सबसे अधिक आवश्यकता होती है।

**हा० प्ला० :** क्या इस मामले में गद्य को समस्त कलाओं की जननी माना जा सकता है?

**चं० आ०** (कुछ हिचकिचाहट के बाद): जी हां, आज ऐसा ही है। वह आत्मिक ऊर्जा का महान संग्रहकर्त्ता और साथ ही मनुष्य के नैतिक जीवन का महान प्रोत्साहनदाता है। मेरा अभिप्राय यथार्थवादी गद्य से है। अधिक सटीक शब्दों में, मेरा अभिप्राय यथार्थवादी गद्य के उस आदर्श से है, जिसे मैं अपने समाजवादी साहित्य की प्रगति में मूर्त्त रूप में देखना चाहता हूं। मैं उन सिद्धान्तकारों की बातों का कम क़ायल हूं, जो मसले को इस तरह चित्रित करने का प्रयत्न करते हैं मानो समाजवादी यथार्थवाद

विश्व के कलात्मक प्रत्यक्षबोध तथा समझ की सर्वथा संपूरित अन्तिम रूप से विकसित प्रणाली है। हमारी कला की विधि सतत रूप से विकसित होती जा रही है। यदि हम यह मानकर चलें कि समाजवादी यथार्थवाद इस शताब्दी की मुख्य कलात्मक धारा है, तो अकेले इसी "क्रम" से स्पष्ट हो जाता है कि उसे समानान्तर रूप से विकसित हो रही अन्य विधियों तथा शैलियों से बहुत कुछ आत्मसात करना चाहिए।

**हा० प्ला० :** इस सिलसिले में आप अन्य देशों में नवीनतम धाराओं के बारे में क्या सोचते हैं?

**चं० आ० :** मेरी राय में, यह जताना ग़लत होगा कि अमूर्त्तवाद का अनुभव विद्यमान ही नहीं है। अमूर्त्त कला की बहुत-सी कृतियों ने, जो मैंने विदेशों में देखीं, मुझे बहुत प्रभावित किया।

वाशिंगटन में आधुनिक कला का एक संग्रहालय है, जिसके पास एक बहुत बड़ा पार्क है। दर्शक संग्रहालय कक्षों में अन्दर तथा बाहर खुले पार्क में कला के इतिहास के बारे में, जो वहां कालक्रमानुसार व्यवस्थित किया गया है, बहुत जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। संग्रहालय के प्रवेशद्वार पर पुराने फ़ैशन का कोट पहने हुए एक बुजुर्ग की मूर्ति खड़ी है। उसके पास जाने से पहले मैं बड़ी देर तक एक और मूर्ति निहारता रहा। यहां अत्यधिक व्यासवाली गैस पाइपों के टुकड़ों और तिरछे ढंग से कटे धातु के छल्लों से बना एक ढांचा था। उस पर लाल रंग चढ़ा था और वह प्रस्तर के आधारस्तम्भ पर खड़ा था। वह पूरे वातावरण, पार्क, पूरे क्षेत्र, मेरी मन:स्थिति को प्रभावित कर रहा था। उसके पास ही हरे-से रंग की कांसे की मूर्ति थी, जिसमें विषाद तथा थकावट चित्रित की गयी थी। जब मैं उसके पास पहुंचा, तो मैंने रोदेन के बाल्ज़ाक को पहचान लिया। इन दो मूर्तियों के *संयोजन* ने मुझे चकित कर दिया, मेरी आंखें खोल दीं।

कुल मिलाकर मैं यह कहना चाहता हूं कि जब हम यथार्थवाद, उसकी सटीकता, उसकी "सीमाओं" की बात करते हैं, तो हमें उसे सृजनात्मक ढंग से समझना चाहिए और उसे सरलीकृत सम्बन्ध तथा टकराव नहीं बनने देना चाहिए।

मुझे कोबो आबे का एक दृश्य स्मरण है, जिसमें लेखक मृतक के "विचारों" का वर्णन करता है। इस मनुष्य का हत्यारा मामले को इस तरह प्रस्तुत करना चाहता है, मानो मरनेवाला स्वयं डूब गया था। मृतक हत्यारे के कृत्यों पर "टिप्पणी करता है"। यह थी उसके विचारों



8—907

की धारा: मैं जानता हूं कि तू मेरे ऊपर पानी उंडेलने लगेगा, परन्तु तू बहुत व्याकुल हो जायेगा, तू हत्या के पक्ष पर पर्दा डालने के लिए सब कुछ करेगा। परन्तु तूने यह नहीं सोचा कि आदमी जब डूबता है, तो सूक्ष्म जल-जीव फेफड़ों की कैपिलरी वाहिकाओं में पहुंच जाता है। यदि शव-परीक्षा पूरी तरह की जाये, तो यह सिद्ध हो जायेगा कि मेरे कैपिलरी वाहिकाओं में कोई जल-जीव नहीं है।

कहा जा सकता है कि यथार्थवादी लेखक को इस तरह नहीं लिखना चाहिए। परन्तु कोबो आबे यह काम स्वाभाविक तथा विश्वसनीय ढंग से करते हैं।

**हा० प्ला०:** कुछ ऐसा ही हमें गाब्रियल गार्सिया मार्क्वेज़ के उपन्यास 'एकान्तिकता के एक सौ वर्ष' में मिलता है, जिसमें बहुत पहले मर चुके लोग कर्त्ता हैं। यह युक्ति इतिहास को आत्मसात करने का अनुपम रूप है।

**चं० आ०:** बेशक। 'एकान्तिकता के एक सौ वर्ष' एक बहुत बड़ी परिघटना है, जो हमसे कहती है: दोस्तो, सभी अनुभवेतर नियम और सामान्यतया वह सब पीछे छोड़ जाइये, जो आपको जकड़कर रखता है। हरेक लेखक ऐसी "खोज" का उपयोग नहीं कर सकता। ऐसी युक्तियों को यंत्रवत् ग्रहण करने से कोई लाभ नहीं होता। उदाहरण के लिए, मैं इस तरह कभी नहीं लिखूंगा। मुझे अपनी चिन्तन प्रक्रियाओं के अनुसार, अपनी दृष्टि के अनुसार लिखना चाहिए, मुझे मनुष्य के प्रति अपना ही प्यार पोषित करना चाहिए।

**हा० प्ला०:** परन्तु आपमें उसे समझने तथा अपनाने की क्षमता है, जो आपकी अपनी शैली से बहुत दूर है।

**चं० आ०:** मेरा ख़्याल है कि दूसरों की शैली को अपनाने के मामले में मेरा कोई पूर्वाग्रह नहीं है। परन्तु दूसरे, मेरे "असदृश" कलाकार के साथ मेरे सम्पर्क की एक अपरिहार्य शर्त है: समस्त अन्तर होते हुए भी उनके साथ मेरा महत्वपूर्ण सम्पर्क-बिन्दु होना चाहिए। यह है शब्द को मानव-व्यक्तित्व की रक्षा के लिए उपयोग में लाने की कामना। जब ऐसा सम्पर्क-बिन्दु होता है, तो बाक़ी सब भिन्न हो सकता है और यह लेखक मेरे लिए पराया नहीं होगा।

**हा० प्ला०:** विश्व संस्कृति के समकालीन विकास में कौन-सी प्रवृत्तियां आपको विशेष रूप से उल्लेखनीय प्रतीत होती हैं?

**चं० आ०:** इस मामले में मेरे पास कहने के लिए शायद ही कोई

नयी, अप्रत्याशित बात हो; ऐसे विशेषज्ञ हैं, जो विश्व कला का अध्ययन कर रहे हैं। हम एक दिलचस्प युग में जी रहे हैं। उस सबका, जो लिखा जा रहा है, उन सबका, जिनकी रचनाएं छप रही हैं, आज सिंहावलोकन कर पाना असम्भव है। प्रत्येक देश में बहुत बड़ी संख्या में छोटे-बड़े प्रकाशनगृह हैं। उन सबसे पुस्तकों की बाढ़ आ रही है। अंकारा में एक ही सड़क पर चार प्रकाशनगृह हैं और उनमें से हरेक ने मेरे साथ व्यावसायिक बातचीत की। पुस्तकों के बिना हमारे जीवन की कल्पना करना कठिन है।

यह आम तौर पर स्वीकार किया जाता है कि हाल के वर्षों में पुस्तकों का सैलाब आया है। स्वयं साहित्य आज सक्रिय रूप से विकसित हो रहा है। तीस वर्ष पहले अंग्रेज़ी, अमरीकी, फ़्रांसीसी, जर्मन, इतालवी, रूसी तथा स्पेनिश साहित्य विद्यमान थे। वे विश्व साहित्य की अवधारणा की व्याख्या करते थे। आज ये सीमाएं अधिक व्यापक हो गयी हैं।

क्रान्तिकारी प्रक्रिया तथा राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के कारण बहुत-से जनगण जाग उठे हैं। वे सवाल पूछ रहे हैं: "हम कौन हैं?" वे कला के माध्यम से अपने को पहचानने का प्रयत्न कर रहे हैं।

ज़रा सोचिये, कितने नये अफ़्रीकी लेखक प्रकट हुए हैं। यही बात फ़िल्म-निर्माण पर लागू होती है। दुनिया में आज एक भी देश, अमीर और ग़रीब देश ऐसा नहीं है, जो फ़िल्म में अपनी बात नहीं कहना चाहता हो।

इस विश्वव्यापी उभार, इस सार्वत्रिक जागृति के भिन्न-भिन्न परिणाम निकले हैं। एक ओर, हम "भीड़" संस्कृति का विकास देख रहे हैं, जिसे कतिपय राजनीतिक शक्तियां जनगण को तात्कालिक तथा जीवन्त समस्याओं से विमुख करने के उद्देश्य से उपयोग में ला रही हैं। दूसरी ओर, विश्व साहित्यिक प्रक्रिया में हम सच्ची कलात्मक शक्तियों को मज़बूत बनते, उनकी संख्या में वृद्धि होते देख रहे हैं। उदाहरण के लिए, लैटिन अमरीकी गद्य एक सर्वथा नूतन परिघटना है। इस तरह की परिघटनाएं अन्ततः इस बात का प्रमाण हैं कि इस प्रक्रिया में सकारात्मक तत्त्व अधिक होते हैं।

कुछ दिन पहले इस मेज़ के पास, जहां हम इस समय बैठे हुए हैं, माइकेलांजेलो अंटोनियोनी बैठे हुए थे। उनके साथ इतालवी लेखक तथा पटकथा लेखक टोनिनो गुएर्रा भी आये थे, जिन्होंने फ़ेल्लिनी के साथ मिलकर 'अमारकोर्ड' की पटकथा लिखी है। हमने भिन्न-भिन्न

विषयों के बारे में बातचीत की। अंटोनियोनी ने तरुण फ़िल्म-निर्माताओं की दशा पर गहन चिन्ता प्रकट की। उन्होंने कहा कि पश्चिम में तरुण डायरेक्टर एकाकी, अपने घेरे में बंद हैं। फ़िल्म बनाने के लिए धन का होना ज़रूरी है। तरुण डायरेक्टर मनोरंजनकारी, जासूसी अथवा अश्लील फ़िल्म यह सोचते हुए बनाता है कि इससे अर्जित धन से वह गम्भीर कलाप्रधान फ़िल्म बना सकेगा। परन्तु यह, अंटोनियोनी के शब्दों में, एक दुश्चक्र है। कलाविरोधी धारा को रियायतें बेकार नहीं जातीं। तरुण डायरेक्टर, जिसे हल्के श्रम का मीठा फल चखने को मिल जाता है, आगे चलकर बस धारा के साथ तिरता रहता है।

विरले ही कोई अकेला प्रतिभाशाली व्यक्ति इस दलदल से बाहर निकल पाता है। यही बात साहित्य में होती है।

**हा० प्ला० :** जब मैं पिछले दशकों के गद्य पर विचार करता हूं, तो मुझमें यह अनुभूति पैदा होती है कि प्रतिमान घट रहे हैं, हेमिंग्वे, फ़ाल्कनर या टामस मान के उपन्यास जैसी गहन, महागाथात्मक कृतियां अब विरले ही प्रकट होती हैं।

**चं० आ० :** मेरे ख़्याल से, पश्चिम में आज इस कोटि के लेखक नहीं हैं। निस्सन्देह, वे रोज़ तो पैदा नहीं हो सकते। दूसरी ओर, जो कुछ मैं पढ़ जाता हूं, उसके आधार पर मैं यह सोचता हूं कि कलात्मक सृजन का ज़ोरदार विशेषीकरण हो रहा है।

"टुकड़े" उत्तरोत्तर छोटे बनते जा रहे हैं, हालांकि, ज़ाहिर है, वे बड़ी सूक्ष्मता के साथ लिखे जा रहे हैं। लेखक अपने लिए छोटा-सा क्षेत्र चुनता है, जिस पर बहुत विस्तारपूर्वक काम हो चुका होता है। अब तक लेखक टामस मान और फ़ाल्कनर के स्तर पर नहीं पहुंच पाये हैं। कम से कम अब तक। प्रसंगत:, हेमिंग्वे ने कहा था कि आदमी को महान लेखक बनने के लिए लम्बी उम्र तक जीना चाहिए। यह सभी चाहते हैं, परन्तु यह कथन निरर्थक नहीं है। उम्र के साथ परिपक्वता आती है। ख़ास तौर पर गद्य में, जिसका कार्यभार सम्पूर्ण संसार को अपनी लपेट में लेना है।

**हा० प्ला० :** अपनी बातचीत को विशेष सांचों तक सीमित न करते हुए मैं केवल इस बात की चर्चा करना चाहता हूं कि ब्योल के कलात्मक विकास ने मुझे वही निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित किया। यदि 'नौ बजकर तीस मिनट में बिलियार्ड' को स्मरण किया जाये, तो यह

महागाथा के पैमाने की एक व्यापक कृति है, पर, निस्सन्देह, टामस मान के पैमाने की नहीं। बाद की कृतियों में पैमाना घटता जाता है।

**चं० आ० :** ब्योल, बेशक, दिलचस्प लेखक हैं। शायद, वह उसी संकीर्ण विशेषीकरण का उदाहरण तक हैं। शायद, वह संक्रमण के दौर से गुज़र रहे हैं, शायद, वह फिर बड़ी बुलंदी पर पहुंच जायें।

**हा० प्ला० :** मैं पश्चिम की संस्कृति के बारे में और भी कुछ कहना चाहता हूं... पहले सैद्धान्तिक कृतियों में उनके लेखक पग-पग पर "आधुनिकतावाद" तथा "ह्रास-पतन" का उपयोग करते थे। अब ये शब्द कम दिखायी देते हैं।

**चं० आ० :** इसका कारण क्या है?

**हा० प्ला० :** ज़ाहिर है इन शब्दों का इतना अधिक उपयोग किया गया कि उनकी सहायता से वास्तविक परिघटनाओं में विभेद करना असम्भव हो गया। परन्तु स्वयं परिघटनाएं विद्यमान हैं।

**चं० आ० :** हमें शब्दों से नहीं डरना चाहिए। केवल उनके अर्थ को सुस्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है।

आधुनिकतावाद तथा ह्रास-पतन उन निश्चित स्थितियों को प्रतिबिम्बित करते हैं, जिन पर अनावश्यक अतिरंजित कथनों से बचते हुए आपत्ति की जा सकती है या जिनकी आलोचना की जा सकती है। इन धाराओं का अपना अनुभव, अपने सजीव तत्त्व होते हैं।...

**हा० प्ला० :** यदि उनके पास ऐसे तत्त्व हैं, तो इसका कारण यह है कि इस शताब्दी के आरम्भ में कई "वाद" आत्म-तुष्ट बुर्जुआ वर्ग के प्रति विरोध से उत्पन्न हुए थे।

**चं० आ० :** शायद, ये "वाद" इतने विद्यमान समाज के प्रति विरोध से उत्पन्न नहीं हुए थे, जितने कि संस्कृति तथा कलाओं के गतिरुद्ध नियम-विधान के प्रति विरोध से। कला में जब कोई निश्चित धारा अपने शिखर पर पहुंच जाती है और फिर उसका ह्रास होने लगता है, तो वह जड़सूत्रों में गतिरुद्ध हो जाती है। ऐसे बिन्दु पर कोई "वाद" सौन्दर्यात्मक जड़त्व पर क़ाबू पाने का प्रयत्न करता है, और ऐसा करते समय अक्सर सोपाधिकताओं की वैचित्र्यपूर्ण पद्धति पेश करता है।

**हा० प्ला० :** आइये, इस अवधारणा—सोपाधिकता—पर विचार कर लिया जाये।

आपने कोबो आबे के उपन्यास में उनकी सोपाधिक युक्ति की चर्चा की थी। हम कलात्मक साधन की बात कर रहे हैं, जो इस धारणा पर

आधारित है कि मृतक बात कर सकता है। यदि यथार्थवाद अब भी लेखक की युक्ति का तत्त्व है, तो हम अपने ठोस मामले में आप द्वारा प्रस्तुत इस प्रस्थापना को लागू कर सकते हैं: सम्पूर्ण संसार गद्य में विद्यमान होना चाहिए। यदि मैं (एक धारणा, जो घिसेपिटेपन से क़तई मुक्त नहीं है) इस प्रस्थापना को सीधे सम्बन्धित मामले पर लागू करूं, तो पता चलता है कि आज, शायद, अपराध करना तो आसान होगा, परन्तु उसे छुपाना कठिन होगा; आख़िरकार, आधुनिक संसार के पास ऐसी चीज़ को, जो छुपी हुई है, सतह तक पहुंचने के लिए साधनों तथा विधियों का एक व्यापक सेट है (भले ही अपराधविज्ञान के क्षेत्र में)। और बहुत बड़ी संख्या में लोगों को इन साधनों की विद्यमानता की जानकारी है। इसलिए पाठक ऐसी कलात्मक युक्तियों को समझता है। आम तौर पर इन युक्तियों को ठुकराया नहीं जाता और वे परकीयकरण को जन्म नहीं देतीं।

"सोपाधिकता" जैसे साधनों का जर्मन जनवादी जनतंत्र के साहित्य में व्यापक प्रयोग होता है। पिछले कुछ समय से गद्य लेखक क्रीड़ा तत्त्वों, प्रतीकों तथा नीति-कथाओं का व्यापक उपयोग करते हुए "मानो" और "जैसे" की स्थितियों में पौराणिक आख्यानों तथा लोककथाओं का जानबूझकर आश्रय ले रहे हैं। दूसरे शब्दों में, लेखक कल्पना की उड़ान के प्रति, जो किसी भी कला का तत्त्व है, गम्भीर रवैया अपना रहे हैं। दरअसल इन साधनों का पिछले कुछ समय से उपयोग तेज़ी से बढ़ गया है। यदि मैं इसी तरह के कलात्मक साधनों के लिए किसी परखे हुए शब्द की तलाश करूं, तो मैं "सोपाधिकता" के समतुल्य जर्मन पद का, ब्रेख़्ट की अवधारणा का उपयोग करूंगा, जिसका अनूदित रूप "परकीयकरण" है।

वीक्तोर लेवचेंको के साथ अपनी भेंटवार्ता में, जो 'वोप्रोसी लितेरातूरी' में प्रकाशित हुई थी, आपने कहा था: "यथार्थवाद बड़े लाभ प्रदान करता है, क्योंकि कला में अन्य विधियों की कई शर्तें होती हैं और केवल यथार्थवादी गद्य की ही ऐसी *शर्तें* नहीं होतीं। सदैव, तब भी जब आप अपनी दिल की गांठ खोल रहे हैं, आप अपने बारे में नहीं, संसार के बारे में अधिक बोलते हैं।"

मैं यथार्थवाद के लाभ के बारे में आपसे सहमत हूं। परन्तु क्या यथार्थवाद भी सोपाधिकता का उपयोग नहीं करता? मेरे ख़्याल से, हम

इस पर सहमत हो गये थे कि हमारा यथार्थवाद अपनी सम्भावनाओं का निरन्तर विस्तार कर रहा है।...

**चं० आ० :** कला सामान्यतया सोपाधिकता के बिना, परकीयकरण के बिना, कल्पना की उड़ान के बिना असम्भव है। बैले को ले लें, जिसमें परकीयकरण तथा काल्पनिकता के तत्त्व बहुत सशक्त होते हैं। उसकी अपनी नियम-विधानसम्मत विशेषताएं हैं: नमनीयता, शालीनता, लय, गति; अनुराग, विषाद केवल गति की नमनीयता के ज़रिये प्रतिबिम्बित किये जाते हैं। इस सबका मैं प्रत्यक्षबोध करने की स्थिति में हूं, हालांकि निरन्तर यह अनुभव करता रहता हूं कि वास्तविक जीवन में लोग नृत्य के माध्यम से एक-दूसरे के साथ नहीं घुलते-मिलते।

यही बात नाटक पर लागू होती है। आप थियेटर यह जानते हुए जाते हैं कि जब पर्दा उठता है, तो अभिनेता मंच पर आते हैं और अभिनय शुरू कर देते हैं। इसी कारण सोपाधिकता, काल्पनिकता के विरुद्ध होना मूर्खता की बात होगी। परन्तु सवाल पैदा होता है: कितनी कुशलता के साथ उनका उपयोग किया जाता है?

**हा० प्ला० :** और किस कलात्मक संरचना में?

**चं० आ० :** बिल्कुल ठीक, किस कलात्मक संरचना में? यदि हम गद्य को लें, तो प्रतीकों तथा अन्योक्तियों, आदि का उपयोग सदैव उपयोगी सिद्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए, मैं अपने उपन्यासों में इन साधनों पर ज़ोर देने से बचता हूं, क्योंकि वे विषय का "अपरिष्करण" करते हैं।

**हा० प्ला० :** और यदि उनकी मदद के बिना अपने कलात्मक प्रयोजन की पूर्ति असम्भव हो, तो?

**चं० आ० :** ऐसी सूरत में कला प्रतीकों की भाषा में पदार्पण करती है। लेकिन यदि उनसे बचना सम्भव हो, यदि लेखक दूसरे समाधान ढूंढ़ सके, तो प्रतीकों से बचना, मेरी राय में, बेहतर होगा। मैं अपनी आरम्भिक कृतियों का हवाला देता हूं—उनकी ओर से मुंह फेरने के लिए मेरे पास कोई कारण नहीं है, हालांकि वे, कह लीजिये, रोमांटिक शैली में लिखी गयी हैं।

मुझे पता है कि मेरी आरम्भिक कृतियों के पाठकों का बहुत व्यापक दायरा है। अब, जब मैं भिन्न ढंग से लिख रहा हूं, मेरे पाठकों की संख्या, सभी संकेतों को देखते हुए, कम है। मैं यह नहीं कह सकता कि मैं इससे निरुत्साहित हुआ हूं: आख़िरकार, मेरे हाल के उपन्यास

अनुभवी पाठक की ओर अभिमुख हैं। जब मैं अनुभवी कहता हूं, तो मेरा अभिप्राय मात्र पुस्तक पढ़ने से नहीं है, अपितु सबसे पहले जीवन के अनुभव से, उन समस्याओं की जानकारी से है, जो संसार को चिन्तित कर रही हैं।

इसी कारण मैं परकीयकरण से बचने का प्रयत्न करता हूं, जो पाठ-सामग्री को जटिल बनाते हुए संसार के चित्र को अपरिष्कृत करता है। 'सागर के छोर पर दौड़ रहा चितकबरा कुत्ता' शीर्षक मेरे नवीनतम उपन्यास में घटनाक्रम की स्थली समुद्र है। पात्र सीमान्त स्थिति में हैं। नौका संसार है। मेरे लिए प्रतीकों तथा इन जैसी चीज़ों की सहायता से इस संसार की मूलभूत समस्याओं के प्रति रुख ढूंढ़ पाना अकल्पनीय है। मैं नायक के नैतिक आधार की अधिकतम परीक्षा करना अपना कार्यभार मानता हूं।

सारतः, पूरा समकालीन गद्य इसी तरह की परीक्षा करने में जुटा हुआ है, वह समाज के समक्ष यह प्रश्न प्रस्तुत करता है कि हमारा निजी आचरण सामान्य अपेक्षाओं, हमारे ऐतिहासिक मिशन के साथ किस हद तक मेल खाता है।

**हा० प्ला० :** मैं अन्य विषयों की ओर मुड़ना चाहूंगा, जो साहित्य के आगे विकास के लिए अधिकाधिक महत्व प्राप्त करते जा रहे हैं। उदाहरण के लिए, पर्यावरण की रक्षा की समस्या के मामले में स्थिति क्या है? या—साहित्य की विषयवस्तु के एक अन्य क्षेत्र में—वस्तुओं के पूजाकरण, उपभोक्तावाद की मनोवृत्ति की समस्या का किस तरह समाधान किया जा रहा है?

**चं० आ० :** ये दोनों विषय हमारी कला के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। आप बाइकाल भील के मसले को लेकर पैदा हुई गरमागरम घटनाओं के बारे में जानते हैं। निस्सन्देह, विशेषज्ञों तथा वैज्ञानिकों ने इस बेजोड़ भील की रक्षा के लिए अपनी ज़ोरदार आवाज़ उठायी थी, परन्तु बाइकाल भील की नियति ने केवल तभी पूरी जनता के मसले का रूप धारण किया, जब लेखकों ने अपनी आवाज़ बुलंद की। स्वयं मैंने कुछ वर्ष पूर्व 'लितेरातूर्नाया गज़ेता' के लिए एक भेंटवार्ता में फ़रगना घाटी के प्राकृतिक सौन्दर्य को बनाये रखने के लिए कहा था। मेरे ख़्याल से, प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा करना संस्कृति तथा कला के क्षेत्र में काम करनेवालों का पहला कर्त्तव्य है।

जहां तक उपभोक्तावाद का सम्बन्ध है, यह बहुमुखी मसला है।

निस्सन्देह, हम कूपमंडूकों के लालच के प्रति तटस्थ नहीं रह सकते। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम विरतिवाद अपनाने का आह्वान करें। जो भौतिक सम्पदा पैदा करते हैं, उन्हें उसका उपभोग करने का अधिकार है। परन्तु वह सीमा कहां है, जिसके पार "वस्तुभोगवाद" की बीमारी शुरू हो जाती है?

कई देशों में आबादी की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति अब भी एक काफ़ी तीक्ष्ण समस्या बनी हुई है। मानव-चिन्तन की किस शाखा को ऐसे प्रश्न आत्मिक स्तर पर प्रतिष्ठापित करने चाहिए? मैं यक़ीनन साहित्य को बाक़ी सबके ऊपर नहीं रखना चाहता, परन्तु उसका विशिष्ट माध्यम ऐसी समस्याओं से निबटने में सर्वथा समर्थ है।

विरतिवाद के इकतरफ़ापन और समृद्धि की पूजा निर्दिष्ट करने के लिए साहित्य की क्या कसौटी हो सकती है? मेरी राय में, यह केवल विवेक है। इस मामले में मैं विवेक का अर्थ संतुलन तथा ऐसा सुस्पष्ट सिद्धान्त समझता हूं, जो अपेक्षाओं की दरिद्रता को ठुकराता है तथा अति-उपभोग का रास्ता रोकता है। इस समस्या के प्रति कोई भी रुख़ ले लें, हमें सर्वत्र आधुनिक गद्य की नयी अपेक्षाओं तथा नयी सम्भावनाओं से टकराना पड़ता है।

**हा० प्ला० :** हमारे साहित्य में अब तक उपभोग-पूजा की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता रहा है, जबकि, जहां तक मैं जानता हूं, सोवियत साहित्य में, विशेष रूप से नाट्य-क्षेत्र में, गद्य में, उदाहरण के लिए, यूरी त्रीफ़ोनोव की रचनाओं में इस विषय को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ठोस कलात्मक समाधान, मेरी राय में, बुर्जुआ दृष्टिकोणों के मामले में, जो सुख-समृद्धि में वृद्धि के हालात में प्रसारित होते हैं, सर्वाधिक वाद-विवादात्मक होते हैं। व्यक्ति और समाज के बीच सम्बन्धों की द्वन्द्वात्मकता का अक्सर समाज को हानि पहुंचाकर अतिक्रमण किया जाता है, कभी-कभी व्यक्ति सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन से अपने को अलग-थलग कर देता है, उसमें रुचि खो बैठता है, प्रतिष्ठामूलक मानसिकता पैदा होती है और तब इससे, अन्ततः, ज्वलन्त व्यक्तित्व मिट जाता है। आपने विवेक की कसौटी के बारे में सही कहा था।...

वर्त्तमान काल में हमारे यहां कतिपय ऐसी कृतियां सामने आयी हैं, जिनके लेखक मानव-अन्तःकरण का अध्ययन करते हैं। मेरा विचार है कि बारीकी से देखने पर यह अवधारणा क़तई धुंधली नहीं है। मार्क्स ने एक व्याख्या प्रस्तुत की थी, जो इस विचार को सुदृढ़ बनाती है कि

आधुनिक गद्य को विश्व की सम्पूर्ण समकालीन अवस्था को अपनी परिधि में लेना चाहिए। उन्होंने कहा था कि *अन्तःकरण ज्ञान से तथा मनुष्य के अस्तित्व के सारे रंग-ढंग से जुड़ा हुआ है।*

यदि गद्य की रचना करते हुए लेखक सारे संसार के बारे में सोचता है, यदि अन्तःकरण की अवधारणा मनुष्य के जीवन के सारे रंग-ढंग से पैदा होती है, तो गद्य, परिणामस्वरूप, इस क्षेत्र के अध्ययन का प्रयास किये बिना नहीं रह सकता।

**चं० आ० :** पर अन्तःकरण को साहित्य में एक विशेष विषय के रूप में लक्षित करना, शायद, ग़लत होगा। आख़िरकार, कला तो सदैव अन्तःकरण के विषय में होती है, चाहे विषय कुछ भी हो। अन्तःकरण—यदि उसका सामान्यीकरण किया जाये—एक आन्तरिक उद्दीपक तथा आन्तरिक अवरोधक है : क्या करने की इजाज़त है और क्या निषिद्ध है? क्या सुन्दर है और क्या घिनौना? यदि तुम्हारे पास अन्तःकरण है और तुम किसी की हत्या कर बैठते हो, तो बाद में तुम ख़ुद अपनी हत्या कर बैठोगे। यदि तुम्हारे पास अन्तःकरण नहीं है, तो तुम चैन से सोये रहोगे। यही सब प्रश्नों पर लागू होता है। तुम बिना किसी इरादे के किसी को ठेस पहुंचा सकते हो। यदि तुम्हारे पास अन्तःकरण है, तो तुम सुबह होते ही माफ़ी मांग लोगे। ये अपना अन्तःकरण प्रकट करने के मूलभूत रूप हैं। इसके ऊपर अन्य प्रवर्ग हैं : सामाजिक, नागरिक अन्तःकरण।

विस्मयजनक बात तो यह है : हम सब समझते हैं कि अन्तःकरण क्या है और हम सब उसमें विश्वास करते हैं, परन्तु ऐसी सदमा पहुंचानेवाली बातें निरन्तर होती रहती हैं, जिनके बाद मनुष्य अपने से यह पूछने से डरते हैं कि अन्तःकरण का क्या हुआ। अन्तःकरण "अहं" है। मेरा "अहं" अन्तःकरण है। जब यह "अहं" परिवेश के सम्पर्क में आता है, तो वह अन्तःकरण से निदेशित होता है। मानव "अहं" के प्राथमिक प्रतिमानों की तुलना में वस्तुमूलक सम्बन्ध द्वितीयक, व्युत्पन्न प्रतीत होते हैं। अन्य गुण भी अन्तःकरण से व्युत्पन्न होते हैं, उदाहरण के लिए, सिद्धान्तनिष्ठ होने या असिद्धान्तनिष्ठ होने की, विनम्र होने या आत्म-तुष्ट होने की अवस्था। साहित्य तथा कला ने अन्तःकरण के प्रश्नों को आरम्भ से ही अपनी चिन्ता का मुख्य विषय बना दिया था। उदाहरण के लिए, दोस्तोयेव्स्की की कृतियों में मुख्य तत्त्व दीन-दीनों के प्रति दया तथा सहानुभूति का प्रदर्शन है। उनकी नज़र हमेशा उनकी ओर रही, जिन्हें

ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण कुचला गया, जिन्हें अपने साथ मनुष्य की तरह व्यवहार किये जाने का अपना अधिकार सिद्ध करना पड़ता है। स्वयं अपनी तथा दूसरों की प्रतिष्ठा क़ायम रख सकने के लिए यह समझना आवश्यक है कि यह प्रतिष्ठा केवल संसर्ग के नियमों की बदौलत विद्यमान है। जब मैं दूसरे मनुष्य की प्रतिष्ठा पर चोट करता हूं, तो मुझे यह नहीं सोचना चाहिए कि स्वयं मेरी प्रतिष्ठा अछूती रह गयी है।

यह सब अन्त:करण के क्षेत्र में आता है तथा उसके ऊंचे प्रतिमानों की अभिपुष्टि करना समाजवादी यथार्थवाद का पुनीत कर्त्तव्य है।

पिछले वर्ष 'लितेरातूर्नाया गज़ेता' में मेरे मित्र अर्कादी वाक्सबेर्ग का एक बहुत बड़ा लेख 'आंधी' छपा था। वह पर्वतों की सैर के लिए निकले नौजवान पर्यटकों के एक ग्रुप के बारे में था। नित्यप्रति के जीवन में सब सुसंस्कृत लोग थे: इंजीनियर, प्रयोगशाला में काम करनेवाले, खुशदिल, एक-दूसरे के शुभचिन्तक। जब वे ऊंचे पर्वत पर पहुंचे, तो तूफ़ान चलने लगा, कड़ाके की ठंड शुरू हो गयी, बर्फ़ पड़ने लगी। पर्यटकों में दो पुराने मित्र थे। तूफ़ान के समय उनमें से एक ने अपने को अथाह खड्ड के ऊपर एक सीधी खड़ी तंग चट्टान के कगार पर पाया। इस मनुष्य के पास अन्त:करण था। उसने बाक़ी सब लोगों से कहा कि पहले वे अपनी सुरक्षा सुनिश्चित कर लें और तब उसकी मदद के लिए आगे बढ़ें। परन्तु उसके दोस्त समेत बाक़ी सब केवल अपने बारे में सोच रहे थे और अपने साथी को भुला बैठे थे—और उसकी ठंड में जमकर मृत्यु हो गयी। और जब पर्यटक आख़िरकार अलाव जलाने में सफल हो गये, तो जो ताक़तवर थे, उन्होंने कमज़ोरों को आग से दूर धकेल दिया। यहां अन्त:करण की पराजय हो गयी।

हमारे अन्त:करण की निरन्तर परीक्षा होती रहती है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि इसे अनुभव किया जाये। यदि और बड़े पैमाने को, उदाहरण के लिए, सामाजिक प्रणालियों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों को लिया जाये, तो "परीक्षाओं" के परिणाम विशेष महत्व प्राप्त करते हैं। कभी-कभी मनुष्य परीक्षा में प्रतिष्ठापूर्वक उत्तीर्ण हो जाता है, परन्तु बहुधा वह विफल रहता है।

**हा० प्ला०:** आप इस विषय में विशेष आन्तरिक उद्वेग के साथ बोले हैं। परन्तु हमारे पास समय सीमित है, अत:, मुझे अगले प्रश्न की ओर बढ़ने की अनुमति दीजिये।

बेख़ेर ने लेखकों से एक नहीं, अपितु नाना विधाओं में आत्माभिव्यक्ति की अपेक्षा की। वह यह मानते थे कि सृजनशीलता को विस्तार के मामले में सीमित करने पर वह गहराई में भी सीमित हो जाती है। प्रसंगतः, गोर्की ने भी कहा था कि पेशेवर लेखक को सब कुछ करने में समर्थ होना चाहिए।

हम जानते हैं कि आप गद्य में लिखते हैं, साहित्यिक लेखक-पत्रकार, निबंधकार, नाटककार तथा पटकथालेखक हैं। काव्य के मामले में स्थिति क्या है और गोर्की के इस कथन के बारे में आपकी राय क्या है?

**चं० आ०:** मेरा ख़्याल है कि गोर्की तथा बेख़ेर सही थे। ऐसी आदर्श स्थिति, निस्सन्देह, बहुत अच्छी होती, अगर लेखक अपने को भिन्न-भिन्न विधाओं में व्यक्त कर पाते, अगर नाना भुजाओंवाले शिव की भांति एक हाथ से गद्य, दूसरे हाथ से नाटक, लेख, तीसरे हाथ से निबंध, संस्मरण, आदि लिख सकते। उनकी तुलना उस व्यक्ति की स्थिति से की जा सकती, जो कई भाषाएं जानता है। भाषाओं की संख्या के बढ़ने के साथ संसार को समझने की तथा आत्माभिव्यक्ति की सम्भावनाएं बढ़ती हैं। परन्तु विविध विधाओं में लिखना केवल एक शर्त में अच्छा होता है: लेखक को अपना स्तर नीचे नहीं आने देना चाहिए। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मैं यह नहीं कह सकता कि मेरा रुझान विशेष रूप से सृजनात्मक कार्य की विभिन्न विधाओं में लिखने की ओर है और मैं इसमें निपुण हूं। परन्तु जो काम मैं हाथ में लेता हूं, उसे पूरी तरह निभाने का प्रयत्न करता हूं।

मैं एक बार फिर इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूं कि लेखक जब काव्य समेत कई विधाओं में लिखता है, तो यह उसके लिए लाभप्रद स्थिति होती है।

**हा० प्ला०:** आपने कविताएं नहीं लिखीं?

**चं० आ०:** नहीं, कभी नहीं। हर काम के प्रति गम्भीर दृष्टिकोण अपनाना ज़रूरी है, अपनी सीमाएं तथा सम्भावनाएं जानना ज़रूरी है। मैंने काव्य-रचना नहीं की और न इसकी कामना करता हूं।

**हा० प्ला०:** मैंने मास्को के 'सोव्रेमेन्निक' (समयोचित) थियेटर में 'फ़ुजी पर्वत पर आरोहण' शीर्षक आपका नाटक देखा। मुझे उसका रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण देखकर लगा कि उसका स्तर नाटक से नीचे है।

**चं० आ०:** मैं यह नहीं कह सकता कि यह नाटक लिखना मेरे लिए

कठिनाईहीन रहा। इसकी सामग्री आरम्भ में नाटक के लिए नहीं, अपितु लघु उपन्यास के लिए थी। परन्तु जब 'सोव्रेमेन्निक' थियेटर की गालीना वोल्चेक * तथा ओलेग तबाकोव ** ने मुझे इस बात का क़ायल किया कि मेरा कथानक रंगमंच के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है, तो मैंने अपने मित्र नाटककार काल्ताई मुहम्मदजानोव को कथा-वस्तु के विषय में बताया और बाद में वह मेरे सह-लेखक बन गये। उन्होंने पहला रूपान्तर कज़ाख़ भाषा में लिखा, जिसका मैंने रूसी में अनुवाद किया। हमने एक-दूसरे के परिपूरक का काम किया और इस तरह यह नाटक प्रकट हुआ।

आगे चलकर जब नाटक का मंचन हो रहा था और सब तरह की कठिनाइयां पैदा हुईं, तो मैंने तय किया कि आगे से नाटक-लेखन के काम में नहीं जुटा करूंगा।

परन्तु अपनी अमरीकी यात्रा के समय मुझे वाशिंगटन के 'ऐरेना स्टेज' थियेटर में इस नाटक का प्रथम प्रस्तुतीकरण देखने का मौक़ा मिला और जब मैंने देखा कि इतने दूर देश के, एक पराये संसार के लोगों ने किस तरह नाटक का स्वागत किया, कैसे उसने उन्हें उत्तेजित किया और कितने विचारों को जन्म दिया, तो मैंने तय किया कि थियेटर के लिए काम करना शायद सार्थक होगा। परन्तु अन्य नाटक लिखने का मुझे अभी समय नहीं मिल पाया है।

**हा० प्ला० :** मैं नाटक तथा उसके नायकों के "पक्ष" और "विपक्ष" में हुई चर्चा से कुछ हद तक परिचित हूं। मैंने "नायक" शब्द का जानबूझकर उपयोग किया है, ताकि अगली समस्या की ओर बढ़ा जा सके। नाटक पर हुई बहस के दौरान इस बात पर खेद प्रकट किया गया कि आपकी कृति में वीरत्वपूर्ण गूंज की कमी है।

परन्तु मैं इस समय स्वयं नाटक के बारे में नहीं, अपितु नायक की समस्या के बारे में बात करना चाहता हूं। इस शब्द का उपयोग करते समय उसके अर्थभाव को भुलाना, वीरत्व की अवधारणा की उपेक्षा करना असम्भव है, और इसलिए सकारात्मक नायक की बात दिमाग़ में लगभग अपने आप ही उठ जाती है।

---

* मास्को के 'सोव्रेमेन्निक' थियेटर की प्रधान डायरेक्टर।

** अभिनेता, मास्को के 'सोव्रेमेन्निक' थियेटर के भूतपूर्व प्रधान डायरेक्टर; इस समय मास्को कला थियेटर के अभिनय विद्यालय के डीन और मास्को के चाप्लीगिन मार्ग पर अवस्थित अभिनय विद्यालय-थियेटर के प्रधान।

**चं० आ० :** सिद्धान्तकारों को शब्दों के बारे में भ्रान्तियों का समाधान करना होगा। मैं तो यहां केवल चन्द विचार ही प्रकट कर सकता हूं।

"सकारात्मक नायक" की अवधारणा का समालोचक जो अर्थ लगाते हैं, वह अक्सर बहुत ही सरलीकृत होता है। मैं समालोचकों के साथ विवाद नहीं करना चाहता, परन्तु मुझे शब्द के घिसेपिटेपन से परेशानी होती है, जो मानो जीवन से उसे निकाल ले जाता है, जिसका सृजन करने में तुमने, लेखक ने, इतनी पीड़ा झेली।

यदि नायक व्यक्तित्व नहीं है, तो उसमें बहुत-सारे अच्छे गुण तो हो ही सकते हैं, परन्तु वह सहानुभूति प्राप्त नहीं कर सकता; हद से हद एक खूबसूरत देवप्रतिमा पैदा हो जायेगी। गम्भीर साहित्य में नायक परस्परविरोधी, सशक्त लोग होते हैं, जिनका आन्तरिक विश्व समृद्ध होता है। हमें इसे आधार बनाकर बढ़ना चाहिए कि अविवादास्पद, या जैसा कि कहा जाता है, आदर्श नायक के साथ-साथ ऐसे भी लोग विद्यमान थे और हैं, जो इस या उस कारण अपनी सम्पूर्ण क्षमता को मूर्त्त रूप देने में असमर्थ रहे। साहित्य को समस्त सामाजिक तथा आर्थिक अवस्थाओं के समुच्चय में व्यक्ति का समाज में जीवन के केन्द्र के रूप में अध्ययन करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में मैं नायक के विकासक्रम के बारे में चन्द शब्द कहना चाहता हूं। क्रान्ति के पहले वर्षों की अभिलाक्षणिकता थी साहित्य में क्रान्तिकारी उत्साह-आवेग का रोमांटिक चित्रण। अपने समाज के विकास के साथ हम कड़े यथार्थवाद की ओर बढ़े। उपदेशात्मकता से तथा आदर्श पात्रों के प्रदर्शन से वर्णन के विश्लेषणात्मक स्वरूप तथा संजटिलता के अवबोध की ओर।

**हा० प्ला० :** हम लोग समाजवादी कला के विकास की भिन्न-भिन्न मंज़िलों के प्रश्न और प्रगति की उससे अविच्छेद्य समस्या पर कई मौक़ों पर बहस कर चुके हैं। हम "अग्रगति", "प्रगति" शब्दों को सदैव सकारात्मक परिघटना मानते रहे हैं। समकालीन वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति के इन्सानी पहलू को आप किस तरह देखते हैं?

**चं० आ० :** हम जानते हैं कि वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति केवल विज्ञान और तकनीक में ही नहीं, अपितु अन्य क्षेत्रों में भी कायापलट करती है, वह हमारे जीवन में तर्कबुद्धिवाद की बहुत तेज़ खुराक का समावेश करती है। क्या हमें अपने को उसके मातहत होने देना चाहिए?

क्या हमें अनुभूतियों तथा भावनाओं का त्याग कर देना चाहिए और अपने को तर्कबुद्धिवाद की अनुकम्पा के हवाले कर देना चाहिए?

नैतिकता के मामलों में मानवजाति आज, दुर्भाग्यवश, अपने दिमाग़ और हाथों की उपलब्धियों के साथ क़दम से क़दम मिलाकर नहीं चल पा रही है। एक खाई पैदा हो गयी है। हमारे अन्तरिक्ष युग में, जब मानव चन्द्रमा तक पहुंच गया, जब मानवरहित अन्तरिक्ष स्टेशन दूर, अनखोजे ग्रहों तक की यात्रा कर चुके हैं, जब मनुष्य की शक्ति अविश्वसनीय रूप से बढ़ी है, सब कुछ असाधारण तेज़ रफ़्तार से विकसित हो रहा है। ऐसी सूरत में यह माना जाना चाहिए था कि अपराध, साथ ही स्वार्थ, द्वेषभावना, प्रतिहिंसा जैसी इन्सानी बुराइयां अतीत के गर्भ में समा जायेंगी। लेकिन असल में कई देशों में अपराध की दर बढ़ती जा रही है और नैतिकता का पतन दिखायी दे रहा है। इस सबसे काफ़ी चिन्ता पैदा होती है।

**हा० प्ला० :** संसार की यह अवस्था साहित्य के लिए प्रमुख चिन्ता का विषय है। यह मुझे तुरन्त दूसरे प्रश्न की ओर बढ़ने के लिए बाध्य करता है। आपकी राय में क्या साहित्य से यह मांग करना सम्भव तथा आवश्यक है कि वह आनेवाले कल और बेहतर यथार्थता के लिए एक माडेल का निर्माण करे? मैं यूटोपिया की बात नहीं कर रहा हूं, परन्तु निश्चित माडेलों के निर्माण, वांछनीय स्थितियों के चित्रण के साथ-साथ, जिन पर समस्त जनगण को विचार-विमर्श करना चाहिए, नैतिकता को क्या साहित्य का मसला नहीं होना चाहिए, क्या उन आकांक्षाओं तथा कामनाओं पर ज़ोर डालना साहित्य का काम नहीं है, जिन्हें भविष्य के लिए समाज की कार्यसूची में रखा जा सकता है?

**चं० आ० :** साहित्य को सदा सामान्य प्रश्नों से सरोकार रखना चाहिए और भविष्य के अन्दर झांकना चाहिए, उसके "माडेलों" के बिना काम नहीं चल सकता।

परन्तु भविष्य की कुछ क़लम के धनियों द्वारा खींची गयी ख़ूबसूरत तस्वीरों से केवल बच्चे की ही कल्पना का मनोरंजन हो सकता है। गम्भीर तथा परिपक्व पाठक की दिलचस्पी सर्वप्रथम मानव-सम्बन्धों की प्रणाली में आनेवाले कल के मनुष्य में है। इस प्रणाली को, मेरी राय में, कलात्मक पूर्वानुमान का, अथवा आप द्वारा प्रस्तावित शब्द "माडेलिंग" का विषय होना चाहिए।

**हा० प्ला० :** इस मामले में संसार के भिन्न-भिन्न जनगण की

संस्कृतियों के एक-दूसरे के समीप आने की सम्भावना के बारे में आप क्या सोचते हैं?

**चं० आ० :** विश्व संस्कृति का विचार सामान्यतया मानवजाति के सबसे उल्लेखनीय विचारों में से एक है। उसके प्रति कलात्मक रुख का अपनाया जाना आवश्यक है। कलात्मक संस्कृति, उसके द्वारा रचित "माडेलों" की भांति, सर्वत्र एक जैसी नहीं हो सकती और नहीं होगी। मानवता के सिद्धान्त तथा मानवजाति के बेहतर भविष्य में विश्वास के आधार पर पारस्परिक समझ का होना आवश्यक है। हम सब भिन्न-भिन्न ढंग से इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रयास कर रहे हैं। समाजवादी समुदाय सामाजिक तथा आत्मिक एकजुटता का आज आरम्भिक, मुख्य क्षेत्र है, जो सच्चे अर्थ में प्रगतिशील सार्वत्रिक संस्कृति के निर्माण में ज़ोरदार कार्रवाइयों का स्रोत है।

**हा० प्ला० :** अब मैं एक ऐसे प्रश्न की चर्चा करना चाहूंगा, जो इतना व्यापक तो नहीं है, परन्तु हमारे साहित्यिक जीवन में कदापि गौण नहीं है।

मेरा अभिप्राय कला की कृतियों के प्रति सामाजिक प्रतिक्रिया और उनके इर्द-गिर्द रायों के संघर्ष से है। हमने 'सफ़ेद जलयान' पर वह बहस प्रकाशित की थी, जो 'लितेरातूर्नाया गज़ेता' के पन्नों में चली थी। हमारे यहां इस बहस की उत्कट प्रतिक्रिया हुई और उसे ऐसे कुशल, कामकाजी तर्क-वितर्क का उदाहरण माना गया, जिसमें भाग लेनेवालों का एक-दूसरे के प्रति समझदारी और आदर से भरा रुख होता है। मेरी राय में, जब लोग किसी कलाकृति के बारे में एक ही, अकाट्य राय की स्थापना करना चाहते हैं, तो यह चीज़ कला के स्वयं सार का विरोध होता है।

**चं० आ० :** विभिन्न दृष्टिकोणों पर बहस और उनमें टकराव कला के विकास की स्वाभाविक शर्त है। इससे यह सम्भावना वर्जित नहीं होती कि सब कुछ कहे जा चुकने के बाद कोई व्यक्ति—सम्पादकमंडल अथवा आधिकारिक समालोचक—परिणामों का लेखा-जोखा पेश करने का कार्यभार ग्रहण कर सकता है।

जब कोई कृति आलोचना की परिधि के पार हो जाती है और अविवादास्पद होने की, यहां तक कि अन्तिम उदाहरण होने की ख्याति अर्जित कर लेती है, तो वह धीरे-धीरे संग्रहालय का प्रदर्श बनती जाती

है। संत-पद पर इस तरह की प्रतिष्ठापना सबसे अधिक प्रतिभामय कृति तक के लिए अनिष्टकर होती है।

**हा० प्ला० :** मैं आपसे यह पूछना चाहता हूं कि आप सामान्य रूप से समालोचना के बारे में क्या सोचते हैं?

**चं० आ० :** पहले मैं समालोचना के प्रति प्रायः भावहीन रहता था। इसका कारण उस तरह की आलोचना थी, जिसका मैं आदि हो गया था। वह बहुधा सतही ढंग की होती थी। अब, जब मेरी उम्र ज़्यादा हो चुकी है और मैं अधिक परिपक्व हो चुका हूं, मैं यह अनुभव करता हूं कि मुझे गम्भीर, ऐसी समालोचनाएं पढ़नी चाहिए, जिनमें गहन विश्लेषण गम्भीर निष्कर्षों के साथ जुड़ा हुआ हो और जो केवल पृथक-पृथक कृतियों की ही नहीं, अपितु विभिन्न प्रक्रियाओं और धाराओं के बारे में भी बात करती हों। ऐसी कृतियां मुझे सोचने के लिए बाध्य करती हैं। शायद, आप मेरे लघु उपन्यास 'आमने-सामने' के बारे में जानते हों। वह एक भगौड़े के बारे में है। सैनिकों की रेलगाड़ी उसकी जन्म-स्थली से गुज़रती है। रेलगाड़ी स्टेशन पर रुकती है और वह नीचे उतरता है, परन्तु वह स्टेशन में तभी लौटता है, जब वह छूट चुकी होती है। जब मैंने इसे लिखा था, तो मुझे लिखने का और जीवन का बहुत कम अनुभव था। वालेन्तीन रस्पूतिन की हाल में प्रकाशित 'जिओ और याद रखो' शीर्षक कृति का भी कुछ ऐसा ही विषय है। उनका उपन्यास मेरी कृति के बीस वर्ष बाद निकला। निस्सन्देह, इस दौरान साहित्य विकसित हुआ, उसका कलात्मक अनुभव समृद्ध बना।

यदि मुझे आज इसी विषय पर फिर से लिखना पड़ता, तो मैं यह काम सर्वथा भिन्न ढंग से करता। तब से लेकर अब तक मैंने बहुत कुछ समझना सीखा। इसमें साहित्यिक समालोचना ने, निस्सन्देह, मदद दी है। वह ऐसे विचारों तथा तर्कों के लिए आहार प्रदान करती है, जो मेरे लिए इस उपन्यास को अधिक सशक्त बनाना सम्भव बनाते।

**हा० प्ला० :** आपकी परवरिश की अवस्थाओं ने आपको अपने पात्र गढ़ने में कितना प्रभावित किया?

**चं० आ० :** मैं आप द्वारा चर्चित भेंटवार्ता में इस बारे में पहले ही कह चुका हूं, जिसमें मैंने बचपन में मन पर पड़नेवाली और 'सफ़ेद जलयान' में शामिल की गयी छापों, उन छापों के बारे में कहा था, जो बड़े अजीबोग़रीब ढंग से उस समय मेरे मानसपट पर अंकित हो गयी थीं, जब मैं अभी बहुत छोटा ही था।...

अपने लघु उपन्यास 'जब पहले सारस आये' पर काम करते समय* मेरे बचपन के संस्मरण विशेष ज्वलन्त रूप से मुखरित हुए। तरुण नायकों के साथ जो कुछ हुआ, वह न्यूनाधिक मात्रा में मेरे अपने जीवन और मेरे अपने अनुभव से जुड़ा हुआ है। सच है कि यह बात इस-में वर्णित ठोस परिस्थितियों पर लागू नहीं होती। वे भिन्न थीं। फिर भी उसका स्रोत मेरा बचपन है। अगर बारीकी से देखा जाये, तो हम सामान्यतया अपने बचपन की बातें मन में सदा संजोकर रखते हैं। वह भावी व्यक्ति का निरूपण करता है। जिसका मनुष्य बचपन में ज्ञान प्राप्त करता है, जिसे वह भोगता है, पहचानता है, वह सब, सारी पीड़ाएं, सारी खोजें उसके पास आजीवन बनी रहती हैं, कल्पना की उड़ान, संस्मरणों के लिए आहार बनती हैं। ... जब मैं यहां आ रहा था, तो मैंने एक युवती तथा युवक को सड़क पर देखा, जो बहुत सुखी नज़र आ रहे थे। वे सारी दुनिया में अकेले ही थे। और दिन निर्मल तथा उज्ज्वल था। उनके लिए मेरे मन में हर्ष की अनुभूति थी, परन्तु साथ ही मुझे अपनी तरुणाई के समय के लिए अफ़सोस भी हुआ, जब मैं इस उम्र के सच्चे मूल्य को, ऐसे घनिष्ठ सामीप्य के, सबसे अलग-थलग अपनी ही दुनिया में रहने के आनन्द को नहीं समझ पाया था। मैंने इस नौजवान के बारे में, इस बारे में सोचा कि उसे इस बात की क़द्र करने के लिए कि बाद में ऐसे क्षणों की पुनरावृत्ति नहीं होती, अभी जीवन में बहुत कुछ भोगना होगा।

**हा० प्ला०:** आप किस तरह काम करते हैं? क्या अपनी कृतियों की पहले से ही योजना बनाते हैं? आपको तथ्यगत सामग्री तैयार करनी पड़ती है? उसे व्यवस्थित रूप देना पड़ता है? क्या आप बाहरी संवेगों की ओर कान देते हैं अथवा अपनी आन्तरिक उत्प्रेरणाओं का अनुसरण करते हुए स्वत:स्फूर्त ढंग से, सहजानुभूति से काम करते हैं?

**चं० आ०:** लेखक प्रत्येक नयी कृति नये ढंग से शुरू करता है। किसी ने बहुत ही सही कहा था कि प्रत्येक लेखक हमेशा रचना आरम्भ करनेवाला लेखक होता है। उसके पास अनुभव का भंडार हो सकता है, हो सकता है कि उसने कोई बड़ा उपन्यास लिखने का काम अभी-अभी पूरा किया हो, यह सब होते हुए भी अपनी प्रत्येक नयी कृति को शुरू करते समय वह सदैव नौसिखिया होता है। इसकका कारण यह है कि प्रत्येक नयी

---

* १९७५ में लिखित।

कृति अपने ही ढंग से पैदा होती है। कभी-कभी वह मानो स्वत:स्फूर्त ढंग से जन्म लेती है। एक सांयोगिक तथ्य, मन पर पड़नेवाली एक छाप बिम्बों की श्रृंखला को जन्म दे सकती है, जो बाक़ी सब पर छा जाते हैं। कभी-कभी कोई काव्यमय विचार चिन्तन, यथार्थ के विश्लेषण, उसकी गहन आन्तरिक अन्तर्वस्तु को प्रकाश में लाने की कामना से उत्पन्न हो सकता है। मैं कह नहीं सकता कि कौन-सा बेहतर है—यह या वह।

**हा० प्ला०:** मुझे इस प्रश्न को कुछ भिन्न रूप में रखने की इजाज़त दीजिये। बहुत-से लेखकों द्वारा लेखन की प्रक्रिया संज्ञान की प्रक्रिया मानी जाती है। क्या आपको आरम्भ में ही सदा पता होता है कि अन्त क्या होगा?

**चं० आ०:** सदा नहीं। निस्सन्देह, लिखने की प्रक्रिया के दौरान परिवर्तन और संशोधन किये जाते हैं। परन्तु लेखक को यह जानना चाहिए कि वह क्यों और किस लिए लिख रहा है। मुझे यह पता होना चाहिए कि कोई मुद्दा शुरू करते समय मैं कहां पहुंचूंगा। यह चीज़ परिकल्पित पथ से हटने या टेढ़े-मेढ़े चलने की सम्भावना से इन्कार नहीं करती, जो नये अनुभव के संचित होने से जुड़ा हो सकता है।

**हा० प्ला०:** आपके उपन्यासों को लेकर जो फ़िल्में बनी हैं, उनके बारे में आपकी क्या राय है? पहले उपन्यास लिखने और फिर उस पर फ़िल्म बनाने के बजाय क्या आप विशेष रूप से फ़िल्म के लिए लिखने की योजना बना रहे हैं?

**चं० आ०:** मेरी कई कृतियों पर फ़िल्में बनायी गयीं। इनकी फ़िल्में बनाये जाने के परिणामों के बारे में मेरा रुख़ भिन्न-भिन्न होता है। जब वे सफल होती हैं, तो मुझे प्रसन्नता होती है और जब वे सफल नहीं होतीं, तो दुख होता है। परन्तु मैं इस बात का क़ायल हूं कि बार-बार प्रयत्न करते रहना आवश्यक है। यह खेलकूद जैसा काम है। कोई रेकार्ड तोड़ने से पहले ऊंची कुदान करनेवाले को सौ बार प्रयत्न करना पड़ता है। प्रयत्नों की संख्या बढ़ने के साथ अनुभव भी बढ़ता जाता है, और यह चीज़ सफलता दिलाती है, कभी-कभी आशा से अधिक। 'सफ़ेद जलयान' के साथ ऐसा ही हुआ। बोलोत शमशियेव द्वारा निदेशित यह फ़िल्म मेरी और दूसरे बहुत-से लोगों की राय में क़िर्ग़िज़ फ़िल्म-जगत की महती उपलब्धि है। निस्सन्देह, यदि हमने प्रयत्न न किये होते, भिन्न-भिन्न रूपान्तरों पर विचार न किया होता और केवल इसी बात पर

अपना सिर पटकते रहते कि फ़िल्म ठीक से बनती है या नहीं, हमें आज़माइश करनी चाहिए या नहीं, तो हमें, शायद, सफलता न मिलती।

एक बात पर ज़ोर देते रहना, साहित्य को फ़िल्म की भाषा में रूपान्तरित करने की विधि खोजते रहना चाहिए। तब साहित्य को दूसरा जीवन, रजतपट पर जीवन मिल जायेगा।

**हा० प्ला०:** चूंकि हम साहित्य तथा फ़िल्म के परस्पर सम्बन्ध की बात कर रहे हैं, मैं 'वोप्रोसी लितेरातूरी' में आपकी भेंटवार्ता में एक बात का हवाला देना चाहता हूं, जो, मेरी राय में, महत्वपूर्ण है। उसमें कहा गया है: "अगर आधुनिक सिनेमाटोग्राफ़ी एक ऐसा जलयान है, जिसका मस्तूल, पतवार और पाल है, तो साहित्य जलयान का इंजन है।" मेरे ख़्याल से, तुलना बहुत सही है।

परन्तु आपने अब भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया है कि क्या आप फ़िल्म के लिए सीधे कोई मौलिक कृति लिख रहे हैं?

**चं० आ०:** अभी ऐसी मेरी कोई योजना नहीं है। इस तरह के कार्य की मैं केवल अपने मित्रों के साथ सहयोग के रूप में कल्पना कर सकता हूं। हम लोग एक ऐसे काम का बीड़ा उठाने की बात सोच रहे हैं, जो कदापि सादा नहीं है। यह है चंगेज़ख़ां के बारे में फ़िल्म बनाना। यह केवल बहुत बड़ी धारावाहिक फ़िल्म हो सकती है। हमारा विचार यह दिखाना है कि एक भी महान सेनापति या विजेता अपने लक्ष्यों की सिद्धि में इसलिए सफल नहीं हो सका कि उसने अपने को बुराई की ऐसी शक्तियों की गिरफ़्त में पाया, जिन पर वह निर्भर करता था और जिन्होंने उसे खिलौने में बदल दिया था। यह विचार का, निस्सन्देह, सतही वर्णन है। मैं तो केवल यह कहना चाहता था कि इस तरह का विचार मौजूद है और हम उस पर सोच रहे हैं। यह मौलिक सामग्री होगी, जो विशेष रूप से फ़िल्म के लिए होगी।

**हा० प्ला०:** आपकी राय में साहित्य का फ़िल्म के लिए और फ़िल्म का साहित्य के लिए क्या अर्थ है?

**चं० आ०:** यह दिलचस्प प्रश्न है। मैं कई बार कह चुका हूं कि साहित्य तथा फ़िल्म आज एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। भविष्य में यह सम्पर्क, शायद, और भी ज़्यादा बढ़ेगा। एक-दूसरे के बिना काम नहीं चलाया जा सकता। यह बात फ़िल्म पर लागू होती है, जो साहित्य पर बहुत अधिक निर्भर करती है। आख़िरकार, वास्तविक

फ़िल्म कला इस बात का प्रयास करती है कि वह चिन्तन की दृष्टि से समृद्ध हो। वह गतिशीलता की महज़ नक़ल नहीं करना चाहती, वह तो मनुष्य के आन्तरिक जीवन को उजागर करने का प्रयास करती है। इसके लिए बड़े साहित्य की ज़रूरत है। विश्व फ़िल्म-निर्माण उद्योग का अनुभव इस बात का साक्षी है कि ठीक यही सही रास्ता है। फ़िल्म-निर्माण की सर्वोत्तम उपलब्धियां स्रोत के रूप में साहित्य से जुड़ी हुई हैं। हम यह मान सकते हैं कि ऐसे सम्बन्ध बढ़ते जायेंगे।

**हा० प्ला०:** हमारा फ़िल्म-निर्माण उद्योग कई उपन्यासों को लेकर ऐसी फ़िल्में बना रहा है, जो प्राथमिक स्रोत में कुछ भी नया नहीं जोड़तीं, जो चित्रण मात्र होती हैं। इसलिए अक्सर ऐसे प्रतीत होता है कि यह विधा का नियम है कि फ़िल्मों को किसी कथा का केवल चित्रण करना चाहिए, उसके केवल बाहरी, सतही पहलुओं को दिखाना चाहिए।

**चं० आ०:** जी हां, बहुत अक्सर ऐसा ही होता है, हालांकि डायरेक्टर व्यापक दर्शक समुदाय की ओर अपनी अभिमुखता के ज़रिये इसे न्यायोचित ठहराते हैं। परन्तु साहित्य की तरह फ़िल्मों का भी भिन्न-भिन्न स्तर हो सकता है। निस्सन्देह, ऐसी फ़िल्मों का होना भी ज़रूरी है, जो दर्शकों के मनोरंजन के लिए हों। परन्तु कला के समस्त क्षेत्रों में और, प्रसंगतः, कला के सिद्धान्त में अग्रगामी शक्तियां होनी चाहिए, जो गम्भीरतापूर्वक नये पथों की खोज करती हों।

पुराने ज़माने में राजनीति से लेकर संगीत तक में उस सबको, जो मनुष्य की बौद्धिक तथा आत्मिक रुचियों की परिधि में आता था, बौद्धिक जीवन कहा जाता था। रुचियों का यह दायरा पृथक-पृथक व्यक्तियों में, ख़ास तौर पर आम जनता में, आज सतत रूप से फैलता जा रहा है। अतः, बौद्धिक जीवन किसी श्रेष्ठ श्रेणी का विशेषाधिकार नहीं रह गया है, अपितु समस्त जनगण के जीवन का अविच्छेद्य भाग बन गया है। यह, निस्सन्देह, बीसवीं शताब्दी की असाधारण क्रान्तिकारी उपलब्धि है। मेरा तात्पर्य सर्वत्र दृष्टिगोचर रूढ़प्ररूपों की पूजा, बौद्धिक जीवन के मानकीकरण से है, जिन्हें काफ़ी हद तक आधुनिक जन सूचना माध्यम और सर्वोपरि टीवी जन्म देते हैं। बात इन माध्यमों को सीमित करने की नहीं है, इसके विपरीत, वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति की विश्वव्यापी उपलब्धियों का उपयोग करने के साथ यह भी आवश्यक है कि उच्चस्तरीय सृजनशील चिन्तन बौद्धिक जीवन का भाग बने। मुझे यक़ीन

है कि इस मामले में मुख्य भूमिका ललित साहित्य, साहित्यशास्त्र तथा समालोचना को अदा करनी चाहिए।

आज का सर्वोत्तम साहित्य हमारे समकालीनों के उन गुणों, व्यक्ति के उन लक्षणों को उजागर करता है, जो हमारे सामाजिक तथा नीति-आचार सम्बन्धी आदर्शों और साथ ही समस्त युगों के संयुक्त अनुभव, याने सार्विक आदर्शों से मेल खाते हैं। यह साहित्य का शाश्वत ध्येय रहा है। मैं यह समझता हूं कि समकालीन साहित्य के कार्यभारों के प्रति इस तरह का दृष्टिकोण पहली नज़र में कुछ सरलीकृत प्रतीत हो सकता है। फिर भी ठीक ये ही शाश्वत तथा सार्विक आदर्श साहित्य और कला की बुनियादी समस्याएं बने हुए हैं। साहित्य के प्रकार्य परिवर्तित हो सकते हैं, परन्तु उसका आधार—मानव के सार का परावर्तन—अपरिवर्तित बना हुआ है।

इस बात का कि साहित्य का आधार अपरिवर्तित बना हुआ है अर्थ यह नहीं निकलता कि उसके रूप भी अपरिवर्तित रहते हैं। इसके विपरीत, मनुष्य, समाज, समग्र रूप में जगत तथा उसमें हमारे स्थान के विषय में हमारे विचारों का विकास तथा गहनीकरण अविराम गतिशीलता, यथार्थवादी शैली में रूपों के परिष्करण की अपेक्षा करते हैं, क्योंकि यथार्थ के बिम्बात्मक परावर्तन की समस्त विधियों में यथार्थवाद कलात्मक चिन्तन का शिखर है। आधुनिक विश्व साहित्य का यथार्थवाद अतीत की यथार्थवादी कहानियों से उसी तरह भिन्न है, जिस तरह लोबाचेव्स्की की ज्यामिति यूक्लिडीय ज्यामिति से भिन्न है। साहित्य मनुष्य के आत्मिक जीवन में आज जितनी बड़ी भूमिका अदा कर रहा है, उतनी पहले कभी अदा नहीं की थी। अकेले इस कारण भी हम बहुत बड़ा उत्तरदायित्व वहन कर रहे हैं।

# बोलने का वक़्त आ चुका है*

## साहित्य-समालोचक व्लादीमिर कोर्किन के साथ संवाद

**व्ला० को०:** एक बार साहित्य के बारे में, इस बारे में कि "वह क्या है और किसके लिए है", आपने अपने ही प्रश्न का इस प्रकार उत्तर दिया था: "...मेरा विचार है कि साहित्य का प्रथम और सबसे अधिक सामयिक कार्यभार पृथ्वी पर स्वस्थ नैतिक वातावरण बनाने में मदद देना है, यह आज प्राकृतिक पर्यावरण की चिन्ता करने जितना ही महत्वपूर्ण है, जिसके बिना सामान्य, स्वस्थ जीवन सम्भव नहीं है।"

आप आज इस बारे में क्या कहना चाहेंगे? यह कार्यभार विश्व साहित्य के समक्ष कौन-सी सामान्य सामाजिक-दार्शनिक और नैतिक समस्या प्रस्तुत कर रहा है?

**चं० आ०:** मैं इसे आधुनिक चिन्तन का विकास करने की समस्या कहूंगा।... यह सबसे पहले अग्रगामी, प्रगतिशील मानवीय स्तर पर सोचने की क्षमता तथा योग्यता है, जिसका, सारतः, अर्थ सच्चा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, सम्पूर्ण विश्व में संचित मौलिक संस्कृतियों, जातीय भाषाओं, कलात्मक मूल्यों का सच्चा आदर-सम्मान है। और, अन्ततः, यह देशकाल में सोचने की, वर्त्तमान में भविष्य के आह्वान को पहचानने तथा सुनने की क्षमता है। ठीक इस अर्थ में वर्त्तमानकाल का प्रत्यक्षबोध करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है, यदि वह मनुष्य की दूसरी प्रकृति, उसका नया स्वभाव बन जाता है।

**व्ला० को०:** किसी दार्शनिक ने कभी कहा था कि चिन्तन का अर्थ सार्वत्रिक चिन्तन है। आज के "सार्वत्रिक चिन्तन" की, जिसके बिना समकालीन नैतिकता असम्भव है, आप किस तरह कल्पना करते हैं?

**चं० आ०:** मानवजाति के लिए आज शान्ति की चिन्ता करने से बड़ा और कोई कार्य न तो है और न हो सकता है।

---

* चं० आइत्मातोव, 'शान्ति की प्रतिध्वनि', प्राव्दा प्रकाशनगृह, १९८५।

उसे सर्वग्राही सर्वआत्मसात्कारी भावावेग, ऐसा विचार बन जाना चाहिए, जो हरेक के और सबके मन और हृदय पर छा जाये, उसे मनुष्य के व्यक्तित्व का नैतिक पैमाना माना जाना चाहिए।

**व्ला० को० :** परन्तु किस "पैमाने" को सबसे ऊंचा माना जा सकता है जब ऐसे आश्चर्यजनक, स्तब्धकारी तथ्यों के बारे में पता चलता है, जिनका, उदाहरण के लिए, एक सुबोध वैज्ञानिक पत्रिका में वर्णन किया गया है? लैटिन अमरीका से पेरिस में लाये गये कुछ विदेशी फूल सहसा मुर्झाने लगे, हालांकि मौसम बहुत अच्छा था। जो कुछ हो रहा था, उसका वैज्ञानिक कोई स्पष्ट कारण नहीं बता सके। हुआ क्या था? पता चला कि जिस देश से ये फूल लाये गये थे, वहां असामान्य रूप से घोर सूखा पड़ा और उसी क़िस्म के फूल वहां भी मुर्झा रहे थे।

लोगों के लिए यह कितना शिक्षात्मक तथा कटु सबक़ है!

शायद व्यक्ति का पैमाना "बाल अन्त:करण" के बराबर होता है? ये तो 'सफ़ेद जलयान' में आपके ही शब्द हैं।

**चं० आ० :** शायद ऐसा ही सम्भव हो।

इस बात की केवल कल्पना की जा सकती है कि मानवजाति का इतिहास कैसा होता, आज दुनिया कैसी होती, अगर हम लोग, जो अपने को "सृजन का मुकुट" मानते हैं, एक-दूसरे के प्रति ऐसे ही संवेदनशील होते और हममें दूसरे जनगण की, पृथक-पृथक व्यक्तियों की पीड़ा या उल्लास की प्रतिक्रिया होती।

**व्ला० को० :** अगर ऐसा होता... मानव समाज में कुछ ऐसा सिद्धान्तत: सम्भव है?

**चं० आ० :** यह शायद यूटोपियाई सपना है। परन्तु अगर यह सम्भव न होता, तो फिर पशुजन्य अवस्था से मनुष्य की व्युत्पत्ति क्यों हुई? क्या ऐसी सम्भावना की अवज्ञा कर दें? मैं मनुष्य में विश्वास करता हूं!

क्या यह सम्भव है कि मानवजाति हज़ारों वर्ष तक कष्टभरे पथ पर चलने के उपरान्त और केवल अब जाकर जीवन की गति की महानता की तथा इस गति में अपने स्थान की इतनी तीक्ष्ण तथा गौरवपूर्ण अनुभूति हो जाने पर आत्म-अपमान और आत्म-विनाश के लिए सहमत हो जायेगी?... यह तो तब से लेकर, जब मनुष्य मनुष्य बना, अब तक आत्म-संज्ञान के लिए चुकायी गयी इतनी महंगी क़ीमत पर प्राप्त महान विचारों के अध:पतन का द्योतक होगा।

निराशावाद का अर्थ है उद्देश्य का अभाव और यह चीज़, मेरा विश्वास है, मृत्यु से बदतर है।

**व्ला० को०:** बिना लक्ष्य के जीवित मनुष्य को, आपकी राय में, क्या अनुभव करना पड़ता है?

**चं० आ०:** यह माना जाता है कि बाइबलीय काल में ऐसे लोग घोर यंत्रणा भुगतते थे। प्राचीन काव्य में इस बात को इस रूप में व्यक्त किया गया: "उन दिनों लोग मृत्यु की तलाश करेंगे, परन्तु उसे नहीं ढूंढ़ पायेंगे; उसकी कामना करेंगे, परन्तु मृत्यु उनसे कतराकर निकल जायेगी।"

**व्ला० को०:** कौन-सी चीज़ उसे उस लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करती है, जिसके परिणामस्वरूप वह जीवन का सच्चा अर्थ ग्रहण करता है, बाइबलीय यंत्रणा से छुटकारा पाता है?

**चं० आ०:** जीवन। यह विचारणीय बात है: यदि कोई सर्वोच्च लक्ष्य न होता, तो जीवन-चक्र बहुत पहले ही रुक गया होता, उसका वृक्ष उसकी बौद्धिक शाखा याने मानवजाति के साथ मुरझा गया होता। आशा के बिना हमारी किसी भी गतिविधि का कोई अर्थ न होता।

**व्ला० को०:** पर आप इससे तो सहमत होंगे कि केवल भय के कारण जीवन में लक्ष्य की प्राप्ति...

**चं० आ०:** ...यह तो अपने को धोखा देना होगा! यह चीज़ तो निराशा की और भी ज़्यादा अंधेरी गली में पहुंचा देगी अथवा हमें पीछे नवप्रस्तर युग में ले जायेगी।

शान्ति के लिए सशक्त आन्दोलन, जो नाना देशों तथा जनगण को अभूतपूर्व शक्ति के साथ अपनी परिधि में ला रहा है, ऐसी मुहिम नहीं है, जो मानो स्वत:स्फूर्त ढंग से पैदा होकर युद्ध की काली छाया के लुप्त होते ही ख़त्म हो जायेगी। यह तो जनसाधारण की सामाजिक जाग्रति की अनुत्क्रमणीय प्रक्रिया, मनुष्य का आत्मिक पुनर्जन्म है। मानवजाति ने नये युग में पदार्पण किया है। इसका सूत्रपात महान अक्तूबर क्रान्ति ने किया। मेरे विचार से मानवजाति पहले कभी इतनी भाग्यशाली नहीं रही, जितनी कि आज है, क्योंकि वह पहली बार अन्तर्निहित प्रतिष्ठा से अवगत हुई है, जो, मेरी राय में, बुद्धि है, जिसे स्वतंत्रता ने पंख दिये हैं।

जनगण इतिहास के सृजनकार हैं। यह महान क्रान्तिकारी विचार, जो भयंकर संघर्ष की आग में तपा है और जिसे सृजनात्मक श्रम

में प्रेरणा मिली है, ऐसी असाधारण ज़बर्दस्त ताक़त बन गया, जिसने पहले के अलग-अलग जनगण को एक राज्य में ऐक्यबद्ध कर दिया है। मैं तो यह कहूंगा कि इसमें और इसके ज़रिये हमें आत्म-परिष्करण के पथ पर, मानवजाति के विकासक्रम तथा जीवन के सर्वोच्च अर्थ की समझ के पथ पर एक नयी मंज़िल का प्रत्यक्षबोध हो रहा है। इसका वास्तविक मूर्त्त रूप है समाजवाद। हम स्वयं एक नया ऐतिहासिक समुदाय हैं, जिसे सोवियत जनता कहा जाता है।

यह विश्व की नियति, भविष्य के प्रति हमारा दायित्व निर्धारित करता है। क्या बीसवीं शताब्दी से पहले कोई विश्व शान्ति आन्दोलन था, जिसकी नींव—हमें इस बात पर गर्व होता है—लेनिन की शान्ति आज्ञप्ति ने डाली थी?

**व्ला० को० :** तो क्या इसका मतलब यह है कि शान्ति के लिए संघर्ष का अर्थ एक तरह भूमंडलीय चेतना के लिए संघर्ष है?

**चं० आ० :** जी हां, क्योंकि दूसरा ध्रुव है पागलपन, नाभिकीय युद्ध के मन्सूबे, जन-संहार के साधनों के उपयोग की अवधारणाएं तथा सिद्धान्त। ऐसे पागलपन के विरुद्ध, जो मानवजाति के लिए अभी तक अज्ञात था, जो बुराई तथा उस द्वारा ग्रहण किये जानेवाले किसी भी तरह के रूपों के बारे में हमारी सबसे ज़्यादा अजीबोग़रीब अवधारणाओं को ग़लत साबित करता है, संघर्ष ने साथ ही मानवीयता की शक्ति में असामान्य उभार को, ऐसी प्रतिक्रिया को जन्म दिया है, जिसकी गहनता का हम स्वयं पूर्वानुमान नहीं कर पाये थे। और यह मानवीयता अपने को कार्रवाई में, संघर्ष में अधिकाधिक अभिव्यक्त करती है।

और किसी भी चीज़ की अपेक्षा शान्ति आन्दोलन में ही आधुनिक चिन्तन अमूर्त्त नहीं, अपितु ठोस रूप में पूर्णतः प्रतिबिम्बित होता है, अपनी शक्ति की आज़माइश करता है, इतिहास-सृजन की सच्ची महानता, भ्रातृत्व और मैत्री की भावना में ऐक्यबद्ध जनगण के बीच शान्ति के विचारों को आलोकित करता है।

**व्ला० को० :** नया चिन्तन पूर्ववर्ती चिन्तन के परित्याग की पूर्वकल्पना करता है। मनुष्य को, आपकी राय में, किस चीज़ से अपने को मुक्त करना चाहिए?

**चं० आ० :** सार्विक रूप से अपमानकारी भय से, एकांतिकता की भावना से, उदासीनता या क्रूरता से—उस सबसे, जिसे मन

में धृष्टतापूर्वक बिठाया जाता है और जिसके लिए पागलपन का हितसाधन कर रहा बुर्जुआ प्रचार उसे उकसाता है। यह मुक्तिदायी प्रक्रिया जितने ही अधिक ज़ोर के साथ चलती है, उतनी ही अधिक स्पष्टता के साथ लोग समझने लगते हैं कि उन्हें किसमें रूपान्तरित किया जा रहा है, उनका किस रूप में उपयोग किया जा रहा है। मेरी राय में, मनुष्य के लिए इससे अधिक अपमानजनक बात और कोई नहीं हो सकती कि उसे लुटेरे की भूमिका पेश की जाये। मेरा तात्पर्य विशेष रूप से पश्चिमी प्रचारयंत्र के बदनीयतीभरे प्रयत्नों से है, जो अपने देशों के जनगण को यह विश्वास दिलाते हुए कि वे युद्ध में जीवित रह जायेंगे, जबकि अन्य सब जनगण का धरती पर से नामोनिशान मिट जायेगा और वे उनके श्रम के फलों का पूर्ण उपभोग कर सकेंगे, उन्हें युद्ध के बारे में निश्चिंत कर रहा है, यहां तक कि उन्हें इसका प्रलोभन भी दे रहा है।

**व्ला० को० :** इसका तो केवल उल्टा ही असर पड़ सकता है।

**चं० आ० :** यक़ीनन। मुझे तो दूसरी ही बात चिन्तित कर रही है: सामान्यतया ऐसा विचार पैदा ही कैसे हो सका? यह तो पागलपन का फल है!

मनुष्य जितना आगे बढ़ता जायेगा, वह नूतन की ओर, जीवन को जारी रखने की ओर सतत तथा अरोध्य रूप से आगे बढ़ते रहने के सिवाय और किसी अन्य चीज़ से उतना ही कम सहमत होगा। बात ऐसी है: प्रकृति के सबसे सुन्दर उपहार का, आइन्स्टीन के शब्दों में, देखने और समझने के सौन्दर्य का परित्याग कौन करेगा?

**व्ला० को० :** इस प्रसंग में "देखने" का अर्थ क्या है?

**चं० आ० :** मैं इसका अर्थ विश्व को एक साथ बालक तथा ज्ञानी की आंखों से देखना मानता हूं।

जीवन तो शाश्वत चमत्कार है। हम वयस्कों को इस बात का क़ायल करने की ज़रूरत नहीं है कि यह पुनीत सत्य है। हम यह स्वयं जानते हैं। परन्तु... क्या हम यह अनुभव करते हैं? उसी तरह, जिस तरह बच्चा—निस्स्वार्थ भाव से, अपने को विस्मृत करते हुए—एक भी शब्द कहे बिना अनुभव करता है, जिसकी आत्मा में जगत का नया जन्म होता है? वह उसे "सृजन" के पहले दिन की ही तरह अत्यन्त सुन्दर पाता है, जब सम्पूर्ण जगत प्रभातवेला की ओस में अभी खेल ही रहा होता है।

मनुष्य की प्रकृति, वह प्रकृति, जो नितनूतन है, सम्पूर्ण जीवधारियों के प्रति स्वत:स्फूर्त तथा अरोध्य प्यार में आद्य शक्ति के साथ अपने को प्रकट करती है।

बचपन को कुछ भी चकित नहीं कर सकता। वह — भले ही यह बात विरोधाभासपूर्ण लगे — जीवन का निस्सन्देह सबसे गम्भीर समय होता है। बच्चा सम्पूर्ण जगत को, सारे लोगों को प्यार करता है, उसके लिए कोई अजनबी नहीं होता। वह अभी काल के बाहर होता है, और हर काल में भी होता है और वह बचपन के दायरे से बाहर तब तक नहीं जाता, जब तक उसका बौद्धिक विकास मानवजाति के पूरे इतिहास से नहीं गुज़रता। क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि वह क्या और कैसे देखता है?

**व्ला० को०:** प्रसंगत:, यह संयोग की बात नहीं है कि यह रोमांचकारी रहस्य केवल लेखकों को ही नहीं, अपितु वैज्ञानिकों को भी आकर्षित करता है। हाल में मैंने एक लेख पढ़ा था, जिसमें उन जीवविज्ञानियों की वेदना व्यक्त की गयी थी, जो मानव-जीवन के आरम्भ को "देखने" का सपना देख रहे थे: "यदि नवजात शिशु याद कर सकता और बोल सकता, तो वह होमर की गाथाओं जैसी अद्भुत गाथाओं को लेकर मां के गर्भ से बाहर निकलता। वह गर्भ-धारण के चमत्कार का और एक सामान्य पदार्थ में चेतना का समावेश करती हुई अरबों तंत्रिका-कोशिकाओं के तरंगमय नृत्य का वर्णन करता।..."*

यह, मेरी राय में, सच्चा काव्य है, इस तथ्य की तो बात ही क्या कि यह हज़ारों कविताओं से अधिक अर्थपूर्ण है।

**चं० आ०:** यह सर्वथा स्वाभाविक है।

**व्ला० को०:** पर क्यों?

**चं० आ०:** ऐसा वैज्ञानिक, जो जीवन की गहराई में पैठने का, चमत्कार को स्पर्श करने का (हाथों से किसी भी सूरत में नहीं, अन्यथा वह नष्ट हो जायेगा) प्रयास करता है, सच्चा कवि हुए बिना नहीं रह सकता। और मुख्य बात यह है कि वह उसे देखता है, जिसे उससे पहले किसी ने नहीं देखा था, अनुभव नहीं किया था।

**व्ला० को०:** क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि आज कवि

---

* शारोन बेगली और जान केर्न की रचना 'मानव-जीवन का आरम्भ कैसे हुआ' से उद्धृत, जो 'न्यूसवीक' पत्रिका में (११ जनवरी, १६८२, पृष्ठ ६) प्रकाशित हुई थी, उसका एक अंश 'जा रुबेजोम' में प्रकाशित (अंक १४, १६८२) हुआ था।

होना—"सामान्य में असामान्य तथा असामान्य में सामान्य देखना"—केवल वैज्ञानिक का विशेषाधिकार है?

**चं० आ०:** नहीं। कदापि नहीं। हम उन लोगों के चेहरे देखते हैं, जो सृजन के आनन्द तथा गौरव से ओतप्रोत होते हैं।

**व्ला० को०:** यह बात विस्मयकारी है कि जिसका अपने हाथों से सृजन होता है, उसकी कोई एक मनुष्य नहीं, अपितु समस्त जनता, हरेक मनुष्य, वे सब प्रशंसा करते हैं, जिन्होंने साझे कार्य में अपना श्रम तथा अपनी आत्मा लगायी है। आपकी राय में, ऐसी घड़ी में मनुष्य क्या अनुभव करने में सक्षम होता है और वह किस बारे में सोचता है?

**चं० आ०:** जनता की अनुभूति इतिहास की अनुभूति है, क्योंकि इतिहास जनता के हाथों की कृति है। वह उसका चेतनशील सृजनकार है। याने इतिहास को निजी नियति के रूप में ग्रहण किया जाता है। ऐसी नियति, जिसे मनुष्य अपने हृदय से सब कुछ भुगतते हुए पाता है।

**व्ला० को०:** मेरे ख़याल से, जीवन का ऐसा प्रत्यक्ष बोध आपके उपन्यास 'एक सौ वर्षों से अधिक लम्बा दिन'* के नायक—बुरान्नी येदिगेई—की विशिष्टता है। उसमें आप अतीत का, युद्ध के बाद के कठिन समय का चित्रण करते हैं। बेशक, वह नायक की कल्पना में प्रवाहित होता है, संस्मरणों की छवियों में उत्पन्न होता है। वह समय आपको क्यों आकर्षित करता है?

**चं० आ०:** इसलिए कि वह समय वास्तविक रूप से वीरतापूर्ण था, उसका स्वरूप जनता की, मनुष्य की आत्मा ने ढाला था, जिसने धरती पर सबसे बड़ी बुराई—फ़ासिज़्म—को राख में बदल डाला था। उन दिनों "मातृभूमि", "जनता", "साहस", "सम्मान" की अवधारणाओं का विशेष मूल्यांकन किया जाता था। वे उनके पवित्र रक्त में सनी हुई थीं, जिन्होंने धरती पर जीवन की ख़ातिर वीरगति पायी थी, जिनकी माताएं उनके लौटने की आज भी प्रतीक्षा कर रही हैं, जो आज भी अपनी माताओं के यंत्रणादायी, पीड़ादायी सपनों में जीवित रूप में प्रकट होते हैं।

जहां तक बुरान्नी येदिगेई के चरित्र का सरोकार है, तो आपने ध्यान दिया होगा कि वह जीवन को युद्ध की नज़रों से देखता है। वह अन्य मानवों को उस रूप में देखना चाहता है, जो होने का स्वप्न उसने स्वयं देखा था, बशर्ते मृत्यु उसे अपने फंदे में न ले ले। येदिगेई को उस घोर

* १६८१ में प्रकाशित।

अग्नि-परीक्षा ने असल इन्सान बना दिया, जो उसके देश, उसकी जनता के हिस्से में आयी थी, जिसमें उसने उसी तरह भाग लिया था, जिस तरह वह देश की जनता पर किसी भी बोझ को अपने कंधों पर उठाता।

भगवान न करे कि किसी को असल मनुष्य बनने के लिए ऐसी अग्नि-परीक्षा से गुज़रना पड़े। और भगवान न करे कि आज लोग उनकी ख़ातिर सम्पन्न वीरतापूर्ण कार्यों की उपेक्षा कर दें और उन्हें स्मरण करने के पवित्र कर्त्तव्य की ओर से मुंह फेर लें।

**व्ला० को० :** जी हां, आज यह ऐसी सबसे कड़ी परीक्षा है, जो इतिहास ने हमारे, जीवितों के सम्मुख प्रस्तुत की है। कहा जाता है: "विनाशकाले विपरीत बुद्धि"। यह महाविपदा है। बदक़िस्मती भले ही असह्य रूप से कटु हो, फिर भी कौन उसकी भर्त्सना कर सकता है या उस पर हंस सकता है। यह तो और भी बुरी बात है, अगर मनुष्य की स्मरण-शक्ति का हरण कर लिया जाता है। और यह भगवान नहीं, अपितु स्वयं लोग करते हैं, जो उसे ऐसे दैत्य में बदल डालते हैं, जो स्वयं अपनी मां की हत्या करने में सक्षम होता है। मेरा तात्पर्य मान्कुर्त के बारे में आपकी दंतकथा से है। आख़िरकार, यह केवल कहानी तो नहीं है!

**चं० आ० :** और आप क्या सोचते हैं?

**व्ला० को० :** मैं ऐसा सोचता हूं। मैं तो यह भी मानता हूं कि कुछ चीज़ें और भी भयंकर होती हैं, जैसे कि स्वैच्छिक मान्कुर्तवाद। क्या साबितजान के मामले में यही बात नहीं है, जिसने मनुष्य होने के बजाय रोबोट होना पसन्द किया? मेरी राय में, उस परिघटना में सबसे ख़तरनाक बात, जिसका वह मूर्त्त रूप है, यह है कि वह इससे कितना उल्लास अनुभव करता है, वह दूसरों को भी, जो अपना "लाभ" अब भी नहीं समझ पाते, अपने ही सांचे में ढालने का प्रयत्न करता है: "वह वक़्त आयेगा, जब लोग आटोमेटों की भांति रेडियो से निदेशित होंगे। आप समझते हैं—लोग, सबके सब, बच्चे से लेकर बड़े तक। ऐसी वैज्ञानिक तथ्य-सामग्री मौजूद है। विज्ञान उदात्ततम हितों को आधार बनाते हुए यह सम्पन्न कर चुका है।"

इन सबके अलावा साबितजान नयी क़िस्म का इन्सान, ऐसा अतिमानव होने का दावा करता है, जो "उदात्ततम हितों" से उत्प्रेरित होता है।

**चं० आ० :** पर यह चीज़ उसे हास्यास्पद भी तो बनाती है। मैं उसके

"दर्शन" का बाज़ारूपन और बेतुकापन दिखाना चाहता था, जिसकी वंशावली छुपी हुई नहीं है, वह स्पष्ट है: आत्मिक कूपमंडूकता तथा उपभोगवाद की मनोवृत्ति।...

**व्ला० को० :** और परिणाम—स्मरणशक्ति का अपक्षय?

**चं० आ० :** यह तो, शायद, आदिकारण है: स्मरणशक्ति हमारा निर्मम अन्त:करण है। अन्त:करण मनुष्य को अपने आत्मिक आदर्शों के साथ अस्वैच्छिक रूप में और ख़ास तौर पर स्वैच्छिक रूप में ग़द्दारी करने की कभी अनुमति नहीं देता। साबितजान के लिए यह ज़रूरी है और, कह सकते हैं, वह मजबूर है कि वह इन्सान न बना रहे (अतिमानव वही चीज़ नहीं है), ताकि वह आराम से धन बटोरने, पद्दोन्नति, आदि के काम में जुटा रहे। और दूसरों को अपने "सिद्धान्त" के सांचे में ढालने, "भोले लोगों" को अपनी आस्था का अनुयायी बनाने की उसकी कामना उसके चिन्तन का तर्कसंगत विकास है, इस तरह उसके बारे में कोई निर्णय देने के नैतिक अधिकार से उसे वंचित कर दिया जाता है। लोग रोबोट का रास्ता रोक देते हैं। उनका मौन तिरस्कार तक उसे क्षुब्ध कर देता है, इसी कारण साबितजान अपने पिता के सामने, ख़ासकर येदिगेई के सामने बुझा-बुझा, बदहवास रहता है। वह उनकी नज़र नहीं झेल सकता।

किसी सुयोग्य व्यक्ति का, जिसने अपने कार्य और अपने को जनता को अर्पित कर दिया हो, जीवन वह परिघटना है, जिसके सामने बुराई, वह चाहे कैसा ही रूप क्यों न ग्रहण करे, अपरिहार्य रूप से प्रकट और बेनक़ाब हो जाती है।

किसी भी जनता का इतिहास तथा नियति स्मरणशक्ति में दर्ज रहते हैं, जिसके सामने मनुष्य अपने इर्द-गिर्द के संसार और अपने बारे में सोचने का प्रयत्न किये बिना नहीं रह सकता।

यह ऐसी परीक्षा है, जिसका चयन नहीं किया जा सकता। निर्बल इच्छाशक्तिवाला मनुष्य ऐसी परीक्षा का प्रतिरोध करता है, परन्तु सशक्त इच्छाशक्तिवाला मनुष्य इसका मुक़ाबला करेगा। परन्तु उससे कोई भी बच नहीं सकता।

**व्ला० को० :** परन्तु आप कभी-कभी अपने पात्रों को परीक्षा के लिए मनुष्य के प्रति वैरभाव अपनानेवाली "अंध" शक्तियों—स्तेपी, पर्वत, महासागर—के हवाले कर देते हैं।

**चं० आ० :** वे उसी हद तक "अंध" शक्तियां हैं, जिस हद तक हम

उन्हें भयपूर्वक देखते हैं, उनके स्वरूप को नहीं समझ पाते। जो कुछ हमारी समझ के बाहर होता है, उसे हम अपने प्रति वैरभावपूर्ण मान लेते हैं। परन्तु ये तत्त्व अतिप्राचीन काल से मनुष्य को इतनी अरोध्य शक्ति के साथ क्यों अपनी ओर आकर्षित करते रहे? वह क्यों उनकी प्रकृति की गहराई में बैठने के लिए इच्छुक रहा? क्या इसका कारण यह नहीं था कि मनुष्य स्वयं एक चिन्तनशील शक्ति है, क्योंकि वह, मेरी राय में, विषादभरे भाव से उन दिनों को याद करता है, जब वह पशु-पक्षियों की भाषा समझ सकता था, उन्हें अपने "शिकार" के रूप के बजाय "हमारे छोटे भाइयों"* के रूप में देखा करता था।

मैं लोगों से शाकाहारी बनने के लिए नहीं कह रहा हूं। मैं तो एक मानक बन जानेवाली अमानवीयता के विरुद्ध हूं, जो पेटूपन की ख़ातिर समस्त जीवधारियों के संहार को न्यायोचित ठहराती है। मैं, मयाकोव्स्की के शब्दों में, "घोड़ों के प्रति अच्छे रवैये"** के पक्ष में हूं।

यदि हम यह सीख लेते हैं, तो हम सिद्ध कर देंगे कि हम लोग आधुनिक हैं। क्या किसी ऐसे व्यक्ति को आधुनिक माना जा सकता है, जो अपनी प्रकृति माता के प्रति बर्बरताभरा रुख़ अपनाता हो, जो इतना अधिक कल्पनाशून्य हो कि यह न देखे कि वह उन भावी पीढ़ियों के नसीब में कितनी मनहूस ज़िन्दगी और एकाकीपन लिखने जा रहा है, जिन्हें कभी यह मालूम ही नहीं होगा कि कभी ऐसा ज़माना था, जब पक्षी कलरव किया करते थे, फूल खिलते थे, श्वेत मराल (साइबेरियाई हिरन—अनु०) अपनी राजसी शालीनता से मनुष्य को सम्मोहित किया करता था?

जी हां, मनुष्य का स्वभाव है कि वह विश्व का रूपान्तरण करे। वह यह काम सही ढंग से कर सकता है, अगर वह सदैव स्मरण रखे कि यह, एक कवि के शब्दों में, "धरती तथा जल के साथ संयुक्त प्रणेता"*** के रूप में ही सम्भव है।

मुझे यक़ीन है कि ऐसा ही होगा। प्रकृति विषयक क़ानून हमारे राज्य का क़ानून है और उसे पूरी जनता का अनुमोदन प्राप्त है। भावी पीढ़ियां हमारी इस ख़ूबसूरत जन्मभूमि को प्राप्त करने पर उसमें हमें

---

* सेर्गेई येसेनिन (१८९५-१९२५) की 'धीरे-धीरे हम जुदा हो रहे हैं' शीर्षक कविता से।

** व्लादीमिर मयाकोव्स्की (१८९३-१९३०) की कविता का शीर्षक।

*** सोवियत काल्मिक कवि दावीद कुगुल्तीनोव (जन्म १९२२) की कविता से।





चंगेज़ आइत्मातोव क़िर्गिज़ गांववासियों के साथ।







पाठकों से बातचीत करते हुए।

लेखक क़िर्ग़िज़ महाकाव्य 'मनास' के वाचक सायाक़बाई कारालायेव से बातचीत करते हुए।

अपने गांव में।







सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की १९६६ में हुई २३वीं कांग्रेस में चंगेज़ आइत्मातोव और कोन्स्तान्तीन सिमोनोव।

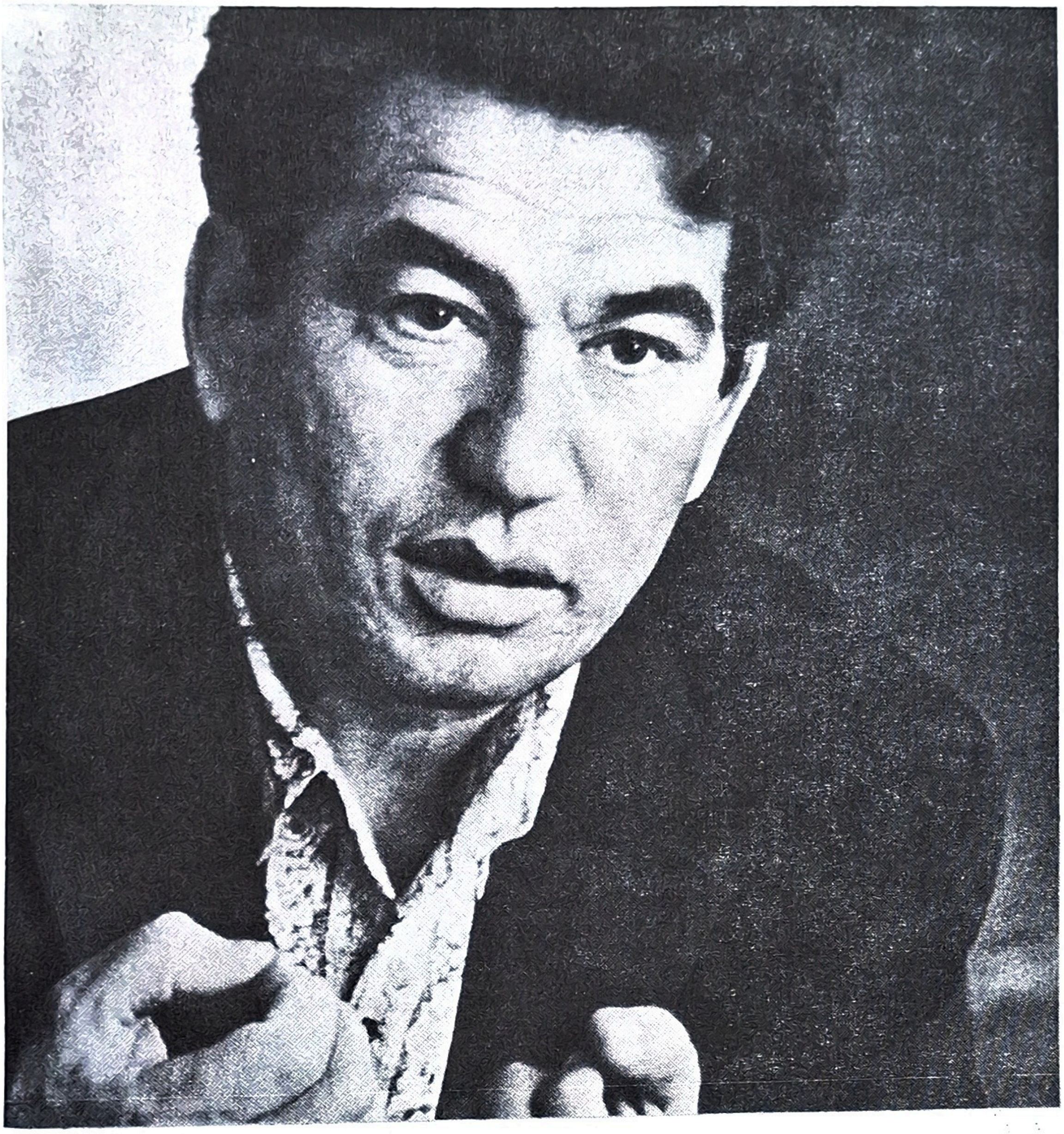
तोक्तोगुल पनबिजलीघर में।





तुर्कमान लेखकगण बेर्दी केर्बाबायेव (दायें) और क० सेइतलियेव के साथ।

सोवियत लेखक संघ की ५वीं कांग्रेस के बाद जेम्स एल्ड्रिज (बायें), लेओनीद लेओनोव तथा ओल्जास सुलेमानोव (कज़ाखस्तान) के साथ बातचीत करते हुए।



आठवां दशक।




लेखक की उपन्यासिकाओं के प्रथम संग्रह—'पर्वतों तथा स्तेपियों की कहानियां'—का आवरण पृष्ठ।



१९८१ में सोवियत लेखक संघ की सातवीं कांग्रेस में चंगेज़ आइत्मातोव और लेओनीद लेओनोव।

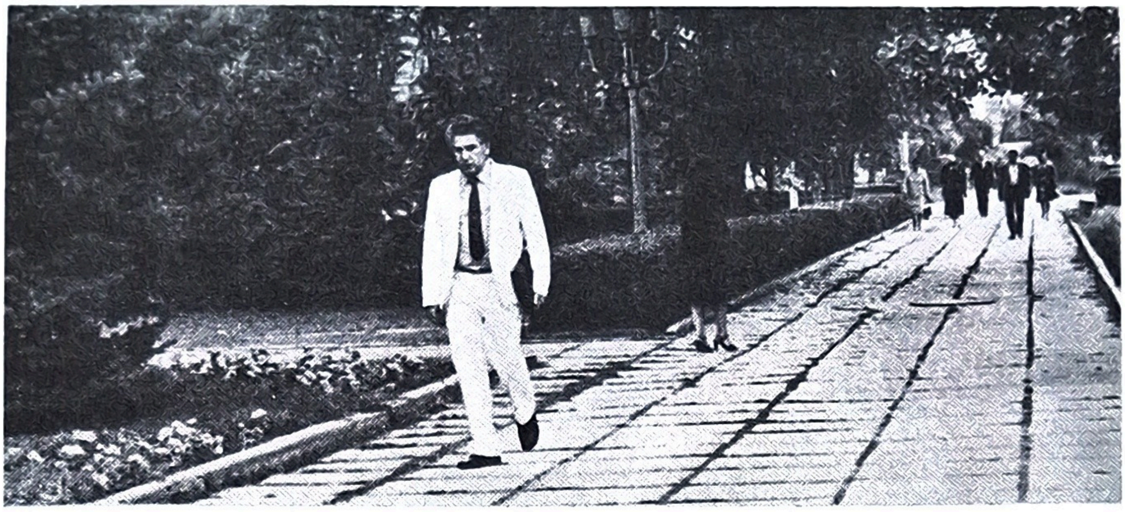
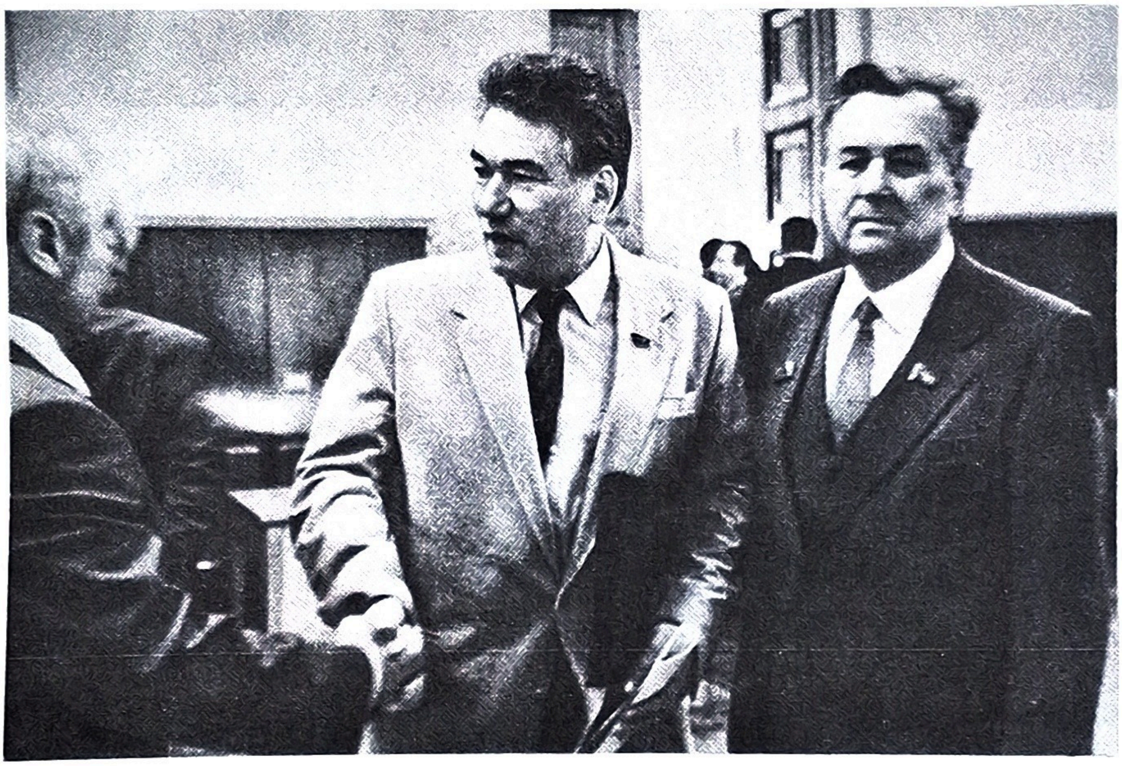
कोन्स्तान्तीन सिमोनोव और चंगेज़ आइत्मातोव।

आइत्मातोव, गरीफ़ अखुनोव (तातारिया) और ल्यूबोमीर लेव्चेव (बुल्गारिया)।

अलेक्सांद्र चाकोव्स्की (बायें), चंगेज़ आइत्मातोव और व्लादीमिर तेंद्र्याकोव।








इस्सीक-कुल झील।

१९८६ में सोवियत लेखक संघ की आठवीं कांग्रेस में। ओलेस गोंचार (दायें)।

१९८६ में इस्सीक-कुल फ़ोरम में भाग लेनेवाले।





लेखक समान भाषा सदैव ढूंढ सकते हैं।

अकादमीशियन द्मीत्री लिखाचोव के साथ।

१९८७ में आयोजित फ़ोरम 'नाभिकीय शस्त्रास्त्र रहित विश्व के हेतु, मानवजाति के जीवन के हेतु'। क्लाउस मारिया ब्रांदाउएर (आस्ट्रिया, बायें)।









चंगेज़ आइत्मातोव और बेर्न्ट एंगेलमान (जर्मन संघात्मक गणराज्य)।

देखेंगी और हमें उसी आभार के साथ स्मरण करेंगी, जिस तरह हम आज एक ज़माने की अछूती धरती को देखने पर उनके आगे शीश नवाते हैं, जिन्होंने उसे अपने हृदय के ताप से गरमी पहुंचायी और अपने अविराम, निस्स्वार्थ श्रम से पुनरुज्जीवित किया।

**व्ला० को० :** याने मनुष्य अपने अमरत्व की रचना स्वयं करता है?

**चं० आ० :** बिल्कुल सही। यह मनुष्य-सृष्टा का एकमात्र "विशेषाधिकार" है, जिसका श्रम अपरिहार्य रूप से लोगों के प्रति उसके प्यार से प्रेरित है, उन्हें जीवन के उतार-चढ़ावों का सामना करने तथा विजयी होने में मदद देता है, चाहे वह सिंफ़नी की रचना करनेवाला संगीतकार, अनाज पैदा करनेवाला सामूहिक किसान, मकान खड़े करनेवाला निर्माता अथवा महासागर पार करनेवाला सागरयात्री हो।...

**व्ला० को० :** ...अथवा लेखक?

**चं० आ० :** अगर उसके लेखन का उतना ही सशक्त प्रभाव पड़ता हो, जितना कि मात्र उस एक शब्द—"भूमि!"—से बननेवाली सर्वाधिक सुन्दर कविता का पड़ता है, जो जलयान पर खड़े मनुष्य के मुंह से धरती को देखते ही निकल पड़ता है। आज पहले किसी भी समय की तुलना में उसकी अधिक आवश्यकता है, क्योंकि मानवजाति अपने इतिहास में सबसे जटिल घड़ी से गुज़र रही है, क्योंकि इसके बावजूद, यही नहीं, उसकी बदौलत (यह चाहे कितना ही विरोधाभासपूर्ण लगे!) वह अस्तित्व के सौन्दर्य को देखने और भरपूर जीवन जीने के लिए इतना लालायित कभी नहीं रही, जितना कि आज है, क्योंकि अब से यह पीड़ादायी प्रश्न उसका पीछा कभी नहीं छोड़ेगा: और आगे क्या?

कुछ भी हो, एक बात बिल्कुल साफ़ है: अपने स्वभाव से ही मनुष्य को सदैव उसके लिए लालायित रहना चाहिए, जो उसने नहीं देखा है, परन्तु जो उसे देखना चाहिए, अन्यथा वह सुखी नहीं होगा।

**व्ला० को० :** बिल्कुल रूसी लोककथा की भांति: वहां जाओ, न जाने कहां, उसे ढूंढ़ो, न जाने क्या?

**चं० आ० :** बिल्कुल ठीक! देखा आपने, लोककथा की कल्पना सर्वथा यथार्थपरक हो सकती है। उसमें भविष्य कूटबद्ध कर दिया गया है।

जब लोग पूछते हैं कि "नये ढंग से लिखने" का आज क्या अर्थ है, तो विशेष रूप से (इस समस्या की ओर ज़्यादा तफ़सील के साथ बाद में बात करेंगे) इसका अर्थ, मेरी राय में, मनुष्य द्वारा जीवन के सामंजस्यपूर्ण प्रत्यक्षबोध की अभिव्यक्ति का प्रयास है। याने अपने

चारों ओर के जगत के भव्य चित्र का उस रूप में पुनर्सृजन करना, जिस रूप में वह हमारे समकालीन की प्रशंसाभरी दृष्टि के समक्ष प्रकट होता है अथवा उसके विचारों, भावनाओं तथा कार्यों में स्वत:स्फूर्त ढंग से परावर्तित होता है, जो स्वयं मनुष्य को रूपान्तरित कर देते हैं और उसकी नज़रों को, अन्ततः, स्वयं अपनी ओर मोड़ देते हैं।

**व्ला० को० :** मुझे लगता है कि आपके इस विचार का उससे, सारत:, मेल है, जो आपने अपने उपन्यास 'एक सौ वर्षों से अधिक लम्बा दिन' की भूमिका में लिखा था। "अजीबोग़रीब—यह जीवन का एक रूपक है, जो जीवन को एक नये, अप्रत्याशित कोण से देखना सम्भव बनाता है। रूपक हमारे युग में विशेष रूप से आवश्यक हो गये हैं, केवल इसी कारण नहीं कि वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति ने गुज़रे कल की कल्पना के क्षेत्र में चरण रखे हैं, अपितु इस कारण भी कि जिस जगत में हम रहते हैं, वह अजीबोग़रीब है।..."

अपने इस कथन में क्या आपने इस बात की पूर्वकल्पना करने का प्रयास नहीं किया था कि आपको मानो जीवन के यथार्थ चित्रण को हानि पहुंचाकर "अजीबोग़रीब" शब्द का उपयोग करने के लिए झिड़का जायेगा?

**चं० आ० :** कदापि नहीं। मैंने किसी भी तरह की राय से अपने को निरापद बनाने की आवश्यकता की बात न तो सोची और न सोच रहा हूं। बात उलटी है। लेखक और इन्सान होने के नाते मुझे इसकी हवा की तरह ज़रूरत है। यदि पाठक मेरे साथ तर्क-वितर्क करने से या केवल स्नेहपूर्ण शब्द कहने से अपने को नहीं रोक पाता, तो इसका अर्थ यह है कि मैंने उसके दिल को स्पर्श किया है, विचलित किया है, उद्विग्न बनाया है। इससे ज़्यादा महत्वपूर्ण और क्या हो सकता है? मैं इस तरह आवेगपूर्ण भाव के लिए, मैत्रीपूर्ण भावनाओं के लिए और कठोर निर्णय के लिए पाठकों का हार्दिक आभारी हूं।

प्रस्तावना में और किसी बात की नहीं, मनुष्य (जिसे भ्रमपूर्वक "आम आदमी" कहा जाता है) के रूप में यथार्थ के प्रत्यक्षबोध की मेरी अवधारणा की ही चर्चा की गयी है, जिसने संसार के, जिसमें वह उसे देखे बिना सहस्राब्दियों से रहता आया है, गुप्त सौन्दर्य की खोज कर ली है।

क्या यह समस्त कल्पनीय त्रासदियों में से सबसे बड़ी त्रासदी नहीं है?

क्या इसका निजी तौर पर मुझसे सरोकार नहीं है?

यह बात, मेरे ख़याल से, स्पष्ट करती है कि मनुष्य के लिए सबसे अधिक विषादभरी घड़ी वह होती है, जब वह सबसे अधिक सुखी प्रतीत होता है, इसलिए कि वह सारे संसार के बारे में, इस समय जीवित और उससे बहुत पहले जीवित सब लोगों के बारे में सोच रहा होता है। यह है अपने हर्ष की मूर्खताभरी, लापरवाहीभरी अभिव्यक्ति से उन लोगों को अपमानित करने का पुनीत भय, जो, उदाहरण के लिए, हमारी और आपकी तरह अब यह महसूस नहीं कर सके या नहीं कर सकते।

मुझे यक़ीन है कि मनुष्य को—और इस तरह वह और भी अधिक मानवीय हो जायेगा—उन लोगों के भयंकर दुर्भाग्य की चिन्ता कभी नहीं छोड़नी चाहिए, जो बहुत ही दयनीय जीवन बिता रहे हैं, भले ही वे संसार के किसी भी कोने में रहते हों—चाहे चिली, दक्षिण अफ़्रीका में अथवा संयुक्त राज्य अमरीका में।

मनुष्य की घोर यंत्रणाएं, जब उसे इसलिए सताया जाता है और मौत के घाट उतारा जाता है कि वह दास नहीं बने रहना चाहता है और इन्सान की ज़िन्दगी जीना चाहता है, एक भयावह अजीबोग़रीब यथार्थ है।

और इतनी ही भयावह अजीबोग़रीब बात है अमानवों की विजय, जो लोगों को सताते हैं, उन्हें मौत के घाट उतारते हैं।

और ये "अजीबोग़रीब" चीज़ें कम नहीं हैं। ये हैं पृथग्वासन, नस्लवाद, उपनिवेशवाद।... परन्तु इन सबका एक सामान्य नाम भी है—साम्राज्यवाद।

**व्ला० को०:** यह बात असंदिग्ध है कि इन विकराल परिघटनाओं का चित्रण उन देशों में साहित्य की विचारधारात्मक-दार्शनिक तथा नीति-आचार सम्बन्धी अन्तर्वस्तु निर्धारित करता है, जिन्होंने हाल में अपने को औपनिवेशिक दासता से मुक्त किया था अथवा अभी तक उसके जूए के नीचे हैं।

मैं एशिया और अफ़्रीका के साहित्य की नियति में (कम से कम सामाजिक पहलू में) विशेष रूप से आत्म-चेतना के निर्माण की समस्याओं का परावर्तन देखता हूं, जिन्हें सोवियत संघ में बहुत-से जातीय साहित्यों में, जिनमें क़िर्ग़िज़ साहित्य भी शामिल हैं, हल किया गया था। क्या आप इससे सहमत हैं?

**चं० आ०:** मैं केवल सहमत ही नहीं हूं। अपितु कुछ और हो ही नहीं

सकता। 'दस दिन जब दुनिया हिल उठी'* केवल काव्यमय रूपक कदापि नहीं है।

विश्व में पहले समाजवादी राज्य के ऐतिहासिक अनुभव ने नयी सामाजिक विरचना के लाभ सिद्ध कर दिये हैं। सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ के गठन के उपरान्त गुज़रे साठ वर्ष मानव-इतिहास के दृष्टिकोण से पल मात्र हैं। परन्तु यह काल कितनी अनन्त घटनाओं तथा उपलब्धियों से भरा पड़ा है! और उनमें सबसे मुख्य है नया मानव, सोवियत मानव।

इससे ही नवजात साहित्य के विकास पर सोवियत साहित्य के प्रभाव का कारण स्पष्ट हो जाता है। स्वभावतः, सोवियत साहित्य भी उसे ग्रहण करता है, जो दूसरे साहित्यों में सर्वोत्कृष्ट, सर्वाधिक प्रगतिशील है।

**व्ला० को०:** इस प्रसंग में "विश्व साहित्य" के विचार के प्रति आपका दृष्टिकोण क्या है?

**चं० आ०:** होमर, दांते, शेक्सपियर, गेटे, पुश्किन, तोलस्तोय, दोस्तोयेव्स्की, बाल्ज़ाक, शोलोख़ोव, फ़ाल्कनर, गार्सिया मार्क्वेज़, आदि पूरी मानवजाति के हैं।

अपनी बारी में जो चीज़ व्यक्तियों को मानवजाति के बेटे-बेटियों के एक ही परिवार में, एक ही और अविखंडनीय काव्यात्मक शक्ति तथा अनन्त जगत में ऐक्यबद्ध करती है, वह उनकी रचनाओं का क्रान्तिकारी तथा जनव्यापी स्वरूप है। काव्य आत्मा की क्रान्ति है। कवि हमारे जीवन-पथ के सेतु हैं। वे विचारों और भावनाओं के सेतु हैं। वे लोगों की भिन्न-भिन्न पीढ़ियों को ऐक्यबद्ध करते हैं, पूरी पृथ्वी पर मुख्य नैतिक तथा दार्शनिक खोजों और "एक ही समुदाय में रहने की मानवजाति"** की समस्याओं के मामले में विश्व को सूत्रबद्ध करते हैं। वे ऐसे सेतु हैं, जिन पर उन सांस्कृतिक मूल्यों तथा संज्ञान का अनुभव संचित होता है, जो मानवजाति में अन्तर्निहित तथा बहुत यंत्रणाएं भोगने के बाद हासिल मानवतावादी आदर्शों से प्रेरित होते हैं।

मानवजाति का आधुनिक चिन्तन, जिसमें कलात्मक चिन्तन भी शामिल है, आदर्श की उस उत्कट कामना के बिना असम्भव होता,

---

* रूस में १९१७ की समाजवादी क्रान्ति के बारे में अमरीकी लेखक-पत्रकार जॉन रीड (१८८७-१९२०) की पुस्तक, जिन्होंने उन घटनाओं में भाग लिया था।

** व्लादीमिर मयाकोव्स्की की 'साथी नेत्ते के नाम—स्टीमर और मनुष्य' शीर्षक कविता (१९२६) से।

जिसे, बेलीन्स्की * के शब्दों में, महानतम रचनाकारों की सृजनशीलता में निहित सबसे उदात्त विचार अनुप्राणित करता है, यह आदर्श सर्वांगपूर्ण मनुष्य के अतिसुन्दर जीवन की अपरिहार्यता में आस्था का प्रतीक बन जाता है, इसलिए कि मनुष्य सुखी होने के लिए बाध्य है और उसे सुखी होना चाहिए।

**व्ला० को०:** इस मामले में जातीय साहित्य की, आपकी राय में, मुख्य कसौटी क्या होनी चाहिए?

**चं० आ०:** मैं एशियाई और अफ़्रीकी लेखकों के एक फ़ोरम में बंगाली समालोचक सरवर मुर्शीद द्वारा प्रकट की गयी राय से पूर्णत: सहमत हूं, जिन्होंने इस बात का उल्लेख किया था कि आज प्रत्येक जातीय साहित्य को स्वयं यह तय करना होगा कि उसे विश्व साहित्य के एक संघटक अंग के रूप में देखा जाना चाहिए, अथवा केवल अपने घर में ही "महान" रहना चाहिए।

"अपनी निजी महानता" का प्रलोभन अनिवार्यत: आत्म-सन्तोष की ओर ले जाता है। और वहां से जड़सूत्रवाद की ओर।

इसलिए आगे बढ़ने के लिए इच्छुक प्रत्येक साहित्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने को विचारधारा तथा सौन्दर्यबोध की सबसे कठोर कसौटी पर परखे। इसी तरह और केवल इसी तरह पार्थक्य पर क़ाबू पाया जा सकता है, प्रान्तीयवाद से बचा जा सकता है।

आत्मीय प्रान्तीयवाद लोगों का परकीयकरण है।

इस बीच विश्व साहित्य ने अपने प्रतिभाशाली सृजनकारों की शक्ल में कला की एक ऐसी महान भाषा—सत्य के काव्य—का, जो पूरी मानव-जाति को बोधगम्य तथा प्रिय हो, निर्माण किया और वह उसे परिष्कृत करता जा रहा है।

एक वास्तविक कलाकार संचार का कोड है।

यदि मैं किसी व्यक्ति से मिलता हूं और यह जानता हूं कि उसे चेख़ोव से प्यार है, तो मुझे मित्र मिल जाता है। यदि मेरे लिए अनजान कोई व्यक्ति—वह चाहे किसी भी जाति का हो—पहली बार 'मनास' को सुनते हुए महासागर जैसी गाथा के प्रभाव और सौन्दर्य को अनुभव करने में समर्थ हो, तो वह मेरा भाई है।

---

* रूसी साहित्य समीक्षक, पत्रकार, क्रान्तिकारी जनवादी, भौतिकवादी दार्शनिक (१८११-१८४८)।

**व्ला० को० :** यह विचार ही भयावह है कि भिन्न-भिन्न जातियों के लोग न केवल एक-दूसरे से डरें, अपितु एक-दूसरे को समझने में भी असमर्थ हों।

जिस तरह आप, क़िर्ग़ीज़, क्रान्ति के इसलिए आभारी हैं कि उसने आपकी जनता की दासता से रक्षा की, उसी तरह मैं, रूसी, भी अपने जीवन के अन्त तक समाजवादी क्रान्ति का इसलिए यशोगान करने के लिए तैयार हूं कि उसने दूसरी जातियों के समक्ष, जिन्हें ज़ारशाही राजतंत्र ने गुलाम बनाया था, शर्म तथा अपराध की भावना से मेरी जनता को मुक्त किया।

इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि नवस्वतंत्र देशों के साहित्यों के लिए हमारे देश के जातीय साहित्यों के विचारधारात्मक, नैतिक तथा दार्शनिक अनुभव का बहुत ज़्यादा महत्व रहा है, जो अपनी सर्वोत्तम कृतियों में ऐसे मनुष्य के पुनर्जन्म की "भव्य तथा तूफ़ानी"* प्रक्रिया में पूर्णता के साथ परावर्तित हुआ है, जिसके लिए मैत्री तथा भ्रातृत्व की भावनाएं स्वाभाविक बन गयी हैं। इस बारे में आप क्या सोचते हैं?

**चं० आ० :** निस्सन्देह, सोवियत संघ के बहुत-सारे जातीय साहित्यों ने यथार्थता के कलात्मक संज्ञान के अनुपम पथ पर महती उपलब्धियां पायी हैं और उसके फलस्वरूप हम मानवजाति के इतिहास में अभूतपूर्व एक ही बहुभाषाई, बहुजातीय सोवियत कलात्मक संस्कृति के निर्माण की बात गर्वपूर्वक कर सकते हैं। इस पथ पर आरोहण आसान और सुगम नहीं था। बहुत-सी जातियों के लिए यह पथ मौखिक लोककथात्मक संस्कृति से, अविकसित गाथामय रूपों से, जिनमें नायक अभी व्यक्ति के रूप में नहीं ढला था, आधुनिक मानव के सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक अवबोध में कठिन संक्रमण से गुज़रा।

परन्तु यहां मैं इस बात पर ज़ोर दिये बिना नहीं रह सकता कि कला की जातीय भावना को बहुत महत्व देते हुए भी यह नहीं मान बैठना चाहिए कि जातीय अनुपमता कलाकार के सृजन-कार्य में सबसे बड़ी भूमिका अदा करती है, और एक प्रकार के आत्म-लक्ष्य का काम देती है। समस्त जातीय साहित्यों के लिए निर्णायक महत्व की चीज़ है उनकी समाजवादी अन्तर्वस्तु का विकास। यह है साहित्य तथा कला में पक्षधरता

---

* सोवियत लेखक अन्द्रेई प्लातोनोव (१८९९-१९५१) की एक कहानी के शीर्षक ('भव्य तथा तूफ़ानी दुनिया') से शब्द।

की भावना तथा जनता के प्रति निष्ठा के पूर्णत: परिभाषित सिद्धान्त।

**व्ला० को० :** एक बार आपने कहा था कि आधुनिक गद्य की रचना तब तक असम्भव है, जब तक तोलस्तोय तथा चेख़ोव के क्लासिकीय यथार्थवाद के अनुभव को आत्मसात नहीं किया जाता। क्या आप इस पर कुछ अधिक प्रकाश नहीं डालेंगे?

**चं० आ० :** रूसी कलात्मक चिन्तन का अनुभव स्वयं अपने में, अपनी सम्पन्नता में अनन्य रूप से दिलचस्प है, इसलिए दिलचस्प और महत्वपूर्ण है कि "महान, सशक्त"* रूसी भाषा के माध्यम से विश्व संस्कृति अन्य जातियों को सुलभ बनायी जा रही है।

**व्ला० को० :** आप जब रूसी में लिखते हैं, तो क्या अनुभव करते हैं?

**चं० आ० :** इस अनुभूति का वर्णन करना शायद ही सम्भव हो। परन्तु मुझे लगता है कि मैं सर्वथा विशिष्ट, अननुकरणीय रूप से अपने को अभिव्यक्त कर रहा हूं।

मुझे अपने अनुभव के आधार पर यह कहना चाहिए कि बच्चा दो या शायद अधिक भाषाओं में एक ही समय पूरी तरह पारंगत बन सकता है, अगर इन भाषाओं का पहले ही साल में लगभग समान मात्रा में उपयोग किया जाये।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, मेरे लिए रूसी क़िर्ग़िज़ से कम मातृभाषा नहीं है। वे बचपन से मातृभाषा रही हैं। जीवनभर मातृभाषा बनी रहेंगी।

**व्ला० को० :** सारे संसार में रूसी भाषा में आज अभूतपूर्व रुचि का कारण आप क्या बतायेंगे?

**चं० आ० :** यह मयाकोव्स्की इस तरह बता चुके थे: "मैं अकेले इसी कारण रूसी सीख लेता कि उसे लेनिन बोलते थे।"** रूसी से प्यार क्रान्ति की भाषा से प्यार की अभिव्यक्ति है।

लेनिन को रूसी क्लासिकीय साहित्य की गहरी समझ थी और वह उसका ऊंचा मूल्यांकन करते थे, उसमें वह महान आदर्शों का वाहक तथा मानवजाति की मुक्ति का उत्कट पैरवीकार देखते थे। यही कारण है कि वह शाश्वत रूप से आधुनिक है और हम लेखकों पर उसका अरोध्य प्रभाव है, जिन्होंने मनुष्य के बारे में मनुष्य की शाश्वत कथा

---

* इवान तुर्गेनेव (१८१८-१८८३) की रचना 'गद्य में पद्य' से।

** व्लादीमिर मयाकोव्स्की की 'हमारी तरुण पीढ़ी के नाम' (१९२७) शीर्षक रचना से।

को जारी रखने के कठिन कार्यभार के समाधान का बीड़ा उठाया है।

मैं समस्त रूसी साहित्य के लिए अलेक्सांद्र रादीश्चेव* के सारगर्भित शब्दों का एक आदर्शवाक्य के रूप में उपयोग करना चाहूंगा, जो उन्होंने १७९० में लिखित अपनी कृति 'पीटर्सबर्ग से मास्को की यात्रा' में कहे थे। उनके ये शब्द पीड़ादायी ध्वनि पैदा करते हैं: "मैंने अपने चारों ओर नज़र दौड़ायी और मेरा हृदय मानवजाति की पीड़ा से मर्माहत हो गया।"

**व्ला० को०:** क्या ये शब्द सम्पूर्ण विश्व साहित्य के लिए आदर्शवाक्य के रूप में उपयोग में लाये जा सकते हैं, क्योंकि "चारों ओर" का अर्थ आज पूरी पृथ्वी है?

**चं० आ०:** मैं आपसे सहमत हूं।

शताब्दियों से ब्रह्मांड के अनन्त विस्तार में, "तारों तक पहुंचने की ललक" मानवजाति को आमंत्रित करती आयी है—क्या इसीलिए नहीं कि मनुष्य अपने को तटस्थ भाव से देख सके?

नीले तारे के रूप में पृथ्वी—मानवजाति के पालने—की छवि, जिस शक्ल में उसे अन्तरिक्षयात्री देखते हैं, असाधारण रूप से मानवीय तथा काव्यमय है।

**व्ला० को०:** इसमें सन्देह है कि किसी ने भी, किसी महाकवि तक ने पहले कभी इसे अनुभव किया हो। यह तो नयी अनुभूति है। क्या यह सम्भव है कि यह ऐसा "जीन" बन जाये, जिसमें मनुष्य की दूसरी प्रकृति छुपी रहे?

**चं० आ०:** बिल्कुल सही बात है। पहले हम पृथ्वी के साथ यह मानते हुए अहंवादी, बेफ़िक्रीभरा रुख़ (अब यह विशेष रूप से स्पष्ट हो गया है) अपनाया करते थे कि वह हमें भोजन देने, हमारी प्यास बुझाने, हमारा तन ढकने और हमारी रक्षा करने के लिए बाध्य है और इनके बदले वह इसके सिवाय और कुछ नहीं मांगेगी कि हम उसके अस्तित्व का तथ्य स्वीकार करें।

अब, जबकि हम अन्तरिक्ष में प्रवेश कर चुके हैं, हम सहसा अप्रत्याशित ढंग से तथा वेदना के साथ यह समझने लगे हैं कि पृथ्वी को भी रक्षा की आवश्यकता है।...

**व्ला० को०:** स्वयं हमसे?

---

* रूसी क्रान्तिकारी चिन्तक तथा लेखक (१७४९-१८०२)।

**चं० आ० :** दुर्भाग्यवश, हां। परन्तु सौभाग्यवश भी, क्योंकि अभी बहुत विलम्ब नहीं हुआ है।

यह साहित्य का कर्त्तव्य है कि वह इस आस्था की पैरवी करे और उसका प्रचार करे, तथा मनुष्य को इस विचार का आदी न बनने दे कि संसार में हिंसा अपरिहार्य है, कि उस पर कुछ निर्भर नहीं करता, वह तो मात्र बंधक है, जिसे देर-सबेर पागलपन की बलिवेदी पर चढ़ा दिया जायेगा।

**व्ला० को० :** आपका तात्पर्य, शायद, केवल सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के साहित्य से ही नहीं, जहां युद्ध-प्रचार का संकेत मात्र और घृणा तथा हिंसा का प्रचार क़ानूनन दंडनीय ही नहीं है, अपितु सर्वोपरि उनका समाजवाद के स्वरूप तथा सिद्धान्तों से कोई मेल भी नहीं है।

**चं० आ० :** निस्सन्देह। मैं तो सम्पूर्ण प्रगतिशील विश्व साहित्य पर आशाएं लगाये हुए हूं। पश्चिम के प्रगतिशील लेखक (मैं उनमें से कई से मिला हूं) बुर्जुआ साहित्य में अन्तर्निहित मानवविरोध के घातक खतरे को, शायद, हमसे भी अधिक तीक्ष्ण तथा पीड़ादायी ढंग से अनुभव करते हैं और उसका दृढ़तापूर्वक विरोध करते हैं। मुझे उनके उदात्त साहस तथा भय के प्रति तिरस्कार की भावना पर गर्व है और इस बात के लिए उनकी प्रशंसा करता हूं।

जी हां, हम सोवियत लेखक मिथ्या संस्कृति के दानवी उद्योग के वातावरण से अछूते रहे हैं, जो शक्ति तथा क्रूरता की पूजा को बढ़ावा देता है, हत्या पर रोमानी रंग चढ़ाता है अथवा, इसके विपरीत, मीठे-मीठे भ्रमों से मनुष्य के अन्तःकरण को तथा जीवन की उसकी इच्छा को सुन्न कर देता है, यह उद्योग इस तरह, उसके "मानवीय" प्रणेताओं की राय में, लोगों को ऐसे अनस्तित्व के आगे पीड़ाहीन, यही नहीं, वांछनीय समर्पण के लिए तैयार करता है, जहां कोई मानो मानव दुख-कष्टों से मुक्त हो जायेगा और साथ ही शाश्वत परमानन्द का उपभोग करेगा।... इस पर सोचना बंद नहीं करना चाहिए। स्वभावतः, जब मैं कोई रचना लिखने बैठता हूं, तो मुझे इस बात का पक्का विश्वास नहीं होता कि वह अवश्य ही विदेशी पाठक तक पहुंच पायेगी, उसे यह समझने में मदद देगी कि उसे मूर्ख बनाने, उसकी आंखों में धूल झोंकने के लिए सफ़ेद, निर्लज्जतापूर्ण झूठ बोला जा रहा है। अगर वह विदेशी पाठक तक पहुंच जाती है, तो मैं उसे ठीक तरह प्रभावित करना चाहता

हूं — उसमें सम्मान, अन्तःकरण, प्रतिष्ठा, अपने में, मनुष्य में विश्वास की भावना जगाना।

**व्ला० को० :** याने हर लेखक को विश्व पाठक के विषय में भी अवश्य सोचना चाहिए?

**चं० आ० :** सर्वोपरि मनुष्य के विषय में।

**व्ला० को० :** इस बारे में तोलस्तोय ने विचार किया था, जिन्होंने इस पर ज़ोर दिया था कि साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण कार्यभार तथा उद्देश्य यह है कि मनुष्य को जीवन की समस्त अभिव्यक्तियों समेत उससे प्यार करने के लिए बाध्य किया जाये। क्या आप "बाध्य" शब्द से विचलित नहीं होते?

**चं० आ० :** मुझे क्यों विचलित होना चाहिए? मुझे यक़ीन है कि लेव तोलस्तोय से ज़बान की चूक नहीं हुई, क्योंकि "बाध्य" का अर्थ, तोलस्तोय के ही शब्दों में, कला की शक्ति से मनाना-राज़ी करना, कल्पना-शक्ति को झकोरना और आत्मा को उदात्त बनाना है।

उनकी प्रतिभा द्वारा रचा गया महान कलात्मक जगत विशाल है। उस दानवी शक्ति की कल्पना करना कठिन है, जिसका उन्हें मुक़ाबला करना पड़ा, जो केवल उन्हें दृष्टिगोचर हुई और जिसने मनुष्य में निहित मनुष्य को अपमानित और नष्ट करने का ख़तरा पैदा कर दिया था। यदि वह सत्य तथा मनुष्य के प्रति प्यार के अलावा किसी दूसरी चीज़ ा निदेशित होते, तो क्या वह यह जौहर दिखाने का, यह संघर्ष करने का बीड़ा उठाने का साहस कर पाते, जिसमें उनकी पराजय अवश्यम्भावी प्रतीत होती थी? नहीं, निस्सन्देह नहीं। तब तो तोलस्तोय ही न होते, जिसके बारे में कल्पना करते ही मन कांप उठता है — हमारी आत्माओं में भयावह अथाह रिक्तता पैदा हो जाती, गहन वेदना के साथ यह सोचे बिना नहीं रहा जा सकता कि सर्वोत्तम लोगों में भी इस सर्वोत्तम मनुष्य ने कितना कुछ झेला, ताकि बदी पर नेकी की विजय में विश्वास का उपहार हमें दे सकें।

**व्ला० को० :** परन्तु "नेकी" और "बदी" तो ठोस सामाजिक अवधारणाएं हैं। वे तो काल के बाहर अस्तित्वमान नहीं होतीं। जैसा कि आपने बताया, विगत शताब्दियों के लोगों के लिए आज की बदी अकल्पनीय होती। कलाकार किन साधनों से बदी के स्वरूप और अन्तर्वस्तु का चित्रण कर सकता है, ताकि २०वीं शताब्दी में लोगों की कल्पना-शक्ति को झकोर सके? आपका यह कथन सही है कि सच्चा

यथार्थ अजीबोग़रीब होता है। केवल इतना ही नहीं। वह तो किसी भी अन्य अजीबोग़रीब वस्तु से अधिक भयावह हुआ करता है, क्योंकि... वह यथार्थ है।

**चं० आ० :** जी हां, मनुष्य को कला की शक्ति से विचलित करना आज उतना आसान नहीं रहा— मानवजाति का, जिसने फ़ासिज़्म के विरुद्ध भयावह युद्ध झेला, हिरोशिमा और नागासाकी की त्रासदी भोगी, जो संसार में हर रोज़ की पाशविक कार्रवाइयों से अवगत है, मर्म-बिन्दु बहुत बदल गया है।

उदाहरण के लिए, 'अपोकलिप्स' (इल्हाम—अनु०) को ले लें। अभी बिल्कुल हाल में उसने मानवजाति की कल्पना को विचलित कर दिया था, उसने "संसार का अन्त" उस रूप में दिखाया, जिस रूप में उसका प्राचीन कवि और पैग़म्बर ने चित्रण किया था:

"और अपनी आकृति में टिड्डियां युद्ध के लिए तैयार अश्वों की तरह थीं; और उनके सिर पर सोने की तरह के मुकुट थे, उनके चेहरे मनुष्यों के चेहरे की तरह थे।

"और उनके बाल औरतों के बाल की तरह लम्बे थे, उनके दांत शेर के दांतों की तरह थे।

"और उनके कवच लोहे की कवच की तरह थे, उनके पंखों की आवाज़ युद्ध की ओर दौड़ते बहुत-से घोड़ोंवाले रथों की तरह थी।

"उनकी पूंछें बिच्छुओं की तरह थीं और पूंछों में डंक था..."

स्वभावतः, कला का लक्ष्य पाठक को भयभीत करना नहीं, अपितु मनुष्य को जीवन की हताशा तथा भय पर क़ाबू पाने में मदद देना, ऐसी उदात्त भावनाओं को बढ़ावा देना है, जो उसे बुराई का—चाहे वह कोई भी रूप धारण करे—मुक़ाबला करने में समर्थ बनाती हैं। इस प्रसंग में मुझे ऐसे प्रतीत होता है कि हम त्रासदी को जीवन के विषय में आधुनिक मनुष्य के प्रत्यक्षबोध को और अधिक पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करने में समर्थ विधा मान सकते हैं।

**व्ला० को० :** क्या आप विश्वास करते हैं कि नया शेक्सपियर उजागर होगा?

**चं० आ० :** मैंने एक बार द्मीत्री शोस्ताकोविच से यही प्रश्न किया था। मुझे उनके इस विचार ने विस्मित तथा प्रभावित किया था कि आज नये शेक्सपियरों के लिए पहले से कहीं ज़्यादा सुयोग हैं, इसलिए कि मानवजाति ने अपने विकास में आज जितनी बौद्धिक सार्विकता पहले

कभी प्राप्त नहीं थी और इसलिए जब ऐसा महान लेखक उजागर होगा, तो वह अपने ज़रिये पूरे संसार को संगीत की भांति व्यक्त करने में समर्थ होगा।... यह बातचीत चलते-चलते ही हुई थी और केवल आगे चलकर ही, जब मैंने उसके बारे में सोचा, मैं शोस्ताकोविच के कथन का महत्व समझ सका: वह साहित्य से जीवन के सर्वग्राही, "सांगीतिक" सामान्यीकरण की अपेक्षा करते थे।

अपने अन्दर पूरा संसार।...

भले ही यह उपलब्ध न हो सकनेवाला कठिन कार्यभार हो, फिर भी लेखक का क्या इससे अधिक भव्य स्वप्न हो सकता है?..

साहित्य का महान तथा उदात्त मिशन—मैं तोलस्तोय के शब्दों को दुहराता हूं—मनुष्य को जीवन तथा संसार से प्यार करने के लिए बाध्य करना है। यह प्रत्येक ऐसे ईमानदार लेखक का कर्त्तव्य है, जो यह अनुभव करता है कि अब बोलने का वक़्त आ चुका है, वह बोलने का वक़्त आ चुका है, जो जीवन्त रूप में आवश्यक है। यही यथार्थवादी होने का अर्थ है।

# धरती पर जीने का आनन्द *

## पत्रकार निकोलाई ख्रोल्लोव से बातचीत

प्रकृति ने अक्षरशः सारी बर्फ़, वह बर्फ़ तक, जो पूर्ववर्ती वर्षों में नहीं पड़ी थी, ब्याज के साथ धरती को लौटा दी थी: असामान्य, तिहरी परतों में। और मार्च में! बर्फ़ के ढेर किसी वृद्ध की घनी भंवों की तरह पहाड़ों की चोटियों पर, मकानों की छत पर जम गये थे। गांव "सफ़ेद जलयान" की भांति बर्फ़ से ढके हुए थे। "धरती माता" सफ़ेद मेमने की ऊन की तरह लग रही थी। मनुष्य और पशु, दोनों को इस अभूतपूर्व हिमानी तूफ़ान के "आमने-सामने" होना पड़ा। "सागर के छोर पर दौड़ रहा चितकबरा कुत्ता"** बर्फ़ से ढकी कार के नीचे छुपा हुआ था। हल्के, भूरे रंग का, रहवाल चाल चलनेवाला घोड़ा—गुलसारी—आंगन में बंधा हुआ था। हर रोज़ और हर मध्यान्तर के समय "पहला अध्यापक"*** और उसके छात्र बर्फ़ हटाते हुए स्कूल की ओर जानेवाले रास्ते को साफ़ कर रहे थे। "मेरे दिल की रानी" को "जमीला" के साथ जबरन कमरे में बंद कर दिया गया था, जहां वे खिड़की से बर्फ़ से ढकी सड़क को निहार रही थीं और उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो "एक दिन सौ वर्षों से अधिक लम्बा" हो गया है।

ऐसे हिमानी तूफ़ान के दिन जिस व्यक्ति की मैं प्रतीक्षा कर रहा था, वह रास्ते में कहीं फंस गया था और उसे देर हो गयी थी। परन्तु जब हम आखिरकार मिले, तो मेरी चिन्ता हंसी-मज़ाक़ और फबतियों-झिड़कियों में बदल गयी।

—आपने ही तो 'बुरान्नी**** स्टेशन' बनाया था। ...

---

* 'इज्वेस्तिया' में १६ मार्च १९८४ को प्रकाशित।

** १९७७ में प्रकाशित।

*** १९६२ में प्रकाशित।

**** तूफ़ानी।

वह मुस्कराये। फिर बताने लगे कि उन्होंने क्या देखा: जंगली बकरे-बकरियां पहाड़ों से नीचे उतरते हुए इन्सानों की बस्ती की ओर आ रहे थे। व्यग्र भेड़िये और लोमड़ियां चक्कर काटते साफ़ नज़र आ रहे थे। दुर्भाग्यवश, तीतर और दूसरे पक्षी मर रहे थे, उन्हें बर्फ़ के ढेरों में खाने के लिए कुछ नहीं मिल रहा था। और यही वह जगह है, जहां अनार और अंगूर पैदा होते हैं! उन्होंने देखा, पहाड़ों की तलहटी में कितनी बर्फ़ पड़ी है। उन लोगों के साथ अपनी मुलाक़ातों और बातचीत की चर्चा की, जिन्होंने उन्हें पांचवीं बार सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत (संसद) के लिए निर्वाचित किया।

मैं तो यह पसन्द करता कि हमारी बातचीत में चंगेज़ आइत्मातोव की नयी पुस्तक का कोई अंश शामिल हो जाये। यही शुरू में मेरा विचार था। अख़बार इसे ख़ुशी-ख़ुशी प्रकाशित करता। प्रसंगतः, यह नयी पुस्तक किस बारे में है?

**चं० आ० :** मैं न तो कोई अंश पेश कर सकता हूं और न आपके प्रश्न का उत्तर ही दे सकूंगा, माफ़ी चाहता हूं, परन्तु ऐसा मैंने कभी नहीं किया है। मेरे लिए यह बताना इतना सहज नहीं है कि मेरा उपन्यास या कहानियां किस बारे में हैं। क्या यह बात अजीब लगती है? मैं पाठक से आगे नहीं दौड़ सकता—उसे स्वयं निष्कर्ष निकालने दीजिये। बुरा न मानें, पर केवल उसे दुहरा सकता हूं, जो मैंने एक बार कहा था: किसी पुस्तक के विचार या विषय को अलग से चुनना वैसा ही है, जैसे रोटी से पानी और आटा अलग करना।

मैं अपनी कृतियों में ऐसे कोई अंश ढूंढ़ ही नहीं सकता, जो अपने में पूर्ण हो और जिन्हें पूरे कैन्वस से अलग किया जा सके। सब कुछ एक साथ प्रवाहित होता है, इसलिए उसे अंशों में बांटने से मुझे नफ़रत है।

**नि० ख़ो० :** मैं आपकी सृजनात्मक विधि के बारे में, लेखक के रूप में आपके सिद्धान्तों के बारे में प्रश्न करना चाहता हूं।

**चं० आ० :** तो ठीक है, इस बारे में बात करें। हर मनुष्य की भांति मेरा भी "अपना" दिक तथा "अपना" काल है। इसके अतिरिक्त मेरा "अपना" क्षेत्र है—निर्वाचन-क्षेत्र। सर्वोच्च सोवियत के सदस्य के रूप में मैं लोगों से मिलता हूं, उनकी चिन्ताएं, परेशानियां मेरे मर्म को छूती हैं, उसे भेदती हैं। यह जीवन से महज़ "परिचित" होना नहीं है, अपितु इन या उन सामाजिक समस्याओं के सार की तह तक पहुंचना है, लोगों के भाग्य-चक्र के साथ अपने को यथाशक्ति जोड़ना है। परिवर्तनों

की ओर रुझानों की कमी नहीं है। बाज़ार-कुर्गान बस्ती को ही ले लें, जहां से मैं अभी-अभी लौटा हूं। अभी हाल तक वह एक छोटा-सा गांव था। अब यह ज़िला केन्द्र, शायद वहां के सर्वोत्तम स्थानों में से एक है, पिछले साल वहां एक संस्कृति भवन खुला, जो किसी भी शहरी थियेटर का मुक़ाबला कर सकता है। पड़ोस के इलाक़े के, लेनिन-जोल गांव के निर्वाचक सिंचाई के हेतु नरीन नदी से माइलीसाई जलप्रणाली तक एक बड़ी नहर के निर्माण में तथा अछूती पड़ी धरती पर काश्त शुरू कराने में सहायता देने का मुझे आदेश दे चुके हैं।

यह सब अभी साधारण-सी बात है, परन्तु नहर-निर्माण की परियोजना के इर्द-गिर्द की घटनाएं एक और पुस्तक का विषय बन सकती हैं। किसे पता है? विषय तो जीवन का एक अंश, लोगों, नियतियों का इतिहास है। एक लेखक कुछ मनोरंजक लिखने का प्रयास करता है, दूसरा सत्य के सदृश लिखने का प्रयास करता है, जिसे पाठक पहचान सकें। मुख्य वस्तु यह है कि विषय में ऐसे विचार हों, जो समकालीन जीवन की जटिल समस्याओं से निबट सकें। फिर भी मुझे यह स्वीकार करना होगा कि मैं इस समय, उदाहरण के लिए, बाइकाल-अमूर रेलमार्ग निर्माण परियोजना अथवा किसी अन्य बड़ी परियोजना के बारे में उपन्यास नहीं लिख सकता। मेरा विश्वास है कि समकालीन समाज को तत्क्षणता, क्षणिकता के अर्थ में नहीं समझा जा सकता। इधर निर्माण-कार्य अभी पूरा हुआ नहीं कि उधर उपन्यास तैयार!

मैं यह बात किसी की आलोचना करने के लिए नहीं कह रहा हूं: साहित्य-धारा न तो कभी एकसदृश रही है और न होनी चाहिए। "मेरा" काल मुख्यतया युद्धोत्तर वर्ष हैं, छठे और सातवें दशक तथा अंशतः आठवां दशक। इसी अवधि ने मुझे वह बनाया, जो आज मैं हूं, और मैंने उसे पूरी तरह झेला है। मैं बारह साल का ही था कि युद्ध छिड़ गया था। मैंने खेतों में काम किया, ग्राम सोवियत का सचिव, एक ट्रैक्टर टोली का अकाउंटेंट क्लर्क रहा।

इससे क्या निष्कर्ष निकलता है? हम, किशोरों को, परिस्थितियों के कारण आम जनता की समस्याओं से निबटना पड़ता था, उन्हें समझना पड़ता था। जी हां, हम केवल उनके लिए जीते थे। मोर्चे पर सैनिक दुश्मन के हमले के सामने टिके रहने, उसका मुक़ाबला करने, उसे पटकने और विजय पाने का सपना देखता था और मोर्चे से दूर हम मोर्चे के लिए काम करते थे और अपने लिए केवल वही लेते थे, जो बचा रहता

था। मेरा ख़याल है कि सबके कल्याण के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने की जनता की इतनी गहन तैयारी पहले कभी देखने को नहीं मिली होगी। ये जनता की भावनात्मक तथा शारीरिक शक्ति के अधिकतम तनाव के वर्ष थे। ग्राम सोवियत में काम करने के कारण मैं प्रत्येक परिवार को अच्छी तरह जानता था। जीवन ने हमें हर सम्भव पहलू से जांचा-परखा। यह लम्बा और कठिन मार्ग मेरा भी मार्ग था। ... मैं इस बारे में इतना नहीं बोलना चाहता था, परन्तु क्या करूं, जब यह मेरे जीवन तथा अवस्थाओं का भाग है।

**नि० ख़ो०:** जिन लोगों की आपके स्मृतिपटल पर छाप पड़ी है, क्या आपकी कलात्मक रचनाओं में उनका, यों कहें, पुनर्जन्म हुआ है?

**चं० आ०:** वे जीवन से सीधे-सीधे नहीं लिये गये हैं, अधिकांश काल्पनिक हैं। मेरे लिए सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण है उन वर्षों का वातावरण तथा चिन्तन संप्रेषित करना, जो उस काल के लिए आम लक्षण थे, भले ही वे आज भोलापनभरे लगें।

**नि० ख़ो०:** पुश्किन लेखक में बुद्धि की शक्ति की क़द्र करते थे। तुर्गेनेव यथार्थ के चित्रण में गणितीय सटीकता के बारे में कहते थे।

**चं० आ०:** मैं इसका अर्थ विद्यमान परिघटनाओं, लोगों, उनके सम्बन्धों का सच्चा चित्रण मानता हूं। लोगों में इस तरह के रुख़ का प्रचलित नाम न्याय है। सत्य की डटकर खोज करें, भले ही यह प्रतीत हो कि वह तो सदैव प्रत्यक्ष है, अवबोधगम्य है। और प्रत्येक सत्य लेखक के लिए इस अर्थ में उपयुक्त नहीं होता कि जीवन में हर चीज़ तो कला का विषय नहीं बन सकती। हम सबको स्वीकार करना होगा कि नित्यप्रति के जीवन में सत्य कला की कृतियों में सत्य से भिन्न होता है: कला में सत्य को जीवन की दैनंदिन तलछट से मुक्त बहुत मज़बूत मिश्रधातु, दीर्घजीवी, अधिकतम प्रभावशाली, अकाट्य होने की हद तक शक्तिशाली बन जाना चाहिए। नेकी और बदी का सुदृढ़ीकरण अथवा संकेन्द्रण होता जाता है। यहां निष्कर्षों की सटीकता, भावनाओं की सच्चाई से नहीं कतराया जा सकता।

**नि० ख़ो०:** परन्तु जब आप लिखने बैठते हैं, तो क्या आपके मानसपटल पर प्राणवान, वे पात्र जन्म लेते हैं, जिनसे आप परिचित रहे हों?

**चं० आ०:** जी हां, वे नज़दीक होते हैं। किसी कलाकार द्वारा तैयार पोर्ट्रेट को देखें और आप देखेंगे कि वह जीवित व्यक्ति से भिन्न है,

हालांकि उसी का है। मैं फिर दुहराता हूं कि मैं सदैव अपने पात्र गढ़ता हूं। यही नहीं, चूंकि मेरे लिखने की विधि के बारे में बात हो रही है, मेरे समक्ष अपने विचार की चरम परिणति का स्पष्ट चित्र होता है। जब मैं लिखने बैठता हूं, तो मैं बस इतना ही जानता हूं कि मेरी कहानी का कैसे अन्त होगा। शुरू और बीच का हिस्सा कुछ धुंधला रहता है, परन्तु अन्त को इतनी पूर्णता के साथ सोच लेता हूं कि मैं बैठकर आख़िरी अध्याय लिख सकता हूं। यह अन्त मेरे लिए स्वरित्र (वाद्ययंत्र के संगीत सुर मिलानेवाला उपकरण—अनु०) का काम करता है, जो पूरी कहानी का तदनुसार स्वर मिलाने में मदद देता है। यदि मैं अन्त को देख पाता हूं, तो मुझे यक़ीन हो जाता है कि बात बन जायेगी।

**नि० ख़ो०:** यह तो दिलचस्प है।

**चं० आ०:** मेरे लिए कुछ और ही दिलचस्प है...

**नि० ख़ो०:** याने?

**चं० आ०:** मेरे सामान्यीकृत, गढ़े हुए पात्र अमूर्त्त, उपन्यासों में होने चाहिए थे, धरती पर नहीं। परन्तु होता कुछ और है। किसी कहानी या उपन्यास के प्रकाशन के उपरान्त मैं आम तौर पर, अगर साफ़ शब्दों में कहूं, इतनी आलोचनात्मक समीक्षाओं की नहीं—वे भी लेखक के लिए बहुत महत्वपूर्ण होती हैं—जितनी कि पाठकों की प्रतिक्रियाओं, चिट्ठियों, डाक की प्रतीक्षा करता हूं। इनकी सारवस्तु इस तरह की होती है: जिस व्यक्ति का आपने चित्रण किया है, उसे मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूं, वह इस या उस जगह काम करता है।... आपको बताना चाहता हूं कि आपकी जमीला बहुत अच्छी तरह जीवन-यापन कर रही है, उसके तीन बच्चे हैं, किसी चीज़ की कमी नहीं है।... मैं 'सफ़ेद जलयान' का वही बाबा मोमुन हूं। अभी ज़िन्दा हूं और स्वस्थ हूं। बेटा बड़ा हो गया है। हां, वह किसी अप्रिय मामले में फंसा और उसे अकारण सज़ा दे दी गयी। कृपया मेरी मदद करें।... पहला अध्यापक मैं ही हूं, रूसी इन्सान, हालांकि आपकी कृति में वह क़िर्ग़िज़ है।...

यह आपके सामने किसी कलात्मक कल्पना के जादुई गुण की अच्छी-ख़ासी तस्वीर प्रस्तुत कर देता है। अगर आप यह कहकर मेरी बात दुरुस्त करें कि यह तो कल्पना पर निर्भर करता है, तो आपकी बात ठीक होगी। मैं सहमत हूं, परन्तु मैं इस विषय पर बात नहीं करूंगा।

**नि० ख़ो०:** कृति पूरी हो चुकी है। कहानी छप चुकी है, समीक्षक

बोल चुके हैं, पाठकों की चिट्ठियां पढ़ी जा चुकी हैं। लेखक के रूप में आपको अपनी सन्तति की ओर अनचाहे लौटना पड़ता है। क्या आपके मन में कोई शंका, अफ़सोस की भावना पैदा होती है? क्या आप ऐसा अनुभव करते हैं कि कुछ ऐसा रह गया है, जो आपने नहीं कहा, जो आपने अपने पास रोके रखा है? आशा है, आप प्रश्न को इस तरह पेश किये जाने पर बुरा नहीं मानेंगे।

**चं० आ० :** बिल्कुल नहीं। जी हां, ऐसा होता है, सब कुछ सम्भव है। एक ठोस उदाहरण देता हूं। शुरू में मैंने 'एक सौ वर्षों से अधिक लम्बा दिन' में अध्यापक के लिए कुछ और ही नियति की कल्पना की थी। दिल का दौरा पड़ने से उसकी मृत्यु नहीं होनी थी, जैसा कि उपन्यास में होता है। उसे दूसरी ही परिस्थितियों में मरना था। क़ैदियों को उस रेलवे स्टेशन के रास्ते ले जाया जा रहा था, जहां अध्यापक का परिवार रह गया था: पत्नी, बच्चे। इस दुर्भाग्य के कारण उस पर क्या गुज़री होगी? आप ख़ुद सोच सकते हैं। रात के समय उसकी रेलगाड़ी बोरानली-बुरान्नी स्टेशन से गुज़र रही थी। जब सरातोव में उसे दूसरी गाड़ी में बिठाया जा रहा था, तो वह भागकर चला गया, वह समझता था कि भागने की कोशिश तक करने पर उसका हश्र क्या होगा। जो हुआ, उसे उलटा नहीं जा सकता था।

लेखक के रूप में मैंने अनुभव किया कि कितने नाटकीय, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्वसनीय पन्ने लिखे जा सकते थे। परन्तु इस पर बहुत समय तक विचार करने के बाद, जो आसान न था, लेखक-मनुष्य ने उसे ठुकरा दिया, जो लेखक-कलाकार करता। उपन्यास में अधिक "नरम" रूपान्तर का उपयोग किया गया। आप कह सकते हैं कि मैं भाग निकला, परन्तु मेरा दावा है कि मैंने अपने पात्रों पर तरस खायी। मैं नहीं चाहता था कि अध्यापक की पत्नी और उसके बच्चे ऐसे ही यंत्रणादायी दृश्यों से गुज़रें, वे काफ़ी भुगत चुके थे। लेखक की भावनाओं को शान्त करना ज़रूरी था।

**नि० ख्रो० :** पर यह सोचे बिना नहीं रहा जा सकता कि कुछ हद तक आप स्वयं अपनी इच्छा के विरुद्ध जा रहे थे।...

**चं० आ० :** नहीं, यह बात पूरी तरह सच नहीं है। मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध नहीं जा रहा था। मैं मानता हूं कि मेल बिठाना बहुत मुश्किल रहा। परन्तु इस पूरी घटना का मर्म मैंने बरक़रार रखा। अगर मन की बात कहूं, तो आपके सन्देह के लिए कुछ आधार अवश्य है। ठीक कौन-सा?

मेरे उदाहरण दो लेखकों की दो उपन्यासिकाएं हैं—मेरी उपन्यासिका 'आमने-सामने' और वालेन्तीन रस्पूतीन की उपन्यासिका 'जिओ और याद रखो' (दोनों का सारत: एक ही विषय है)। रस्पूतीन की कहानी अत्यन्त उत्कृष्ट, मेरी कहानी से कहीं अधिक अच्छी है, जो बहुत पहले निकली थी। परन्तु अगर आप केवल यह जान पाते कि तब मुझे, एक युवक को, अभी-अभी क़लम उठानेवाले लेखक पर क्या-क्या गुज़रा था! मुझे कड़कती बिजलियों, गर्जन-तर्जन का सामना करना पड़ा था। मेरे घनिष्ठ सहयोगियों तक ने अपना माथा पटक लिया था, बोले: "हमने इतने शक्तिशाली शत्रु को पराजित कर पूरे संसार को चकित कर दिया था, और एक तुम हो कि वीरों की प्रशस्ति करने के बजाय किसी नरक के कीड़े की तलाश करने लगे।..." वे इस बात से भी चिढ़े थे कि मेरी कहानी में भगोड़े ने खेत में बीज की बोरी चुराने के बाद ख़ुद ही यह अनुभव कर लिया कि भुखमरी के उन दिनों में बीज का ज़ख़ीरा बनाने का क्या मतलब था, जब अनाज उगाने के लिए बीज नहीं था। फिर भगोड़ा, गंदा-सा इन्सान बोरी को घसीटते हुए खेत की ओर बढ़ा और उसे गाड़ी में फेंक दिया।

बाद में मैंने इस घटना को अपनी कृति से हटा दिया। क्यों? उस समय यह माना जाता था कि अगर इन्सान अच्छा नहीं है, तो उसे अधिक से अधिक काले रंग में चित्रित किया जाये और अगर वह "प्रशंसा के योग्य" है, तो उसे हम पापियों के ऊपर तिरते रहना चाहिए, अपनी त्रुटिहीनता से जगमगाते रहना चाहिए। सही निष्कर्ष हमेशा और हरेक को एक साथ नहीं मिलते, सब कुछ ठीक हो जाये और अपने स्थान पर आ जाये, इसमें वक़्त लगता है।

प्रसंगत:, रस्पूतिन की उपन्यासिका, जो मेरी रचना के बीस साल बाद प्रकाशित हुई थी, पाठकों के पास, जहां तक मेरा ख़याल है, उन तमाम मुसीबतों-परेशानियों के बिना पहुंची, जिन्हें 'आमने-सामने' को झेलना पड़ा। पाठक, वे बुरा न मानें, बहुत ही चंचल-चपल होते हैं। मैं इस बारे में एक अपरिहार्य तथा स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में और उत्साहवर्द्धक अर्थ में बात कर रहा हूं। परन्तु इकतरफ़ापन से और प्यारे, सहृदय पाठक का पूर्ण प्रशंसक बनने से बचने के लिए मुझे—कटुता के बिना नहीं—यह मानना होगा कि मेरे पास कुछ पत्र ऐसे भी आते हैं, जो शून्यवादी और विषाद उत्पन्न करनेवाले होते हैं। इस बारे में हमें खुलकर बोलना चाहिए, ख़तरे की घंटी बजानी चाहिए,

तर्क-वितर्क करना चाहिए, आशावाद की, ख़ास तौर पर नौजवान लोगों के बीच आशावाद की रक्षा करनी चाहिए।

**नि० ख़ो० :** दया का उपदेश?

**चं० आ० :** साहित्य अनन्त काल से यही तो कर रहा है। फिर भी यहां अमूर्त्तता के कुछ तत्त्व हैं, बंदूक़ के लक्ष्यहीन निशाने की तरह। उपन्यास, कहानियां, पत्र-पत्रिकाएं पढ़ते समय यह शब्द भिन्न-भिन्न रूप में सर्वत्र देख सकते हैं। परन्तु सहृदयता की अवधारणा सामाजिक विकास के दौरान बदल गयी है। अतीत में लोगों को तब सहृदय माना जाता था, जब वे ग़रीबों को भोजन और अपने फटे-पुराने कपड़े देते थे, चर्च, मस्जिद या मठ को दान देते थे, कुछ ख़ास दिनों में भूखों को खिलाते थे। सहृदयता एक आत्मिक अवधारणा है, परन्तु उस प्रसंग में भी इसका विशुद्ध भौतिक आधार था।

मैं यह मानता हूं कि मानव-गुण के रूप में सहृदयता घर-परिवार के लिए अधिक उपयुक्त है। मेरे लिए यह कल्पना करना कठिन है कि किसी कारख़ाने के डायरेक्टर में किस तरह के आचरण-व्यवहार को मज़दूर सहृदय मानेगा। उस सूरत में, जब डायरेक्टर काम पर मज़दूर की अनुपस्थिति की ओर से आंखें मूंद ले? उस सूरत में, जब मज़दूर को बोनस से वंचित न किया जाये, भले ही वह लम्बे अर्से से योजना के निर्दिष्ट लक्ष्यों की पूर्ति न कर रहा हो? अगर ऐसे आचरण को फिर भी सहृदयता मान लिया जाता है, तो यह सहृदयता राज्य की क़ीमत पर प्रदर्शित की जाती है।

मुझे यक़ीन है कि मज़दूरों की अधिक दिलचस्पी अमूर्त्त सहृदयता में नहीं, अपितु इस बात में होती है कि उनके प्रति शिष्टतापूर्ण रुख़ अपनाया जाये, व्यवहार कुशलता का परिचय दिया जाये, उनका ध्यान रखा जाये। उनके लिए सामाजिक न्याय से, जो हमारी जीवन-पद्धति की नींव है, अधिक महत्वपूर्ण और क्या हो सकता है? आइये, फूहड़पन को, बुज़ुर्गों के साथ बेअदबी को मिटा दें। आख़िर, यह संयोग की बात तो नहीं थी कि पूरब में व्यक्ति और सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण का आधार बुज़ुर्गों का सम्मान हुआ करता था और ये सम्बन्ध शताब्दियों तक पोषित होते रहे तथा नीति-आचार तथा परम्पराओं के मानक हुआ करते थे।

संक्षेप में, प्रत्येक मनुष्य शिष्ट, सुसंस्कृत हो, दूसरों का सम्मान करे, स्वतंत्र हो, सृजनशील हो।...

इस बार जब मैं अपने निर्वाचकों से मिला, तो मैंने बुज़ुर्गों से बातचीत की। उनकी शिकायत थी कि नौजवान अब बेअदब, अशिष्ट, घमंडी हो गये हैं, यह शराब की लत, हुल्लड़बाज़ी और अपराधों का कारण है। एक बुज़ुर्ग ख़ास तौर पर उद्विग्न थे। उन्होंने बताया कि उनका पोता पन्द्रह साल की आयु से पहले बहुत अच्छा लड़का था, पर उसके बाद बिल्कुल बदल गया, अब वह बुज़ुर्गों, परम्पराओं का कोई सम्मान नहीं करता, इतनी सारी बातों की आलोचना किया करता है। मैंने समझाया कि लड़का, शायद, बुरी संगत में पड़ गया है। तब बुज़ुर्ग ने पूछा कि यह बुरी संगत कहां से आती है, कैसे पैदा होती है, कौन क़सूरवार है?.. मेरे लिए उत्तर देना बहुत कठिन हो गया था... अभी तक आत्मा में पीड़ा अनुभव कर रहा हूं।

**नि० ख़ो० :** हरेक के प्रति तथा हर चीज़ के प्रति उत्तरदायित्व की तीक्ष्ण अनुभूति बहुत अच्छी बात है।

**चं० आ० :** जब मैं लिखने बैठता हूं, तो मन में अपने समकालीनों के साथ सहानुभूति की, उन्हें समझने की अपनी पिपासा उजागर करने की उत्कट इच्छा पैदा होती है। मैं इनकी बहुत चिन्ता करता हूं। मैं अपने देश के कंधों पर उत्तरदायित्व के ज़बर्दस्त बोझ के बारे में सोचने का प्रयास करता हूं। युद्ध की पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए, जब ज़िन्दगी एक हमले के लिए, किसी टैंक पर हथगोला फेंकने के लिए उपयोग में आनेवाली त्याज्य वस्तु बन जाती है।...

हर व्यक्ति को इस धरती पर लम्बे अर्से तक जीने, अस्तित्व के वास्तविक आनन्द के उपहार का उपभोग करने का अवसर मिलना चाहिए, जो राजा और रंक को समान रूप में भेंट किया जाता है। किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह मनुष्य को पृथ्वी पर जीने और पुनर्जनन के, आत्मा तथा विवेक को अनन्त बुलंदियों पर पहुंचाने के वरदान से वंचित करे।

# जीवन का मूल्य*

**सोवियत लेखक संघ की आठवीं कांग्रेस के उपरान्त, जो जून १९८६ में हुई थी, 'लितेरातूर्नाया गज़ेता' की संवाददाता इरीना रीशिना के साथ बातचीत**

**चं० आ०:** मेरे ख़याल से, मैं सबका यह विश्वास व्यक्त कर रहा हूं कि यह कांग्रेस पूर्ववर्ती कांग्रेसों से अत्यधिक भिन्न थी। स्वभावतः, इसके अपने कारण, अपनी तर्कसंगति है। यह समय, जिससे आज हमारा समाज गुज़र रहा है, ऐसा है, जब समाज जीवन के समस्त क्षेत्रों में, मुख्य रूप से लोगों की मनोवृत्ति तथा मानसिकता का आमूल पुनर्गठन करने के लिए भगीरथ प्रयास कर रहा है। इसके बिना कोई सच्चा नवीकरण नहीं हो सकता, क्योंकि बाक़ी सब कारक मौलिक तथा अंतिम कारक पर—मानवप्रधान कारक पर—निर्भर करते हैं। लेखकों की हमारी बड़ी बैठक भी समय की भावना के अनुरूप हुई। गम्भीर, तीक्ष्ण, बेलाग तथा आवेगपूर्ण भाषणों में महत्वपूर्ण समस्याएं, दैनंदिन जीवन तथा साहित्य के मूलभूत वैचारिक प्रश्न, सामाजिक न्याय, पर्यावरण, आज की परिस्थितियों में जातीय संस्कृतियों के विकास जैसे प्रश्न उठाये गये। स्वभावतः, वक्ताओं ने संगठन-सृजन, व्यवसाय से सम्बन्धित प्रश्न भी उठाये, जो आज साहित्यकारों को उद्विग्न कर रहे हैं।

**इ० री०:** आप कांग्रेस में नहीं बोले, परन्तु अगर आप बोले होते, तो क्या कहते?

**चं० आ०:** दुर्भाग्यवश, इस बार मुझे कुछ अपने वस्तुगत कारणों से भाषण तैयार करने का समय नहीं मिला। परन्तु अगर कांग्रेस में भाषण किया होता, तो मैं सबसे पहले जातीय समस्याओं, संस्कृतियों, साहित्य तथा भाषाओं की अन्योन्यक्रिया के बारे में बोलता। ये हमारे लिए जीवन्त महत्व के प्रश्न हैं, इसलिए कि हमारा देश संघात्मक, बहुजातीय है और इसलिए कि एक जनतंत्र में जो होता है, वह

* 'लितेरातूर्नाया गज़ेता', १३ अगस्त १९८६।

अनिवार्यत: सबके लिए महत्वपूर्ण होता है। शायद, हम सदा इस बारे में नहीं सोचा करते। परन्तु स्थिति ऐसी ही है। स्थानीय साहित्य कैसे विकसित हो रहा है, ऐसा साहित्य अपनी जातीय धरती पर और इसके साथ ही हम सबके लिए भी समाजवादी जीवन-पद्धति के संदर्भ में वर्त्तमानकालीन तथा सामयिक कार्यभारों का किस हद तक समाधान कर पाता है, इन पर काफ़ी हद तक मनुष्य की नैतिक तथा आत्मिक क्षमता निर्भर करती है। मैं उस बारे में बात कर रहा हूं, जो मनुष्य समाज तथा जगत को प्रदान करता है: सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध अथवा बेमेलपन, जाति की उदात्त भावना और दूसरी जाति के मूल्यों के प्रति तथा साथ ही अपनी जाति के प्रतिनिधि के रूप में अपने आदर का भाव अथवा अहंकार तथा भिन्न भाषाभाषियों के प्रति उपेक्षा की भावना। ये कोरे पंडिताऊ प्रश्न नहीं हैं, अपितु अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा तात्कालिक हैं, क्योंकि वे हमारे दैनंदिन जीवन को प्रभावित करते हैं। इस मामले में भी चिन्तन के नये ढंग के लक्षण के रूप में हमारे पास 'ग्लासनोस्त' (खुलापन) होना आवश्यक है।

ग्लासनोस्त का पोषण—यह समय की पुकार है।

मैं क़िर्गिज़िया में पार्टी कांग्रेस में पहले ही कह चुका हूं और आज फिर उसे दुहराना चाहता हूं, जो मैंने उसमें कहा था: "हमें पुराने पैमानों और तुलनाओं का त्याग कर देना चाहिए, इन बेड़ियों को हमेशा के लिए फेंक देना चाहिए। हम आज भी, जब जातीय संस्कृतियों की स्थिति की ओर मुड़ते हैं, तो हम अपने को यह याद दिलाते हुए कि लोग अर्ध-साक्षर हुआ करते थे, उनके पास अपनी वर्णमाला नहीं हुआ करती थी, आज की वस्तुगत स्थिति के बारे में अपने अवबोध में इन तथ्यों का अनन्त रूप से हवाला देते रहते हैं। मानो हम सब आज भी निरक्षरता के उन्मूलन के आन्दोलन के ज़माने में रह रहे हों। परन्तु वह ज़माना तो हमेशा के लिए लद चुका है और आज वह संदर्भ-बिन्दु का काम नहीं दे सकता। हमें अपने आज के उद्योग की तुलना १९१३ के उद्योग के साथ नहीं करनी चाहिए। यह उपहासास्पद है—हम वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति के युग में रह रहे हैं। जातीय साहित्य तथा जातीय संस्कृति के विकास का मूल्यांकन करने के लिए हमें दूसरा ही पैमाना इस्तेमाल करना चाहिए: अब हम इस बात पर आनन्द नहीं मना सकते कि हरेक पढ़-लिख सकता है, कि आज अख़बार, रेडियो, टीवी, थियेटर, आदि मौजूद हैं। जी हां, हमारे पास ये हैं और यह बहुत अच्छी

बात है। परन्तु हमें नयी समस्याओं से, जो जनता तथा उसकी संस्कृति की सक्रियता से पैदा होती हैं, कतराने के लिए इन तथ्यों का उपयोग नहीं करना चाहिए। अगर मैं कांग्रेस में बोलता, तो अपने लेखक बंधुओं से, ख़ास तौर पर पत्रकारों तथा समीक्षकों से कहता: स्थिति का इस तरह से चित्रण न करें कि हमारे यहां जातीय क्षेत्र में मानो सब कुछ हल हो चुका है और किसी तरह की समस्याएं नहीं हैं। इन बिल्कुल बेबुनियादी बातों का उदाहरण के रूप में हवाला न दें, इस बारे में अब सोचने की ज़रूरत नहीं है, बल्कि इस बारे में सोचना चाहिए कि हमारी अन्तर्राष्ट्रीय संरचना की प्रणाली में कोई जातीय संस्कृति, जातीय आत्म-चेतना कितने गहन रूप से तथा जनवादी ढंग से विकसित हो रही है। अन्तर्राष्ट्रीयवाद कोई अंकगणित नहीं है, मदों का योग नहीं है, अपितु नाना जातीय संस्कृतियों का, जो स्वावलम्बी हैं, बीजगणित है। साथ ही हमारी समस्त आत्मिक संस्कृति के लिए एक निश्चित हर के बिना, अधिक विकसित संस्कृतियों की उपलब्धियों के सक्रिय उपयोग के बिना इस दत्त तथ्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस बारे में ही हमें बात करनी चाहिए और इनका विशदीकरण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

उदाहरण के लिए, जातीय साहित्यिक भाषा के विकास को लें। इस भाषा में किस तरह की प्रक्रियाएं चल रही हैं? दूसरी भाषाओं से ग्रहण किये गये शब्दों के बारे में सोचें—वे कितने स्वाभाविक, आंगिक तथा सामयिक रूप से भाषा में प्रवेश कर रहे हैं अथवा वे क्या रूढ़िवादी चिन्तन का, आलोचनाहीन ढंग से सोचने का तो फल नहीं हैं, जब किसी अन्य भाषा से यंत्रवत्, यहां तक कि चाटुकारिता की ख़ातिर कुछ ग्रहण करके दूसरी भाषा में शामिल कर दिये जाते हैं?

मैं बात फ़ौरन साफ़ करना चाहता हूं: यह सर्वविदित है कि रूसी भाषा एक महान भाषा है और समस्त जातीय संस्कृतियों में उसकी भूमिका के बारे में बात करना ऐसा ही है, जैसे अन्दर घुसने के लिए पहले से ही खुले दरवाज़े को तोड़ना। रूसी भाषा महान है, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि हमें दूसरी जातीय भाषा की आन्तरिक नियमसंगतियों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए और हम उसमें सारे शब्दों को ज़रूरी न होने पर भी प्रचलित करें। इस प्रसंग में क़िर्ग़िज़िया में प्रकाशित दो प्रादेशिक समाचारपत्रों के नाम ऊट-पटांग हैं, इनमें से एक का नाम 'ईसीक-कोल प्राव्दासी' तथा दूसरे का नाम 'नरीन प्राव्दासी' है। मुझे यह बहुत बुरा लगता है। कैसी है वह हज़ारों वर्ष

के इतिहासवाली जनता, जिसकी भाषा में "सत्य", "सच्चाई", "न्याय" ("प्राव्दा" के पर्यायवाची —अनु०) शब्द नहीं हैं? किसे ज़रूरत है रूसी के इस तरह विकृतीकरण की और क़िर्ग़िज़ को अपमानित करने की, जिसके पास इस अवधारणा के लिए लगभग दस पर्यायवाची शब्द हैं? किसी जातीय साहित्य की भाषा पर चाहे कितने ही प्रभावशाली लेखकों ने काम किया हो, उस साहित्य का विकास पूरे के पूरे नाना अन्य कारकों पर, जनता की आम संस्कृति तथा उसकी शिक्षा पर निर्भर करता है। फ़्रूंज़े में क़िर्ग़िज़ भाषावाले स्कूलों की संख्या नहीं बढ़ रही है, जबकि सैकड़ों नये स्कूलों का निर्माण हो रहा है।

हमें क़िर्ग़िज़ भाषावाले किंडरगार्टेन क़िर्ग़िज़िया की राजधानी में बहुत पहले खोल देने चाहिए थे। कोई हमारा रास्ता नहीं रोक रहा है, फिर भी कोई इस काम को नहीं कर रहा है। आज की परिस्थितियों में जनता के लिए इसका जीवन्त महत्व है। कैसी है वह जातीय संस्कृति, जिसका अपना आधार नहीं है?

परन्तु जब ऐसे पीड़ादायक विचार प्रकट किये जाते हैं, तो कुछ लोग इसे राष्ट्रवाद और संकीर्ण दृष्टिकोण मानना शुरू कर देते हैं। दुर्भाग्यवश, इस ज़रूरत से ज़्यादा सतर्कता की, जो काफ़ी हद तक आत्मोन्नतिवाद का परिणाम है, ज़ोरदार ढंग से आलोचना नहीं हो रही है। इस सिलसिले में यह देखना आवश्यक है कि इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप जनतंत्रों में खास क़िस्म की लफ़्फ़ाज़ी ा जन्म हुआ है, जिसने चाहे आवश्यक हो या अनावश्यक, रूसी भाषा की तारीफ़ के पुल बांधना और अपनी भाषा का अनादर करना एक प्रतिष्ठापूर्ण व्यवसाय बना लिया है।

अपनी भाषा तथा जातीय मौलिकता का अनादर एक छोर है, परन्तु एक दूसरा छोर है, वह भी रोष पैदा करता है। मैं अपनी जनता को विशेष सम्मानपट पर देखने, उसके केवल अच्छे गुणों को देखने और नकारात्मक पहलुओं को नज़र से ओझल करने की प्रवृत्ति की बात कर रहा हूं। यह इच्छा समझ में आती है, उसका कारण बताया जा सकता है, परन्तु यह द्वन्द्वात्मकविरोधी, कुछ हद तक नवीकरण की राह में बाधक है।

जब हम सैद्धान्तिक रूप से यह मानते हैं कि दूर भविष्य में किसी दिन सभी भाषाएं एक-दूसरे के साथ घुलमिल जायेंगी और दुनिया में केवल एक या दो भाषाएं रह जायेंगी, तो हम शायद ही यह

अनुभव किये बिना रह सकते हैं कि इससे विश्व दरिद्र हो जायेगा। इन "विजयी" भाषाओं के पास पोषणकारी परिवेश नहीं होगा। एकरूपता विकास को सुनिश्चित नहीं कर सकती। इसलिए जितनी देर तक सम्भव हो, भाषाओं की विविधता बनायी रखी जानी चाहिए। सूचना विस्फोट के हमारे युग में, जब सब कुछ को समतल कर सकनेवाली परिस्थितियां पैदा हो गयी हैं, भाषा की पराश्रितता किसी के लिए हितकर नहीं है। मैं इस पक्ष में हूं कि नाना साहित्यिक भाषाएं होनी चाहिए और उनके पास अस्तित्वमान रहने तथा विकसित होने की ठोस सम्भावनाएं होनी चाहिए।

जनता की अनश्वरता उसकी भाषा में निहित होती है। प्रत्येक भाषा अपनी जनता के लिए महान होती है। अपनी भाषा के प्रति हममें से प्रत्येक का अपना कर्त्तव्य है—उसकी शुद्धता बनाये रखना तथा उसकी समृद्धि को बढ़ाते जाना।

परन्तु अब हमें इतिहास की एक नयी द्वन्द्वात्मकता का सामना करना पड़ रहा है। विभिन्न देशों के बीच सम्पर्क निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं, जो जीवन्त तथा सांस्कृतिक आवश्यकता बनते जा रहे हैं। इन हालात में प्रत्येक व्यक्ति के लिए कई भाषाएं जानना आवश्यक है। कई जनतंत्रों के साहित्य में द्विभाषिता का विकास हो रहा है। प्रसंगतः, मैं भी द्विभाषी लेखक हूं। वसील बीकोव, इओन द्रूत्से, मक्सूद व रूस्तम इब्राहीमबेकोव और तैमुर पुलातोव अपनी मातृभाषा और रूसी, दोनों में लिखा करते हैं।... मैं ऐसे बहुत-से लोगों को जानता हूं, जिनको सोवियत संघ और दूसरे देशों में बोली जानेवाली कई भाषाओं का बहुत अच्छा ज्ञान है। इससे साहित्य तथा संस्कृति के विराट जगत के द्वार उनके सामने खुल जाते हैं। मुझे यक़ीन है कि यह भविष्य का पथ है, सुन्दर जगत के द्वार सबके सामने खुल जाने चाहिए। हाल में मैं अल्जीरिया के त्रिभाषाभाषी तरुणों के एक ग्रुप से मिला था। उन्हें रूसी भाषा का बहुत अच्छा ज्ञान था, निस्सन्देह, वे अपनी मातृभाषा अरबी जानते थे और फ़्रांसीसी भाषा में पारंगत थे।... एक तरुण अध्यापिका तो बेर्बर भाषा तक जानती थी। मेरी दृष्टि में वे भविष्य के लोग हैं।

**इ० री०:** मैं आपकी कृति, रचनाओं और नये उपन्यास 'बलि-वेदी' के बारे में बात करना चाहूंगी, जिसका प्रकाशन 'नोवी मीर' के जून और अगस्त अंकों में आरम्भ हुआ था।

जैसा कि अल्बर्ट श्वेइट्ज़ेर ने कहा था, जीवन के अर्थ के बारे में महज़ सोचना ही स्वयं में मूल्यवान है। आपके उपन्यासों के नायक अपने नैतिक तथा दार्शनिक गुणों के अर्थ में जीवन के जटिल सत्य तथा उसके अर्थ को समझने का प्रयत्न करते हैं। निस्सन्देह, उनमें से हरेक यह अपने स्तर पर करता है, चाहे वह 'माता धरती' का बूढ़ा किसान तोल्गोनाई हो या 'विदा, गुलसारी!' का तानाबाई, जिसे किसान-दार्शनिक का नाम दिया गया है। आपने एक बार येदिगेई के बारे में, संसार और अपने को समझने के उसके प्रयासों के बारे में जो लिखा था, उसे, मेरे ख़याल में, कुछ हद तक आपके नये उपन्यास में आगे बढ़ाया गया है, यह इंगित करता है कि उस समय ही यह विचार आपके मन में उठने लग गया था: "मेरा नायक बुरान्नी येदिगेई मानव-अस्तित्व के अर्थ के विषय में बहुत कुछ सोचता है... कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो इस प्रश्न को परमात्मा में विश्वास से जोड़ते हैं, परन्तु उनमें से बहुतों के लिए परमात्मा नैतिकता, अन्त:करण, आत्म-चेतना के रूप के द्योतक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हद से हद, केवल एक रूप। मेरा नायक एक सोवियत मेहनतकश है, किसी पंथ का सदस्य नहीं, वह इस प्रश्न पर विचार करता है और उत्तर उतना सादा नहीं है, जितना कि किसी पेशेवर वक्ता के शब्दों में होता है।"

**चं० आ०:** यह सच है, ये विचार मेरे पूर्ववर्ती उपन्यास 'एक सौ वर्षों से अधिक लम्बा दिन' में मुखरित हुए थे। येदिगेई ने इस बारे में उस समय सोचना शुरू कर दिया था, जब उसने अपने मित्र कज़ानगाप को दफ़नाया था। दफ़नाने के लिए उपयुक्त स्थान की कठिनाईभरी और पीड़ादायी खोज के बाद और दफ़नाने से पहले येदिगेई ने परमात्मा को संबोधित करते हुए कहा: "मैं यक़ीन करना चाहता हूं कि तू विद्यमान है, कि तू मेरे मन में है। जब मैं तेरी प्रार्थना करता हूं, तो दरअसल तेरी मार्फ़त अपने से बात करता हूं।..."

जैसा कि आप देख सकती हैं, यद्यपि येदिगेई सर्वशक्तिमान की प्रार्थना कर रहा है, वह सारत: अपने से ही बात कर रहा है, क्योंकि उस जैसों के अलावा और कोई भी उसके सन्देह तथा चिन्ता का समाधान नहीं कर सकता, केवल वही कर सकता है। यदि येदिगेई, यों कहें, स्वत:स्फूर्त प्रकार का, सीधा-सादा जन-चिन्तक है, तो मेरे नये उपन्यास 'बलि-वेदी' का नायक आव्दी काल्लिस्त्रातोव अपने को धार्मिक

गतिविधियों में लगा देता है। परन्तु वे कुछ मामलों में एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं—स्पष्टत:, जीवन के प्रति दृष्टिकोण, न्याय की पिपासा, भलाई की भावना में। सर्वथा भिन्न होते हुए भी येदिगेई और आव्दी में कुछ साम्य भी है।

**इ० री०:** उपन्यास के पहले और दूसरे भाग के कई मुख्य कथानक हैं: आव्दी काल्लिस्त्रातोव, मोयूनकुमी "जुन्टा", मादक द्रव्य के व्यसनी, भेड़िया परिवार। परन्तु यह स्पष्ट है कि आपके लिए मुख्य वस्तु आव्दी काल्लिस्त्रातोव है। मेरे ख़याल से, यह पात्र उन पाठकों तक के लिए एक आश्चर्य है, जो यह जानते हैं कि आइत्मातोव का प्रत्येक नया उपन्यास पूर्ववर्ती की पुनरावृत्ति नहीं करता, विषयगत तथा कलात्मक नवीनता उसकी विशिष्टता होती है। 'बलि-वेदी' में आपने पहली बार रूसी को मुख्य पात्र बनाया है।

**चं० आ०:** जी हां, आव्दी रूसी है, परन्तु मैं उसे अधिक व्यापक रूप में एक ईसाई के रूप में देखता हूं, हालांकि मैं यह मानता हूं कि उसके मन की गहराई में जो कुछ हो रहा है, वह मेरे उन समकालीनों पर भी लागू होता है, जिनके मूल एक भिन्न धर्म से जुड़े हुए हैं। इस मामले में मैंने धर्म के रास्ते से मनुष्य तक पहुंचने का प्रयत्न किया, परमात्मा तक नहीं, अपितु मनुष्य तक! निस्सन्देह, मेरे लिए कथानकों में सबसे मुख्य है आव्दी, उसकी पिपासा।

**इ० री०:** परन्तु, मेरे ख़याल से, यह संयोग नहीं है कि आपने मुख्य नायक की भूमिका के लिए ईसाई को चुना है, उदाहरण के लिए, मुस्लिम को नहीं।

**चं० आ०:** स्वभावत:, यह संयोग नहीं था। ईसाई धर्म के पास प्रेरणा का अत्यन्त सशक्त स्रोत है—ईसा मसीह की छवि। इस्लाम धर्म के पास, जो मेरे पूर्वजों का धर्म था, ऐसी कोई छवि नहीं है। मोहम्मद शहीद नहीं थे। उन्हें अवश्य ही विषम, यंत्रणादायी दिन झेलने पड़े, परन्तु उन्हें विचारों के लिए सलीब पर नहीं चढ़ाया गया, न उन्होंने इसके लिए लोगों को सदा के लिए क्षमा किया। ईसा मसीह मुझे समकालीन मनुष्य से कुछ अन्तरतम की बात कहने का मौक़ा देते हैं। इसी कारण अपने सृजनशील पथ पर मेरा, निरीश्वरवादी का उनसे सामना हुआ। इसी से यह स्पष्ट होता है कि आव्दी काल्लिस्त्रातोव क्यों मेरा मुख्य नायक है और वह क्यों वैसा है, जैसा वह है।

**इ० री० :** 'बलि-वेदी' पढ़ते समय आप चाहे-अनचाहे दोस्तोयेव्स्की और उनके पात्र प्रिंस मीश्किन और अल्योशा कारामाज़ोव* के बारे में सोचते हैं... और आपके पात्र पिलाटे तथा नज़ारेथ के ईसा बुल्गाकोव** की याद दिलाते हैं।

**चं० आ० :** इस बारे में मैं क्या कह सकता हूं? मुझे यह सुनने में अच्छा लगता है, इसलिए कदापि नहीं कि मैं अपने महान पूर्ववर्तियों के साथ अपनी तुलना चाहता हूं। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि मैंने उन्हीं समस्याओं को लिया, जिन पर कभी अपने ज़माने में उन्होंने विचार किया था। ये तो शाश्वत प्रवर्ग, शाश्वत समस्याएं हैं, जिनकी ओर केवल मैं ही नहीं मुड़ा, अपितु हमारे बाद बहुत-से दूसरे भी मुड़ेंगे। निस्सन्देह, मैंने बुल्गाकोव के बारे में इस अर्थ में सोचा कि उनके पात्र पिलाटे और जोशुआ तथा मेरे पात्र पिलाटे और नज़ारेथ के ईसा एक ही हैं तथा एक ही स्थिति में हैं। परन्तु मुझे आशा है कि सतर्क पाठक यह देख लेगा कि मैंने यह स्थिति बुनियादी रूप से भिन्न ढंग से सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु मैं पिलाटे और ईसा मसीह के संवाद में एक नया तत्त्व जोड़ना चाहता था—जब बुल्गाकोव ने इस भेंट का चित्रण किया था, तब से कुछ समय बीत चुका है और हम समय के कुछ भिन्न चौखटे में जी रहे हैं। मैं कुछ नया शामिल करना चाहता था, कुछ ऐसा, जो हम आज समझते हैं, ख़ास तौर पर मैं एक तरह मानव-जगत की भूमंडलीय मर्म-भेद्यता के बारे में कहना चाहता था। मैं इस बात का क़तई आग्रह नहीं करता कि हम प्रलय दिवस को अक्षरश: विश्व का नाभिकीय अन्त मानें। परन्तु इस ख़तरे की वास्तविकता ने मुझे यह प्रयास तथा सिद्ध करने के लिए बाध्य किया कि हमें विश्व के किसी काल्पनिक अथवा रहस्यमय अन्त से नहीं डरना चाहिए, अपितु उससे डरना चाहिए, जो हम स्वयं कर बैठ सकते हैं, जो एक भयावह यथार्थ बन सकता है।

**इ० री० :** आपके उपन्यास के अन्तिम भाग के प्रकाशन के उपरान्त समीक्षक स्वभावतया उसका मूल्यांकन करने लगेंगे, उसका, स्वभावत:, सबसे पहले 'लितेरातूर्नाया गज़ेता' के पत्रों में भी मूल्यांकन होगा।

---

* दोस्तोयेव्स्की के उपन्यास 'कारामाज़ोव बन्धु' (१८८०) का नायक।

** यहां अभिप्राय मिखाईल बुल्गाकोव (१८९१-१९४०) के उपन्यास 'मास्टर और मार्गारिता' से है।

परन्तु 'बलि-वेदी' के उन पाठकों से आप क्या कह सकते हैं, जो यह मानते हैं कि लेखक धर्म के प्रति लगभग मेल-मिलापभरा रुख अपनाता है?

**चं० आ०:** मेरे ख़याल से, उपन्यास तरह-तरह के तर्क-वितर्कों, तरह-तरह की व्याख्याओं को जन्म देगा। उपन्यास के पूर्ण रूप से प्रकाशित हो जाने के बाद मैं उस पर गम्भीर साहित्यिक, आप चाहें तो कहते हैं, दार्शनिक बहस की अपेक्षा करता हूं। जो लोग लेखकों और उनके उपन्यासों के विषय में इस बात से अपनी राय देते हैं कि धर्म के प्रति उनकी सहानुभूति है या नहीं, वे केवल फ़ार्मूले पाते हैं और यह नहीं देख पाते कि उनका धार्मिक ध्येयों तथा लक्ष्यों के लिए कदापि उपयोग नहीं किया गया है, वे पुस्तक पर तो नज़र दौड़ाते हैं, परन्तु कुछ भी नहीं देख पाते।

**इ० री०:** आपके उपन्यासों से पता चलता है कि संगीत तथा गीत आपके लिए महत्वपूर्ण हैं। आप अपनी एक पहली उपन्यासिका का नाम 'मेलोदिया' (राग—अनु०) रखना चाहते थे, आपका तात्पर्य प्यार के संगीत से था—ठीक है न? यह वही लघु उपन्यास है, जिसका नाम अलेक्सांद्र त्वार्दोव्स्की ने उसे 'नोवी मीर' में प्रकाशित करते समय 'जमीला' रखा था। परन्तु आपने क्या क़िर्ग़िज़ भाषा में प्रकाशित अपनी पहली कृति का नाम 'मेलोदिया' नहीं रखा था?

'बलि-वेदी' में एक महत्वपूर्ण घटना है, जो उपन्यास की दार्शनिक संरचना में महत्वपूर्ण है—आव्दी काल्लिस्त्रातोव पुश्किन संग्रहालय में बुल्गारिया के प्राचीन धार्मिक भजन सुनता है। उसे सुनते समय वह एक जार्जियाई कहानी, बल्कि गाथा, का अर्थ समझ जाता है, जो उसने कभी पढ़ी थी। उस गाथा का नाम था 'छः और सातवां'।

दंतकथाएं, नीतिकथाएं, लोककथाएं तथा गीत आपकी कहानियों में काफ़ी बड़ी भूमिका अदा करते हैं। आपने ही इस गाथा की रचना की थी, है न? या क्या किसी पुरानी जार्जियाई दंतकथा का पदान्वय है? उसमें क्या अर्थ निहित है? जब मैंने यह गाथा पढ़ी और उस भाग तक पहुंची, जहां सातवें की मृत्यु हो जाती है, तो मुझे लगा कि आप यह दिखाने का प्रयास कर रहे हैं कि किसी पृथक व्यक्ति का नीति-आचार और समाज का नीति-आचार आपस में मेल नहीं खाते। सातवां ज़रा भी झिझके बिना छः की हत्या कर देता है, क्योंकि शत्रु यदि हथियार

नहीं डालता, तो उसे नष्ट कर दिया जाता है—सबके मंगलकल्याण के नाम पर, एक विचार के नाम पर। परन्तु एक इन्सान होने के नाते वह उसे सहन नहीं कर पाता, जो वह कर बैठा है, उसके लिए हत्या अनैतिक है। और, निस्सन्देह, यह चीज़ अत्यन्त महत्वपूर्ण है—स्वयं आव्दी ही इन कारणों पर विचार करता है कि सातवें को क्यों अपनी जान लेनी पड़ी और यह भी कि उसने यह वस्तुतः धार्मिक भजन को सुनते हुए किया। ईसाई धर्म का एक मुख्य उपदेश, जैसा कि सुविदित है, यह है "हत्या मत करो"।

**चं० आ०:** इस तरह भी व्याख्या की जा सकती है। यह तो प्रतिक्रियाओं की शृंखला थी: छः ने ज़बर्दस्त प्रतिरोध करते समय दूसरों की हत्या की। सातवें ने बदले में उन्हें सज़ा दी, परन्तु उसने भी उन्हें उसी पाशविक ढंग से सज़ा दी और इस तरह अपने को नष्ट कर दिया—इस तरह यह एक दुश्चक्र था, त्रासदी थी। निस्सन्देह, ऐसी गाथा नहीं है और मैं कुछ उद्विग्नता के साथ जार्जियाई पाठकों की राय की प्रतीक्षा कर रहा हूं, देखना चाहता हूं कि यथार्थ को संप्रेषित करने में मैं कहां तक सफल रहा हूं, हालांकि यह सबसे महत्वपूर्ण नहीं है। इस कहानी के माध्यम से मैं यह कहना चाहता था कि गृहयुद्ध सदैव राष्ट्रीय त्रासदी से जुड़ा होता है, कि यंत्रणा, रक्तपात और राष्ट्रीय त्रासदी अपरिहार्य हैं। यह संगीत तथा गीतों से प्रतिबिम्बित किया जा सकता है, जो केवल संघर्ष, विजय तथा विजयोल्लास को ही महिमामंडित नहीं करते, अपितु, इसके विपरीत, काल-कवलित होनेवालों के लिए अफ़सोस करने, शोक मनाने के लिए भी विवश कर सकते हैं।

**इ० री०:** उपन्यास का नाम 'बलि-वेदी' है। परन्तु मैंने सुना कि मूल नाम 'द्रुत अनुक्रमण' था। पुस्तक पढ़ते हुए मैंने कुछ वाक्य देखे, जिन्होंने मुझे दूसरे नाम की याद दिलायी: "...मुझे एक पूरी नयी ज़िन्दगी में गोता लगाना होगा, ऐसी ज़िन्दगी में, जो अनन्तकाल से आपाधापी के भंवरों में, *चक्रानुक्रमों* में चक्कर काटती रहती है" और "...काल के समस्त *द्रुत अनुक्रमणों* में एक धागा उसकी नियति तक पहुंच गया है।" आपने उपन्यास का नाम क्यों बदला? नाम का आपके लिए सदैव बहुत महत्व रहा है।

**चं० आ०:** यह सच है, मेरा इरादा 'द्रुत अनुक्रमण' नाम से एक उपन्यास लिखने का था—अब भी है। वह आव्दी काल्लिस्त्रातोव, भेड़ियों के परिवार और बहुत-सी दूसरी बातों के बारे में होता। परन्तु

भिन्न कथानकों और भिन्न-भिन्न कालावधियों को एक समष्टि में ऐक्यबद्ध करना बहुत जटिल सिद्ध हुआ। यह अनुभव करने के बाद कि इस चीज़ पर काम करने में कितना लम्बा समय होगा, मैंने आव्दी की कहानी अलग से लिखने का निर्णय किया। मैं नहीं समझता था कि यह कहानी एक सम्पूर्ण उपन्यास बन जायेगी। मैं सोचता था कि यह एक उपन्यासिका होगी, परन्तु उसका अपने-आप विकास होता चला गया।

मेरे ख़याल से, 'बलि-वेदी' नाम उपन्यास की अन्तर्वस्तु से उत्पन्न होता है। बलि-वेदी केवल मंच नहीं है, जिस पर मनुष्य का सिर रखकर काट दिया जाता है। मनुष्य जीवनभर इस या उस रूप से बलि-वेदी की अनुभूति करता रहता है। कभी-कभी वह सचमुच वेदी पर चढ़ जाता है, हालांकि शारीरिक रूप से जीवित रहता है, कभी-कभी वेदी पर नहीं चढ़ता। इस मामले में नाम यह बताता है कि बलि-वेदी के लिए, उस पर चढ़ने के लिए कितनी क़ीमत चुकायी गयी है, और क्या उस पर चढ़ने में, सलीब की यंत्रणा के इस पथ से गुज़रने में कोई सार्थकता है।

**इ० री० :** उपन्यास का आरम्भ त्रासदीमय है, जिसमें मृगों के घास के अनुपम मैदान में हृदय-विदारक वध का, भेड़िया-परिवार के इतिहास का वर्णन किया गया है। आपके पाठकों के लिए प्रकृति, पशु-जगत का वर्णन कोई नयी चीज़ नहीं है— रहवाल गुलसारी घोड़ा, कारानार ऊंट, अब अकबर और ताश्चिनार भेड़िये, जिनके बारे में आपने विस्मयकारी मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक शक्ति के साथ लिखा है।...

**चं० आ० :** पशु-जगत क़िर्ग़िज़ लोककथाओं का बहुत बड़ा भाग है, क्योंकि ये पशुपालकों की लोककथाएं हैं। नायक का चित्रण सदैव उसके घोड़े के साथ किया जाता है। महान 'मनास' में बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक "खंड" घोड़े के साथ जुड़े हुए हैं, उदाहरण के लिए, जब कहानी में घोड़ों की प्रतियोगिता के बारे में बताया जाता है, यह बताया जाता है कि इन क्षणों में मनुष्य की आत्मा पर क्या बीतती है, उसके अन्दर किस प्रकार के आवेगों का उफान उठता रहता है, लोगों के बीच किस-किस तरह के निरर्थक टकराव होते रहते हैं। हमारे पास 'कोद्‌जोद्‌जाश' नामक एक अद्‌भुत प्राचीन महागाथा है, जिसका मूल उस युग में है, जब मनुष्य, प्रकृति तथा पशु-जगत अभी बंटे नहीं थे। मैंने उनमें से एक मूलभाव का 'विदा, गुलसारी!' में उपयोग किया था। इस महागाथा में बताया गया है कि एक नौजवान और बहादुर शिकारी कोद्‌जोद्‌जाश—अपने क़बीले का भरण-पोषणकर्त्ता—पहाड़ों

में सारे जंगली बकरे-बकरियां मार देता है। एक दिन एक अपंग भूरी बकरी उससे विनती करती है कि वह उसे और बूढ़े बकरे को न मारे, क्योंकि उनके अलावा और कोई नहीं है, जो वंश को आगे बढ़ा सके। भूरी बकरी ने शिकारी के दर्प को असावधानी से छू दिया, जब वह उससे बोली कि अगर वह उन्हें नहीं बख़्शेगा, तो वह स्वयं अपने को भयंकर दंड का भोगी बना देगा। शिकारी इस पर हंसा—यह बकरी उसका क्या बिगाड़ सकती है? और उसने बूढ़े बकरे को मार दिया। बूढ़ी बकरी अपंग होते हुए भी भागने में सफल हो गयी और शिकारी उसका पीछा करते-करते ऐसी दुर्गम पर्वतमाला में जा फंसा, जहां न तो नीचे उतरने का और न ऊपर चढ़ने का रास्ता था। "यह है तेरे लिए दंड," बकरी जाते-जाते बोली।

प्राचीन काल के लोगों ने पर्यावरणीय बंद गली का इस प्रकार चित्रण किया था। निस्सन्देह, इस गाथा की सर्वथा भिन्न-भिन्न व्याख्याएं हो सकती हैं। मेरी व्याख्या यह है—बहुत पहले, प्राचीन काल में ही मनुष्य ने अपने को चेतावनी दे दी थी कि वह प्रकृति के प्रति विवेकहीन रवैया न अपनाये, अपनी जीवन्त आवश्यकताओं की पूर्ति तक के लिए पशुओं का संहार न करे। लोग तो उस ज़माने में भी पर्यावरणीय समस्याओं के इन पहलुओं से परिचित थे, जो हमारे समकालीनों के लिए आज चिन्ताजनक बने हुए हैं।

तो, पशु-जगत के साथ मेरे गहन लगाव की जड़ें क़िर्ग़िज़ जातीय लोककथाओं में पहुंची हुई हैं।

**इ० री०:** आपकी पहले की रचनाओं में तानाबाई और उसका घोड़ा गुलसारी, येदिगेई और उसके ऊंट कारानार के बीच, कहा जा सकता है, आन्तरिक समानता है, उनकी नियतियां एक-दूसरे के समीप हैं, आपस में गुंथी हुई हैं। परन्तु 'बलि-वेदी' में भेड़िये मनुष्य से, उसकी नीचताभरी आदतों से कहीं ऊपर उठ जाते हैं। मोयूनकुमी मैदान में मृगों के शिकार के दौरान "...इस भविष्यसूचक ख़ामोशी के बीच मादा भेड़िये अकबर ने मानवाकृति देखी। वह इतने निकट आ गयी, इतनी स्पष्ट थी, इतनी भयावह थी कि वह बुरी तरह भयभीत हो गयी।..."

**चं० आ०:** जानवर जानवर को पहचान लेता है।

**इ० री०:** दरअसल यह हिंस्र पशु मानवरूपी पशु से भयभीत होता है। आपके उपन्यास में भेड़ियों का परिवार मानो दो जगतों के बीच है।

एक अच्छे लोगों की पृथ्वी है, जिसका प्रतिनिधित्व आव्दी करता है। आव्दी का समस्त जीवधारियों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण, मानवप्रेम, लोगों के नैतिक पतन के कारण समझने की, केवल उपदेश के माध्यम से ही नहीं, अपितु उनके मामलों में निजी तौर पर हाथ बंटाने की उसकी इच्छा, प्यार करने की उसकी कामना इस तरह प्रकट होती है: "मैंने कभी कल्पना तक नहीं की थी कि अपनी प्रेयसी के बारे में सोचना और उसे पत्र लिखना मेरे जीवन का अर्थ बन जायेंगे... मैं जीवन की अन्तिम घड़ी तक प्यार करना बंद नहीं करूंगा।..." दूसरी ओर, अमानवीय लोगों की पृथ्वी है—"जुन्टा", वह नाम, जिसका उपयोग मोयूनकुमी मैदान में हत्यारों के दल ने किया था, शराबी, बेघरबार, बेपेंदी के लोटे, वे लोग जानवरों के नियमानुसार—इस शब्द के निकृष्टतम अर्थ में—जीते हैं, और भांग की पत्तियों से बनी नशीली वस्तुओं का सौदा करनेवाले नौजवान। "जुन्टा" में सारतः कुछ भी मानवीय नहीं है, परन्तु भेड़ियों का तो परिवार है, उनका एक-दूसरे से लगाव है, उनमें मानवीय भावनाएं हैं। मैं आरम्भ से ही यह वैपरीत्य देखती हूं। इस पर पुश्किन संग्रहालय का वह दृश्य ज़ोर देता है, जिसमें आव्दी नशीली वस्तुओं के सौदा करनेवालों के साथ स्तेपी के लिए रवाना होने से कुछ ही समय पहले सोफ़िया के गायकों को सुनता है: "कैसा वैपरीत्य—धार्मिक भजन और निकृष्ट घास से निकलनेवाले निकृष्ट धुएं के लिए नशेबाज़ों की वीभत्स छटपटाहट।" मैं नहीं जानती कि उपन्यास के भाग एक और भाग दो की इस तरह की रचना सचेतन ढंग से की गयी थी या नहीं, परन्तु, कुछ भी हो, मैंने वैपरीत्य काफ़ी स्पष्टता के साथ देखा।

**चं० आ०:** वह उपन्यास के अन्त तक जारी रहता है। उपन्यास के भाग तीन में भेड़ियों का परिवार और उसकी त्रासदीभरी कहानी भी दो जगतों के बीच है, जो दो परिवारों की, दो परस्परविरोधी लोगों—गड़ेरिये बोस्तोन उर्कुनचियेव और उसके शत्रु बाज़ारबाई नोइगुतोव—की कहानियों से जुड़े हैं। वे प्रतिध्रुव हैं, आव्दी काल्लिस्त्रातोव और भांग की पत्तियों से नशीली वस्तुओं के सेवन के आदी लोगों का सरदार ग्रिशान की भांति, जो नौजवानों को अपनी इस आस्था का अनुयायी बना देता है: "दुनिया में हर चीज़ खरीदी और बेची जा सकती है", "पैसा ही सब कुछ है"।

**इ० री० :** नौजवानों की समस्याओं से आप इतने "चिन्तित" क्यों हैं?

**चं० आ० :** मेरी राय में, वे अब बहुत तीक्ष्ण हो गयी हैं। मुझे अपने छात्र-जीवन की याद है। हम लोग युद्ध से अभी-अभी बाहर निकले थे, अपने पांवों पर खड़ा होना अभी शुरू किया ही था, ज़िन्दगी में बहुत कठिन, जटिल घड़ियां थीं, परन्तु हमारी तरुण आत्माएं, जिनमें कभी-कभी भोलापन, बचकानापन होता था, सामूहिकता तथा अन्तर्राष्ट्रीय एकजुटता की भावना से ओतप्रोत रहती थीं। इसका कारण, शायद, यह था कि सबने युद्ध की विपदाएं झेली थीं।

**इ० री० :** यह तो 'जब पहले सारस आये' नामक आपकी कृति में बहुत स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है।

**चं० आ० :** आज मैं नौजवान नहीं होना चाहूंगा।

**इ० री० :** क्यों, उम्र में?

**चं० आ० :** स्वभावतः, उम्र में। हालांकि यह सम्भव भी नहीं है, फिर भी मैं फिर से नौजवान नहीं बनना चाहता। आज के नौजवानों के बीच मैं कुछ बेचैनी अनुभव करता हूं।

हम चाहे कुछ भी कहें, हम सुख-समृद्धि की अवस्थाओं में जी रहे हैं, कोई भूखा, कंगाल, बेघरबार नहीं है, परन्तु इन अवस्थाओं में ठीक से नैतिक शिक्षा-दीक्षा नहीं हो पा रही है, उच्च आन्तरिक संस्कृति का अभाव है, जो उपभोक्तावाद, परजीवीवाद, वस्तुवाद की ओर ले जा रहे हैं, जब भौतिक कारक नज़रों के सामने उभर रहे हैं, जब आत्मिक मूल्य लगभग शून्य के बराबर हैं।

मैं यह मानता हूं कि काफ़ी हद तक परिवार दोषी हैं, उनसे भी ज़्यादा स्कूल दोषी हैं, जो, मेरी राय में, समय की अपेक्षाओं की पूर्ति करने तथा उन विरोधाभासों से निबटने के कार्य के अनुरूप नहीं रह गये हैं, जिन्हें हम अनुभव कर रहे हैं। हाल में मेरी एक ऐसे व्यक्ति से मुलाक़ात हुई, जिसके पास सुधारों की विचारोत्तेजक योजनाएं हैं, परन्तु उन सुधारों की नहीं, जिन्हें कार्यान्वित करने के लिए हम इस समय प्रयत्न कर रहे हैं। वह शिक्षा-प्रणाली में गहन, मूलभूत, बड़े-बड़े परिवर्तन लाना चाहता है, जो स्कूल को सामंजस्यपूर्ण, चहुंमुखी विकास, शिक्षा तथा नैतिक परवरिश का केन्द्र बना देंगे। वह यह मानते हैं कि बच्चों को दो या तीन वर्ष की उम्र से ही अपनी शारीरिक क्षमता के अनुसार काम शुरू कर देना चाहिए, उसी उम्र में उनमें साहित्य,



13—907

संगीत, कला के लिए रुचि पैदा करनी चाहिए। शिक्षण ग्रुप छोटे होने चाहिए और बच्चों के प्रति वैयक्तिक रुख अपनाया जाना चाहिए।

**इ० री० :** इतने ख़र्चे के लिए कौन सहमत होगा?

**चं० आ० :** जन-शिक्षा में किफ़ायत नहीं की जानी चाहिए, बिल्कुल अच्छी बात नहीं है। बड़े क्लासरूमों का छात्र के ज्ञान के गुण और उसके नैतिक विकास पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है, भले ही उन्हें बेहतरीन अध्यापक उपलब्ध हों। जब हम एक अध्यापक की सहायता से पचास बच्चों को शिक्षित करते हों, तो यह शिक्षा नहीं, अपितु उसका अपवित्रीकरण है।

क़िर्गिज़ कम्युनिस्ट पार्टी की कांग्रेस में मैंने इस बारे में चिन्ता प्रकट की थी। स्कूल नं०५ का, जो फ्रूंज़े के सर्वोत्तम स्कूलों में से एक है, उदाहरण देते हुए मैंने कहा था कि जनतंत्र की राज्य योजना समिति, जन-शिक्षा मंत्रालय, फ्रूंज़े नगर कार्यकारी समिति, केन्द्रीय समिति के सम्बन्धित विभागों में से कोई भी इन तमाम वर्षों, दशकों में इस तथा दूसरे स्कूलों की समस्या हल नहीं कर पाया है, जिनमें छात्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है, तिगुनी होती जा रही है, परन्तु जिनकी दीवालों और बजट का कोई विस्तार नहीं हुआ है। समाज को किसी तरह अन्य क्षेत्रों में काट-छांट करनी चाहिए, परन्तु शिक्षा पर ख़र्चे में वृद्धि करनी चाहिए। तब हम वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति की सचमुच बात कर सकते हैं, तब हमारे पास उच्च नैतिक तथा आत्मिक क्षमता से युक्त प्रतिभाशाली लोगों का प्राचुर्य होगा।

युवा कम्युनिस्ट संघ को, मेरी राय में, अपने बारे में सोचना चाहिए, वह बहुत ज़्यादा लीकपरस्त हो गया है: जुझारूपन, एकता लानेवाली, एकजुट करनेवाली, जादुई भावना को अनुभव नहीं करता। मैं यह मानता हूं कि उसे अपना कुछ पुनर्गठन करना होगा, ताकि नौजवानों के बीच अधिक कारगर बन सके, जो वह तब अदा करता था, जब मैं नौजवान था। मेरी पीढ़ी युवा संघ के प्रति सच्चे अर्थों में निष्ठावान थी। और ये खोखले शब्द नहीं हैं।

भीड़-संस्कृति भी अपना बुरा असर दिखा रही है।

**इ० री० :** वालेन्तीन रस्पूतिन ने एक बार कहा था कि यदि पुश्किन ने आरीना रोदिओनोव्ना की लोककथाएं और गीत न सुने होते और आज के किसी पॉप गायक के गीत सुने होते, तो वह पुश्किन न होकर दांतेस होते। यह, निस्सन्देह, एक ऐसे लेखक की तर्कवितर्कमूलक अतिशयोक्ति है, जो समकालीन नौजवानों के आत्मिक जीवन के बारे

में चिन्तित है। यह मामला इतना किसी गायक के गीत का नहीं है, जितना कि इस बात का कि नौजवान सस्ते ढंग के, ऊटपटांग क़िस्म के गीत सुनने में कई-कई घंटे बिता देते हैं, जो केवल दिलबहलाव कर सकते हैं, विकर्षित या आकर्षित कर सकते हैं, परन्तु उन्हें आत्मिक कार्यों में नहीं खींच सकते, उनमें "उदात्त भावनाएं" उत्पन्न नहीं कर सकते।

**चं० आ० :** और पश्चिम की वे हिंसाप्रधान फ़िल्में, जो हम दिखाते हैं! वयस्क लोग ऐसी फ़िल्में आलोचक की नज़र से देख सकते है, परन्तु बच्चे, किशोर, अनुभवहीन, विवेकहीन इन पर यंत्रवत् झपटते हैं, उन्हें ग्रहण करते हैं, उनका अनुकरण करते हैं।

हमारे अलावा और कोई नहीं है, जो हमारे नौजवानों को शिक्षित-दीक्षित करेगा, उनकी तरुण आत्मा का गठन करेगा। हम यह आशा करते हुए उदासीन नहीं बैठे रह सकते कि जो कुछ हो रहा है, उसमें कुछ भी भयावह नहीं है: इस समय वे क्रूर, हृदयहीन, अहंकारी हैं, पर जब वे बड़े हो जायेंगे, तो वे बदल जायेंगे, हम उन्हें बदल देंगे। हम ऐसा नहीं कर पायेंगे। बदलना बहुत मुश्किल है। यह मानना और कुछ नहीं तो कम से कम भोलापन अवश्य है कि व्यापक पैमाने की माध्यमिक शिक्षा सारी समस्याएं हल कर देगी। इसके विपरीत, शिक्षा का स्तर जितना ऊंचा होगा, शिक्षा-दीक्षा उतनी ही कठिन और जटिल होगी, उसकी विधियां उतनी ही अधिक परिष्कृत तथा नमनीय होनी चाहिए।

**इ० री० :** आपने जब नशीली वस्तुओं के व्यसनियों को अपने उपन्यास में शामिल किया, तो आपके पास क्या सूचना थी?

**चं० आ० :** यह, निस्सन्देह, संयोग मात्र नहीं था कि मैं इस विषय की ओर मुड़ा। इन मादक वस्तुओं के व्यसनी दो लड़कों की मां की 'लितेरातूर्नाया गज़ेता' में हाल में प्रकाशित चिट्ठी इस पीड़ादायी समस्या की एक और अभिपुष्टि है। वर्षों तक हम इस विपदा को स्वयं अपने से छुपाते रहे। मैं, स्वभावतः, इस प्रश्न से चिन्तित था: हमारे कुछ नौजवानों में यह बीमारी क्यों पैदा हुई है, वे कौन-से पारिवारिक, व्यक्तिगत कारण हैं, जो हमारे समाज में ऐसी बुराई को सम्भव बनाते हैं? यह बीमारी कहां से आती है, हमारे देश में वह कैसे घुसपैठ करती है? किस तरह की सामाजिक समस्याएं हमारे नौजवानों को इस प्रकार के विनाशकारी पथ पर धकेलती हैं?

इस बारे में उन्हें नहीं, हमें सोचना होगा और ख़ुद अपने को उत्तर देना होगा।

एक बार मैं स्तेपी में एक सुदूर स्टेशन में पहुंचा, जहां रेलगाड़ी को आना था। वह कुछ घंटे लेट थी, मेरे पास करने को कुछ नहीं था, इसलिए मैं इधर-उधर टहलने लगा। एक पुलिसमैन ने, ज़ाहिर है, मुझे पहचान लिया और मुझे थाने में प्रतीक्षा करने के लिए कहा। ज्योंही मैंने अन्दर प्रवेश किया, मैंने लोहे के सींकचों के पीछे एक कोने में कुछ किशोर देखे। उन्हें भांग की पत्तियां ले जाते हुए एक मालगाड़ी में पकड़ा गया था। कमरे के दूसरे कोने में प्रमाण था: नशीली वस्तुओं से भरे बोरे, थैले, संदूक़। मेरा जी ख़राब हो गया।

'लितेरातूर्नाया गज़ेता' में उस अभागिन मां की चिट्ठी ने मुझे फिर इस विषय पर अपने विचार लिखने के लिए—चाहे लेख के रूप में ही सही—सोचने पर विवश किया: जी हां, उन्होंने क़ानून का उल्लंघन किया, उन्हें सज़ा मिलनी चाहिए, परन्तु हमें उनकी मदद करनी चाहिए, हम उनके उपचार का रास्ता ढूंढ़ने के लिए कर्त्तव्यबद्ध हैं।

**इ० री०:** क्या कारण है कि आपके उपन्यास की अगली कड़ी 'नोवी मीर' के सातवें अंक में नहीं, वरन आठवें अंक में प्रकाशित हुई? तीसरा भाग कब प्रकाशित होगा?

**चं० आ०:** इस बारे में बहुत-से लोग पूछते हैं। मैं गेली प्रूफ़ पढ़ना समय पर पूरा नहीं कर पाया था। इसी कारण भाग दो को आठवें अंक के लिए रखना पड़ा। तीसरा भाग नौवें अंक में छप जायेगा।

**इ० री०:** इन दिनों आप क्या पढ़ रहे हैं?

**चं० आ०:** 'बलि-वेदी' ने मेरा सारा वक़्त ले लिया, इसलिए मैं वे कई किताबें नहीं पढ़ पाया, जिन्हें पढ़ना चाहता था। मैं अलेस अदामोविच की 'इससे अधिक महत्वपूर्ण और कुछ नहीं' शीर्षक नयी पुस्तक पढ़ रहा हूं। यद्यपि इसका उपशीर्षक 'युद्ध के विषय में गद्य की समकालीन समस्याएं' है, परन्तु जितना मैं पढ़ चुका हूं, उससे यह स्पष्ट है कि पुस्तक का दायरा बहुत व्यापक है, उसमें केवल युद्ध के विषय पर गद्य की ही नहीं, अपितु सामान्यतया समस्त कलात्मक चिन्तन, साहित्य और जीवन की भी फ़ौरी समस्याएं उठायी गयी हैं। मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि यह आत्मा, जिसका नाम अलेस अदामोविच है, मुझे फिर सोचने, पीड़ा झेलने के लिए बाध्य करेगी, मुझे अपनी पीड़ा तथा भावनाओं के माध्यम से कुछ ऐसी चीज़ की ओर आकर्षित करेगी, जो

दयामय, वास्तविक हो। मैं उनकी केवल इसी तरह व्याख्या कर सकता हूं। अपनी नयी पुस्तक में वह नीति-आचार, नैतिकता के बारे में, इस बारे में बात करते हैं कि आज मानवतावाद के अलावा कोई और विकल्प नहीं है।

हम अब भी मानवतावाद की समाजेतर अवधारणा के विरुद्ध हैं, परन्तु, दूसरी ओर, नाभिकीय युग में, जब मानवजाति तथा सभ्यता के समक्ष उनके मटियामेट होने का वास्तविक ख़तरा उपस्थित हो गया है, मानवतावाद की हमारी अवधारणा अब पहले से अधिक व्यापक हो गयी है। हम सार्विक समस्याओं के प्रति सार्विक रुख़ की खोज कर रहे हैं। ऐसे ज़माने में, जब संसार तकनीकी उन्नति के ऐसे स्तर पर, विरोधाभासों के ऐसे स्तर पर पहुंच गया है, जब नैतिक अर्थ में मानवजाति उसके साथ क़दम से क़दम मिलाकर नहीं चल पा रही है, जिसकी वह अपनी मेधा तथा हाथों से रचना कर रही है, यह बहुत महत्वपूर्ण है कि साहित्य तथा कला अपने साधनों को मनुष्य पर अधिकतम प्रभाव डालने, उसे यह बताने के लिए इस्तेमाल करें कि जीवन में ऐसी कोई आस्थाएं, लक्ष्य तथा कार्यभार नहीं हैं, जिनका मूल्य मानवजाति के जीवन से अधिक हो। हमें सदा-सर्वदा के लिए सबके वास्ते इस सार्विक नियम को सीखना होगा—शान्ति, और कुछ नहीं, केवल शान्ति!

# संसार की प्रतिध्वनि *

सोफ़िया में हमारी भेंट इस बात का प्रमाण है कि प्रबुद्ध लोगों ने किसी तरह संस्कृतियों के संवाद—इस अवधारणा के सर्वोत्तम अर्थ में—की व्यवस्था करने के प्रयास करते रहना बंद नहीं किया है। हम भिन्न-भिन्न प्रणालियोंवाले समाज में रहते हैं। हमारे बीच बहुत सारे विरोधाभास, तीक्ष्ण ऐतिहासिक विरोधाभास, यहां तक कि टकराव भी मौजूद हैं, परन्तु हम सबका एकसमान मानवगत मूल है। इसी कारण हम ऐसे रूपों की तलाश करने का प्रयास कर रहे हैं, जिनके ज़रिये हम मानव के क्रियाकलाप के विभिन्न क्षेत्रों में अपने ज्ञान तथा अनुभव का विनिमय कर सकें।

अपने मेहरबान बुल्गारियाई मित्रों के निमंत्रण की बदौलत हमें आज इस गोलमेज़ सभा में मिलने की सम्भावना मिली है और हममें से हरेक, स्वभावत:, अपनी क्षमताओं और योग्यताओं के अनुरूप आधुनिक समाज में विज्ञान, संस्कृति और समाज की समस्याओं पर विचार करेगा। निस्सन्देह, यह व्यापक, यहां तक कि सीमाहीन विषय है। ज़ाहिर है, कोई भी संजीदगी से यह दावा नहीं कर सकता कि वह पूरे विषय का विवेचन कर देगा।

मैं यह कहना चाहूंगा। यह सर्वथा सुस्पष्ट है कि संसार विज्ञान तथा तकनीक के क्षेत्रों में क्रान्ति से गुज़र रहा है। यह क्रान्ति हमारी आंखों के सामने हो रही है, हमें सूचना की बाढ़ में लपेट रही है, संचार की प्रणाली बदल रही है, हमें अपने समस्त रूपों समेत भीड़-संस्कृति के क्षेत्र की ओर खींच रही है। हम शहरी आबादी का ज़बर्दस्त जमाव, विराट थियेटर और स्टेडियम देख रहे हैं, जो सबको सुलभ हैं। अन्य समकालीन यथार्थों की एक पूरी श्रृंखला है, जो अदम्य

---

* 'वोप्रोसी लितेरातूरी', अंक ३, १९८६।

लेख यूरोपीय विज्ञान, कला तथा साहित्य अकादमी की सोफ़िया में अक्तूबर १९८५ में हुई बैठक में चंगेज़ आइत्मातोव के भाषण पर आधारित है।

वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति का परिणाम हैं। कुछ मामलों में यह प्रगति वरदान है, मानव बुद्धि को समृद्ध बनाने तथा विकसित करने का स्रोत है। परन्तु वह इसके साथ ही संस्कृति और सामाजिक जीवन में बहुत-सारी पेचीदगियां, वे पेचीदगियां पैदा कर देती हैं, जिनका हमें नित्यप्रति सामना करना पड़ता है।

इस सिलसिले में मैं चन्द सवालों का अपने लिए ही उत्तर देना चाहूंगा। सच तो यह है कि मैं इनका उत्तर नहीं दे सकता, उन्हें केवल पेश करने का प्रयास कर रहा हूं।

विस्तृत विकास के युग का पटाक्षेप हो रहा है, वह अपनी संभावनाएं ख़त्म कर बैठा है। उसका जड़त्व चाहे कितना ही विराट क्यों न हो, वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति बहुत द्रुत गति से उस पर क़ाबू पा लेगी। इस मामले में मैं सोवियत समाज, सोवियत राज्य का अनुभव दे सकता हूं, जहां हम सबके सामने हमारे दैनंदिन जीवन से अविभाज्य एक सामान्य, राष्ट्रीय कार्यभार है—वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने की गति का त्वरण। राजकीय अर्थव्यवस्था की रेलगाड़ी केवल त्वरण तथा गहनीकरण से ही आगे बढ़ सकती है। हम सब यह बहुत अच्छी तरह समझते हैं।

वह समय बीत चुका है, जब टेक्नालाजी अपने आप अस्तित्वमान रहती थी और वैज्ञानिक आविष्कारों पर निर्भर नहीं करती थी। अब यहां और वहां नवीकरण की प्रक्रिया लगभग एक ही समय चल रही है। नाभिकीय भौतिकी का अर्थ है नाभिकीय रिएक्टर, साइबेरनेटिकी—स्वचालित प्रणालियां, कम्प्यूटर, आदि। याने वैज्ञानिक सुझाव-प्रस्तावों से तकनीकी खोजें जन्म ले रही हैं और इसके उलट, टेक्नालाजी की नयी क़िस्मों की तीक्ष्ण आवश्यकता विज्ञान को वैज्ञानिक अनुसंधान की रफ़्तार तेज़ करने और उसे उद्दीप्त करने के लिए बाध्य कर रही है।

वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति के अन्तर्गत हमारी चेतना, हमारी मानसिकता, हमारे आत्मिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। आधुनिक संसार के अवबोध का ठीक उसी तरह पुनर्नवीकरण हो रहा है, जिस तरह कि स्वयं अपने बारे में हमारे अवबोध का पुनर्नवीकरण हो रहा है।

हमारे अतीत द्वारा गठित आदर्शों का वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति की नवीनतम अपेक्षाओं के साथ किस तरह संलयन हो रहा है? क्या

आधुनिक नैतिकता, सामाजिक आत्म-चेतना तथा संस्कृति का स्तर इन अपेक्षाओं से पिछड़ तो नहीं रहा है? यही नहीं: चेतना तथा वैज्ञानिक यथार्थ के बीच खाई में, कभी बढ़ती, कभी घटती खाई में क्या खतरा निहित है? अर्थव्यवस्था, दैनंदिन जीवन, हमारे जीवन के समस्त क्षेत्रों के कम्प्यूटरीकरण का परिणाम क्या होगा? मशीनें कैसे और किन क्षेत्रों में मनुष्य का स्थान ले सकती हैं और किन क्षेत्रों में मानव के कार्यकलाप तथा उसमें मशीनों का हस्तक्षेप नितान्त विरोधपूर्ण हैं? यह चीज़, मेरी राय में, विज्ञान से भी सरोकार रखती है। आखिरकार, ऐसी सरहदें हैं, जहां विज्ञान को रहस्यों के रहस्य पर धावा करने से रोक देना चाहिए। जब मैं पढ़ता या सुनता हूं कि मानव-जीवन को परखनली में जन्म देने का प्रयत्न किया जा रहा है, तो यह, सचमुच, बहुत भयावह है।

मैं जब लोगों को यह कहते हुए सुनता हूं कि दृष्टव्य भविष्य में काव्य के क्षेत्र में भी कम्प्यूटर प्रवेश करनेवाला है और यह चीज़ काव्य का जनसाधारण में प्रसार करने में सहायता देगी, तो मैं अत्यधिक विचलित हो जाता हूं। कुछ लोग हमारी बैठक में यह बात कहते रहे हैं। यह नया विचार नहीं है—पुश्किन ने 'मोज़ार्ट और सालेरी' में लिखा कि सालेरी ने बीजगणित से सामंजस्य को परखने का प्रयत्न किया और यह उसकी त्रासदी, एक महान आचार्य की त्रासदी थी।

मैं यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि कितनी अच्छी बात है कि मानवजाति को केवल अभी इलेक्ट्रोनिक चिन्तन का सामना करना पड़ रहा है, क्योंकि, शायद, इलेक्ट्रोनिक चिन्तन, उदाहरण के लिए, भारत में वेदों के श्लोकों के उद्भव में बाधक बनता; दूसरे, शायद, विश्व काव्य पर उसका विनाशकारी प्रभाव पड़ता; शायद, उसने संगीत के तत्त्व पर भी असर डाला होता।

मैं यह मानता हूं कि त्रासदी किसी भी तरह की कम्प्यूटर प्रणालियों के अधीन नहीं हो सकती। त्रासदी विशुद्ध मानव-अस्तित्व, चिन्तन तथा अनुभूति का तत्त्व है। ठीक ऐसे ही मानव बुराई और पाखंड की मात्रा और विविधता को कैल्कुलेटर पर निर्धारित करना असम्भव है। यह सब यांत्रिकी और कम्प्यूटर टेक्नालाजी के क्षेत्र के बाहर है। परन्तु हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अपनी नवीनतम अभिव्यक्तियों समेत विज्ञान को कला अवज्ञापूर्वक उपेक्षित कर सकती है। इसके विपरीत, वह बार-बार यह प्रश्न प्रस्तुत करेगी: कलाकार वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति और व्यक्ति

के विषय का प्रतिपादन करने में क्या भूमिका अदा कर सकता है? इस विषय का कौन-सा पहलू मौजूदा मंज़िल में हमारे लिए सबसे अधिक सामयिक तथा महत्वपूर्ण है? इस सम्बन्ध में, जिसके बारे में मैं बोल चुका हूं, हमें किस क़िस्म के आविष्कारों को रोकना चाहिए? हमें प्रगति पर असंयत हर्ष अथवा अतीत और पितृसत्तात्मक जीवन-पद्धति की मीठी याद अथवा उसका आदर्शीकरण देखने को मिलते हैं। इन दो सर्वथा विपरीत छोरों का किस तरह मूल्यांकन करना चाहिए, वे हमारी भावनाओं को किस तरह प्रभावित करते हैं? भविष्य में हमें क्या अपेक्षा करनी चाहिए? शहरी जीवन-पद्धति के किस प्रकार के मानकों का हमें सामना करना पड़ेगा?

ये तथा दूसरे प्रश्न ऐसे हैं, जिनसे मैं और, निस्सन्देह, दूसरे सामान्य रूप से चिन्तित होते हैं। इस तरह जताने से कोई लाभ नहीं है कि मानो सब कुछ बहुत सरल है, सुचारू रूप से प्रवहमान है।

जहां तक नूतन टेक्नालाजियों तथा शक्तिशाली उद्योगों का सम्बन्ध है, जो प्रकृति, नित्यप्रति के जीवन के परिष्करण, असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के सम्बन्ध में धावा बोलने की मनुष्य की प्रवृत्तियां सुनिश्चित करते हैं, ये सब तो उस विराटकाय हिमशैल की भांति हैं, जिसका अन्तर्जलीय भाग महासागर की गहराइयों में श्रम के विभाजन और विशेषीकरण के कारण हमारी नज़रों से छुपा रहता है। परन्तु विश्व उद्योग की ठीक इन छुपी प्रयोगशालाओं में ही आधुनिक वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति लोहे की तरह गढ़ी जा रही है। आज के टेक्नालाजिकल युग के जटिल चित्र की इस भांति कल्पना की जा सकती है।

मैं इस बात को फिर दुहराता हूं—हम असीम को नहीं समेट सकते, इसलिए हमारी यूरोपीय अकादमी की इस गोलमेज़ सभा में हम बुल्गारियाई बुद्धिजीवी समुदाय के प्रतिनिधियों के साथ अधिसंरचना के बारे में बात कर रहे हैं: विज्ञान, संस्कृति और समाज। यहां मैं एक और समस्या लक्षित करना चाहूंगा। मैं इसे संस्कृति की समस्या या, यों कहें, वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति के युग में व्यक्ति का गुण कहूंगा। लेखक के रूप में मुझे यह समस्या विशेष रूप से चिन्तित करती है।

वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति का हम पर, प्रत्येक व्यक्ति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। असंदिग्ध रूप से हम काफ़ी हद तक पिछली पीढ़ियों पर बहुत निर्भर करते हैं। दूसरी ओर, उतने ही असंदिग्ध रूप से, व्यक्ति

पर प्रभाव अपरिमित मात्रा में बढ़ रहा है। यदि १८वीं या १९वीं शताब्दियों के लोग यह देख पाते कि हम कैसे रह रहे हैं, क्या अनुभव करते हैं, हमारी उपलब्धियों और हमारी चिन्ताओं को देख पाते तो, स्वभावतः, इसमें से बहुत कुछ न समझ पाते। नाभिकीय युद्ध के खतरे को ही ले लें।... वह सामाजिक सम्बन्धों, अन्तःसरकारी सम्बन्धों को विशेष ढंग से गठित करता है, वह भिन्न-भिन्न प्रकार से मनुष्य के आचरण की शैली तथा चेतना को गठित करता है।

सोवियत कवि अन्द्रेई वोज़्नेसेन्स्की ने, जो बुल्गारिया में भी सुविदित हैं, अपनी एक कविता में कहा था: "यदि मनुष्य नष्ट हो रहा है, तो सारी प्रगति प्रतिक्रियावादी है।" बात बहुत सुन्दर ढंग से कही गयी है, यह है काव्यात्मक चिन्तन का अनुभव। फिर भी यही तो हो रहा है: मनुष्य, वस्तुतः, नष्ट हो रहा है, और यदि नष्ट हो रहा है, तो कैसे और क्यों?

क्या, शायद, हम परितृप्ति के कारण, इस कारण शिकायत करते हैं कि हमें अपनी रोज़ की रोटी कहीं आसानी से मिल जाती है, कि प्राक्-औद्योगिक युग की तुलना में विश्वभर में जीवन-स्तर औसतन काफ़ी ऊंचा हो गया है?

निस्सन्देह, मानवजाति की बढ़ती सुख-समृद्धि का एक मुख्य स्रोत यह है कि किसी बड़े, विश्वव्यापी पैमाने के युद्ध के बिना ऐतिहासिक अवधि जारी है। इसने लोगों को समस्त क्षेत्रों में, टेक्नालाजी के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु नैतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में भी अपने विकास में भीम डग भरना सम्भव बनाया है। समाजवादी देश पूरी मानवजाति के लिए जीवन-यापन की शान्तिपूर्ण परिस्थितियां क़ायम रखने के लिए सब कुछ कर रहे हैं, इसका श्रेय उन्हें तथा हमारे समाजवादी राष्ट्रमंडल को है। और हम सब लोग ऐतिहासिक विकास में ठीक इसी धारा का यथाशक्ति हार्दिक समर्थन करते हैं। परन्तु आइये, अपनी बातचीत के विषय की ओर लौटें।

कभी-कभी जब मेरे पास अपने लिए कुछ वक़्त रहता है, मैं सोचता हूं: व्यक्ति पर इस तथ्य का क्या प्रभाव पड़ता है कि अन्तरिक्षयात्री अन्तरिक्ष में विजातीयों के रूप में रहते हैं, कि मनुष्य के लिए विजातीय के साथ, अन्तरिक्षीय तत्त्वों के साथ रहना अधिकाधिक सम्भव होता जा रहा है? मनुष्य उस अकल्पनीय बुलंदी पर क्या अनुभव करता है? आखिर, मनुष्य समाज के बिना, अपने समकालीन जनसमुदाय

के बाहर, पृथ्वी के यथार्थ की अवस्थाओं के बाहर अकल्पनीय है, इसलिए कि वह एक पृथक इकाई के रूप में उस पर भी असर डालता है।

परन्तु मनुष्य व्यक्ति है, महज़ इकाई नहीं।

अतः, प्रश्न उठता है: सम्पूर्ण टेक्नालाजिकल प्रगति के युग में हमारी संस्कृति, हमारे साहित्य, हमारी कला के दिशा-निर्धारण का किसे लक्ष्य होना चाहिए—इस व्यक्ति अथवा सामान्यतया आकृतिहीन जनसमुदाय को? यह, मेरे विचार में, अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। यह प्रश्न पूरी विश्व संस्कृति से, सम्पूर्ण आधुनिक कला से किया जा सकता है। और हमें इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ना होगा, जो आज बेहद जटिल बन गया है।

यह बात सुस्पष्ट रूप से कही जा सकती है कि कला, संस्कृति, साहित्य अपने समकालीनों की, समग्र समाज की सेवा करते हैं। परन्तु केवल कहना काफ़ी नहीं है। हम, दुर्भाग्यवश, भीड़-संस्कृति की परिघटना की अवहेलना नहीं कर सकते, जैसे कि हवा के रुख़ की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमारे पूर्ववर्तियों को भीड़-संस्कृति की इस समस्या का सामना नहीं करना पड़ा था, जो विशुद्धतया हमारे समय की उपज है। केवल बड़बड़ाना काफ़ी नहीं है। बुद्धिजीवी समुदाय का उद्देश्य, मेरी राय में, भीड़-संस्कृति के पथ और ठोस रूपों का विश्लेषण करना, उन्हें समझना, इस परिघटना के स्वरूप का अर्थ निकालना है, ताकि हम यथाशक्ति व्यक्ति की सांस्कृतिक प्रभुसत्ता का गठन कर सकें। मैं ज़ोर देकर कहता हूं: व्यक्ति की सांस्कृतिक प्रभुसत्ता।

इससे मेरा क्या अभिप्राय है, मैं यह समझाने का प्रयत्न करूंगा। ज़रा कल्पना कीजिये कि एक तूफ़ानी गति से बहती पहाड़ी नदी है और इलाज करनेवाला एक घुड़सवार उसकी ओर आ रहा है, उसे नदी पार कर दूसरे तट पर जाना है, जहां उसके रोगी उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, जहां किसी महामारी का प्रकोप है। एकमात्र आशा यह है कि वह बराबर फैलती जा रही बीमारी का इलाज कर सकेगा। परन्तु नदी गहरी है और तूफ़ानी गति से बह रही है: वह इलाज करनेवाले की जान तक ले सकती है। वह बड़े-बड़े पत्थर उठाता है और नदी में फेंकना शुरू कर देता है, सुनता जाता है कि वे कैसे नदी के तल में गिरते हैं। इस तरह वह यह निश्चित करता है कि ख़तरा कहां सबसे कम है और कहां उसका घोड़ा आसानी से नदी पार कर सकता है।

अपने गन्तव्य स्थान में पहुंचने पर वह सहायता के लिए उसकी

प्रतीक्षा कर रहे लोगों से कहता है कि उसने पानी पर जादू कर दिया, उसे रोक दिया, ताकि दूसरे तट पर पहुंच सके, और इसकी बदौलत उसने तूफ़ानी धारा पर विजय पायी। स्वभावत:, व्यक्ति के रूप में, उस ज़माने के पैमाने के अनुसार डाक्टरी कला में दक्षताप्राप्त मनुष्य के रूप में उसे यह कहने का नैतिक अधिकार था, ताकि उनकी नज़रों में अपनी व्यावसायिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके।

अब दूसरा मनुष्य, दूसरे लोग नदी को पार करते हुए उसी तट की ओर जा रहे हैं और पूरी की पूरी आधुनिक टेक्नालाजी उनका अनुसरण कर रही है। उन्होंने नदी पर पुल बनाया है और एक बिजलीघर खड़ा कर दिया है। मनुष्य की शक्ति अपरिमित रूप से बढ़ी है, उसकी तो किसी से भी तुलना करना तक कठिन है। एक ने कठिनाई से नदी पार की, दूसरे ने वेगवती पर्वतीय जलधारा को वश में किया और वह उसकी ऊर्जा का उपयोग करता है, ताकि बिजली, रोशनी पा सके। पहले के बारे में तो दंतकथा है, परन्तु उसके बाद आनेवालों—बुलडोज़र चालकों, इंजीनियरों, निर्माताओं—को याद नहीं किया जाता, व्यक्ति के रूप में उनमें किसी की दिलचस्पी नहीं है।

यह मिसाल, यह तुलना मुझे एक दुखद निष्कर्ष की ओर ले जाती है। बुलडोज़र चालक को हम किसी बिजलीघर के नामहीन निर्माता मात्र के रूप में देखते हैं, यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि आज मनुष्य हमारे ध्यान से उतर गया है, हम समूह के बारे में ज़्यादा, व्यक्तियों के बारे में कम बात करते हैं। इसलिए मैं व्यक्ति की प्रभुसत्ता बहाल करने का आह्वान करता हूं, जिसे, मैं यह अनुभव करता हूं, चिन्तन और आचरण के भीड़मूलक रूपों से अन्तर्ध्वस्त किया जा रहा है—कभी-कभी जानबूझकर। इस प्रभुसत्ता की बहाली कैसे की जाये? मेरे पास कोई तैयारशुदा नुस्खे नहीं हैं, परन्तु मैं इस बात का क़ायल हूं कि सार्विक एकीकरण की राह में अवरोधक के रूप में अतीत की परम्पराओं को, मानव-आत्मा के सच्चे मूल्यों को जातीय विशिष्टताओं तथा संस्कृतियों के मौलिक गुणों समेत संरक्षित रखा जाना चाहिए।

ये समस्याएं, जैसा कि मैं देखता हूं, हर समाज के सामने होती हैं, उसकी सामाजिक नींवें चाहे कुछ भी हों।

यह सोचना भोलापन होगा कि आबादी के एक भाग पर तो भीड़-संस्कृति का विनाशकारी प्रभाव पड़ रहा है, जबकि दूसरा भाग उसकी छूत से बचने के लिए अपने अन्दर मज़बूत दीवाल तैयार कर

लेता है। यह दूसरी बात है कि हमारी समाजवादी जीवन-शैली के लाभ हमें व्यक्ति की सांस्कृतिक प्रभुसत्ता की अधिक कारगर ढंग से रक्षा करने में समर्थ बनाते हैं। परन्तु हमें यह सीखना होगा कि इन लाभों का किस तरह उपयोग किया जाना चाहिए।

सांस्कृतिक परम्पराओं की रचना सदैव बहुत जटिल प्रक्रिया हुआ करती है। अतीत पर नज़र दौड़ाने पर हम देखते हैं कि आबादी की विशाल बहुसंख्या निरक्षर, अल्पविकसित थी और यह चीज़ उन्हें सांस्कृतिक मूल्यों से, साहित्य तथा कला के मूल्यों से दूर रखती थी। आज, भले ही यह विरोधाभासपूर्ण प्रतीत हो, हम एक और तरह की जटिलता देख रहे हैं। निरक्षर लोग तो आज भी हैं, परन्तु निरक्षर जनसाधारण नहीं हैं, पिछड़े हुए, अज्ञानग्रस्त लोग नहीं हैं—टीवी, रेडियो और फ़िल्मों की सब तक पहुंच है। परन्तु इस तथ्य से बचने का कोई रास्ता नहीं है कि जनसंचार, जन सूचना के ये ही साधन चिन्तन का मानकीकरण करने, संस्कृति का मानकीकरण करने, व्यक्ति का मानकीकरण करने में मदद देते हैं। यह और बात है, जब टीवी प्रोग्राम एक अरब लोगों को मानसिक तथा आत्मिक रूप से एक ही ऐतिहासिक स्थिति में ऐक्यबद्ध करता है तथा उनमें उदात्त और मानवीय विचारों का समावेश करता है। यह शानदार चीज़ है। परन्तु वही कार्यक्रम जब हरेक पर एक ही सांगीतिक लय थोपता है, और एक ही तरह के बुतों की रचना करता है, तो यह विपदा है, क्योंकि इस प्रक्रिया में व्यक्ति सतही ढंग से, एक ऐसे सुर की भांति शामिल होता है, जो आज लोकप्रिय है और जिसे कल भुला दिया जाता है। तब बौद्धिक शक्ति और समय दोनों बर्बाद होते हैं और नतीजा कुछ नहीं निकलता। हम इस बाढ़ को, भीड़-संस्कृति के इस धावे को रोकने में सदा सफल नहीं हो पाते।

इसका केवल एक चीज़ से मुक़ाबला किया जा सकता है। वह है सच्ची कलात्मकता। विद्यमान परिस्थितियों में मुख्य कार्यभारों में से एक, मेरी राय में, यह है कि वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति के महत्व से इन्कार न करते हुए इस क़िस्म के वातावरण का, इस क़िस्म की कला का, इस क़िस्म के साहित्य का सृजन किया जाये, इस क़िस्म की संस्कृति का विकास किया जाये, जो व्यक्ति के गुणगत परिष्करण में सहायता दें। इस कार्यभार का विभिन्न स्तरों पर, विभिन्न विधियों द्वारा, विभिन्न शक्तियों द्वारा समाधान किया जा सकता है, परन्तु मेरे ख़्याल से, लक्ष्य सदैव एक ही होना चाहिए। इसलिए कि ख़तरा केवल पारिस्थितिकीय

असन्तुलन के भंग होने में ही नहीं है, जब हम स्वयं देखते हैं कि अगर हम प्रकृति के पर्यावरण को हानि पहुंचाते हैं, तो ऐसी क्षति होती है, जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती। इसे हरेक समझ सकता है। परन्तु हम सदा यह अनुभव नहीं करते कि टेक्नालाजी का असंयत तथा अंधाधुंध विकास व्यक्ति और संस्कृति को कितना नुक़सान पहुंचाता है।

दोस्तोयेव्स्की पहले ही यह समझने का प्रयास कर चुके थे कि क्या सौन्दर्य संसार की रक्षा कर सकता है। स्वभावतः, सौन्दर्य का अर्थ स्वयं सौन्दर्य से कहीं अधिक है। वह मानवजाति की आत्मिक अवस्था का पूरा समुच्चय है। यदि बात को यथार्थवादी दृष्टि से देखा जाये, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दोस्तोयेव्स्की अधिक शान्तिपूर्ण काल में रहे, जब मानव-अस्तित्व के लिए सार्विक और भूमंडलीय ख़तरा नहीं था। फिर भी उन्होंने अपने सहज-ज्ञान के ज़रिये भावी चिन्ताओं को अनुभव कर लिया था और अपना भविष्यवाणीभरा विचार प्रस्तुत कर दिया था।

आधुनिक मनुष्य के जीवन में साहित्य तथा कला की भूमिका का प्रश्न आज विशेष रूप से तीक्ष्ण बन गया है। बहुत-सारे प्रलोभन भीड़-संस्कृति के "लाभों" से उत्पन्न होते हैं, जो मनुष्य और मानवजाति को वास्तविकता की ओर से विमुख कर देती है। खेलकूद भी एक प्रासंगिक विषय है। मैं खेलकूद का विरोधी नहीं हूं, परन्तु जब वह बुतपरस्ती का विषय बन जाता है, तो व्यक्ति के आत्मिक जगत को नुक़सान पहुंचाता है। यही बात अन्य जनव्यापी परिदृश्यों पर लागू होती है। वे मनुष्य का ध्यान दूसरी ओर हटाते हैं, उसे अपने और अपने युग को गम्भीरतापूर्वक और बुनियादी ढंग से समझने की सम्भावना से वंचित करते हैं। अगर मनुष्य समय की चुनौती का सामना नहीं करता, अगर वह विचारों, आत्मा तथा मन के अन्दर चल रही प्रक्रियाओं में गहराई तक पैठने की सम्भावना से वंचित हो जाता है, तो नकारात्मक शक्तियों का, उन्हीं शक्तियों का, जो आधुनिक समाज में भय तथा ख़तरे का समावेश करती हैं, पलड़ा भारी हो जायेगा, उन्हें लोगों के मन और हृदय पर प्रभाव डालने का अधिक व्यापक क्षेत्र प्राप्त हो जायेगा।

इन सब बातों के कारण मैं यह कहना चाहता हूं कि दोस्तोयेव्स्की का यह विचार कि सौन्दर्य संसार की रक्षा करेगा, आज भी सच और प्रासंगिक है। निस्सन्देह, हम एक सर्वथा भिन्न युग में रहते हैं और इस विचार की अधिक संजटिल अर्थों में व्याख्या की जानी चाहिए।

अन्त में मैं लेखक के रूप में अपने अनुभव के आधार पर यह कहना चाहता हूं कि व्यक्ति, मेरी राय में, अब भी आधुनिक साहित्यकारों के सृजन-कार्य का मुख्य विषय बना हुआ है। यह दूसरी बात है कि व्यक्ति के बारे में बात करते हुए और उसके ज़रिये लेखक सब लोगों से बात करने का प्रयास करता है। यदि वह सच्चा लेखक है, तो वह पूरी मानवजाति के जीवन में शिरकत करता है, किसी निश्चित प्रादेशिक पर्यावरण मात्र में नहीं, जिससे वह नृवंशीय और सांस्कृतिक रूप से जुड़ा होता है। समाज का जीवन ऐतिहासिक, नैतिक तथा कलात्मक कारकों का अतीव जटिल अन्तर्गुंथन है। इसलिए लोगों को उन बातों के बारे में बताना आवश्यक है, जो हमारी चेतना के कक्ष के अन्दर होती हैं। अक्तूबर क्रान्ति की विजय, फ़ासिज़्म पर विजय, अन्तरिक्ष में पहली उड़ान—लेखक को इन सबकी अनुभूति होनी चाहिए, इन सबका चित्रण करना चाहिए, क्योंकि हमारे बाद कोई भी आज के यथार्थ को हमारे समकालीन लेखक से अधिक तीक्ष्णतापूर्वक, गहनतापूर्वक चित्रित नहीं कर पायेगा। यह महत्वपूर्ण है कि समस्त बुनियादी परिवर्तनों को, जिन्होंने मानवजाति का भाग्य बदल डाला, समझ लिया जाये, उन्हें अनुभव किया जाये, वे आत्मिक जीवन का भाग बनें।

मक्सीम गोर्की ने कहा था कि लेखक को अपनी आत्मा की प्रतिध्वनि सुनने के बजाय स्वयं जगत की प्रतिध्वनि बनना चाहिए। लेखक को ठीक इसी तरह इतिहास का बोध प्राप्त करना चाहिए। केवल उसी सूरत में, जब उसकी आत्मा में पीड़ा-वेदना, मनुष्य से प्यार, मानवीयता की भावनाएं छलक रही हों, वह मानवजाति की सेवा कर सकता है। मैं इस बात का क़ायल हूं कि कला के सार तथा उद्देश्य को प्रतिबिम्बित करनेवाली अवधारणाओं को, उन अवधारणाओं को सच्चा अर्थ लौटाना आवश्यक है, जिन्हें वे समझते थे, जिनका नाम आज हमने कालजयी रखा है। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि वे साहित्य तथा कला के क्षेत्रों में हमारे बहुत-से समकालीनों की तुलना में अधिक व्यापक अर्थ में सोचा करते थे। परन्तु यह स्वीकारोक्ति हमें अपने कर्त्तव्य की पूर्ति से मुक्त नहीं करती।

मैं फिर दुहराता हूं: हमें जो कुछ करना चाहिए और ज़ो हम कर सकते हैं, वह हमारे लिए और कोई नहीं करेगा। आधुनिक संसार क्या है, हम, आज के लोग, क्या हैं, यह देखने और समझने का अर्थ अद्भुत आधुनिक संसार, वर्त्तमान तथा भविष्य का साक्षी तथा प्रेक्षक होना ही

नहीं, अपितु उनका सृजनकर्त्ता होना भी है। इसका अर्थ मानव-आत्मा के साथ सहभागिता की ऐसी अनुभूति है, जिसकी किसी भी अन्य अनुभूति से तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि निर्माण की प्रक्रिया में भाग लेने का अर्थ इस प्रक्रिया में अपना स्थान पाना है।

मुझे आज इस बात से हर्ष हो रहा है कि मैं बिरादराना देश बुल्गारिया की राजधानी में, अपने मित्रों और सहयोगियों के बीच हूं। मेरे ख़याल से, विज्ञान, कला तथा साहित्य की यूरोपीय अकादमी द्वारा सोफ़िया में आयोजित इस गोलमेज़ सभा का अत्यधिक महत्व है, क्योंकि यूरोपीय अकादमी अत्यन्त प्रतिनिधिमूलक फ़ोरम है। यदि हम इस शानदार सुअवसर का उपयोग न करते और आधुनिक संसार में आत्मा की हलचल के सर्वथा भिन्न-भिन्न पहलुओं पर मिलकर विचार न करते, तो यह पाप होता।

# मैं मनुष्य में विश्वास करता हूं*

## 'प्राव्दा' के सम्वाददाता यूरी रज़गुल्यायेव और वीक्तोर ख़ातुन्त्सेव के साथ बातचीत

**सं० :** पूरे इतिहास में लोग काल तथा नैतिकताओं, अन्त:करण तथा दंभ, भलाई और बुराई की युग-युगों पुरानी अवधारणाओं के बारे में विचार करते आये हैं। अब नौवें दशक के मध्य में हम अपने को एक तरह की उच्च नैतिक वोल्टता के विद्युत क्षेत्र में पाते हैं, जब यह ज़रूरी हो गया है कि सच और झूठ को बहुत साफ़ ढंग से विभेदित करना होगा, दूध का दूध और पानी का पानी करना पड़ेगा—बताना होगा कि क्या धन है और क्या ऋण। आपकी राय में, नैतिकता, सामाजिक न्याय तथा आत्मिकता की इन समस्याओं को कौन-सी चीज़ तीक्ष्ण बनाती है?

**चं० आ० :** इस समय हमारे समाज में हो रहे परिवर्तन। मेरे ख़याल से, तीक्ष्णता की यह अनुभूति देर-सबेर होनी ही थी। हर पीढ़ी का अपनी ही क़िस्म का भाव-विरेचन होता है—आत्म-शुद्धिकरण। लोग अस्तित्व का अपना ही अनुभव संचित करते हैं, जिसका अवबोध कभी भी आसान मसला नहीं रहा, ग़लतियों को शुद्ध करने की बात तो रही दूर। हमारा समाज आज इतिहास के इसी मोड़ पर खड़ा है। वस्तुत:, जीवन के समस्त क्षेत्रों का परिवर्तनों के साथ सामंजस्य बिठाया जा रहा है। अर्थव्यवस्था से लेकर संस्कृति तक पूरे मोर्चे पर पेरेस्त्रोइका का काम चल रहा है। यद्यपि हमें दूसरे सुधार और "रद्दो-बदल" याद हैं, पर उनके साथ जनता के व्यापक भागों के नैतिक और आचार-व्यवहार से सम्बन्धित खोजें नहीं हुई थीं और वे इतने प्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक व्यक्ति की ओर लक्षित नहीं थे। अब स्थिति भिन्न प्रतीत होती है। हुआ क्या?

इस पीढ़ी के, साधारण पीढ़ी के अनुभव ने यह दर्शाया है कि नैतिक संस्कृति तथा आत्मिक शिक्षा-दीक्षा धीमी गति से बदलती हैं। यदि यह

* 'प्राव्दा', १४ फ़रवरी १९८७।

प्रक्रिया भव्य आर्थिक कार्यभारों की पृष्ठभूमि में कुछ अदृश्य प्रतीत होती थी, तो वह धीरे-धीरे अर्थव्यवस्था समेत जीवन के तमाम पहलुओं को प्रभावित करने लगी है। आज की समस्याएं दो टूक ढंग से बताती हैं कि यह प्रभाव क्या था। नैतिक संस्कृति जनता की सबसे बड़ी पूंजी होती है। यदि वह नहीं है, तो आप उच्च चेतना की अपेक्षा नहीं कर सकते।

संसार अधिक गत्यात्मक हो गया है: हमारे लिए मन:स्थिति पर पड़नेवाले भार, विविध प्रकार की सूचनाओं के प्रवाह, तापनाभिकीय युद्ध के ख़तरे को ध्यान में रखना आवश्यक है, ये सब मनुष्य और मानवजाति पर प्रभाव डालते हैं। टेक्नालाजी के विकास के कारण टेक्नोक्रेटिक रुख़ हावी हो गया है और उसने दर्शाया है कि मानवतावादी चिन्तन अभी पर्याप्त उच्च स्तर पर नहीं है। परन्तु छोटे-बड़े, दोनों मामलों में मानवतावाद कमोबेश इस बात पर निर्भर करता है कि लोग सामुदायिकता, सामाजिक एकता, सत्य, निष्कपटता, दया की अवधारणाओं को कितना मूल्यवान मानते हैं। हमें उन नैतिक सिद्धान्तों का त्याग नहीं करना चाहिए, जो मानवजाति के आदर्शों की सिद्धि के प्ररूप की शक्ल में हमारी सामाजिक व्यवस्था की अभिलाक्षणिकता हैं। इन सिद्धान्तों में आधारभूत हैं—सचेतन श्रम, जो समाज को लाभान्वित करता है, मानवीय सम्बन्ध, लोगों में एक-दूसरे का आदर करने की भावना, ईमानदारी, सच्चाई, अन्याय के प्रति मेल-मिलापरहित रुख़। वस्तुत:, ये अन्त:करण के अभिन्न तत्त्व हैं तथा अन्त:करण नागरिक भावना की चालक शक्ति होता है।

इस सिलसिले में मैं यह कहना चाहता हूं कि "नैतिकता" की अवधारणा में नवाचारों, यही नहीं, भद्दे ढंग के राजनीतिकरण के लिए गुंजाइश नहीं है। नैतिकता मनुष्य के अस्तित्व का प्राथमिक तथा सर्वप्रमुख नियम है। हर पीढ़ी, हर व्यक्ति इसे अपने पूर्वजों से प्राप्त स्थिर तथा पुनीत धरोहर मानता है। मुख्य बात यह है कि मनुष्य तथा साधारणतया समाज छोटे-बड़े, सभी मामलों में इन मानकों का सदैव कड़ाई से पालन करते हैं।

नैतिकता, ईमानदारी, उच्च सिद्धान्त, कथनी और करनी में कड़े सामंजस्य की आवश्यकता पेरेस्त्रोइका की तथा हमारे जीवन के नाना पहलुओं के पुनरवलोकन की अवस्थाओं के अन्तर्गत आज विशेष रूप से बढ़ती जा रही है। दुर्भाग्यवश, हाल के वर्षों में कुछ लोगों

में अन्तरतम नैतिक संयतता का सर्वथा अभाव रहा, वे अपना अन्त:करण खो बैठे थे। आख़िरकार, सच्चा मानव सार तब पूर्ण रूप से प्रकट होता है, जब व्यक्ति अपने अन्त:करण के अनुसार जीता है, उसके कार्य केवल उसके अन्त:करण, उसके आन्तरिक, प्रमुख तथा अमोघ न्यायकर्त्ता से उत्प्रेरित होते हैं। अपने अन्त:करण के अनुसार कार्य करना सदा सुगम सिद्ध नहीं होता, परन्तु ठीक अन्त:करण की प्रतिष्ठा समाज को उदात्त आदर्श और सपने प्रदान करती है और नैतिकता के शाश्वत सिद्धान्तों को पूर्णतया शुद्ध रखने में सहायता देती है। परन्तु, दुर्भाग्यवश, आदर्श से भटकाव, बहुत गम्भीर भटकाव तक अपरिहार्य होते हैं। यदि हम अन्त:करण और दोमुंहेपन के बारे में, अर्थव्यवस्था, प्रबन्ध तथा न्यायिक विभागों में सीधी-सीधी धोखाधड़ी के बारे में खुलकर बोलने लग गये हैं, तो क्या यह संजीदे ढंग से विचार करने का कारण नहीं है?

**सं० :** 'प्राव्दा' को चिट्ठियों में पाठक यह नियमसंगत प्रश्न करते हैं: हम तब क्यों चुप रहे, जब हम देख रहे थे और समझ रहे थे कि क्या हो रहा है?

**चं० आ० :** जब आप "हम" कहते हैं, तो तात्पर्य क्या लेखकों से है?

**सं० :** जी नहीं, "हम" का अर्थ हम है...

**चं० आ० :** ठीक है, चलिए, उसी प्रसंग के चौखटे में बातचीत जारी रखें।...

भलाई और बुराई की मुक़ाबलेबाज़ी कभी शान्तिपूर्ण नहीं होती, वे आपस में सतत रूप से संघर्ष करती रहती हैं। साधारण दैनंदिन जीवन में यह मुक़ाबलेबाज़ी बहुधा आम, भद्दे समझौते में व्यक्त होती है: चोर को हल्के शब्दों में माल पर हाथ साफ़ करनेवाला और निपट मूर्ख को इस या उस मामले में अयोग्य कहा जाता है। बहुतों के साथ समझौते करना मुनासिब होता है: उनके साथ, जिनके अन्त:करण स्पष्ट नहीं हैं, और उनके साथ, जो ईमानदार हैं, परन्तु ख़ामोश ज़िन्दगी की तलाश करते हैं। अधूरा सत्य, अधूरी कार्रवाइयां, आंशिक दंड "लाभप्रद" बन जाते हैं। नैतिकता कभी-कभी बुराई के साथ सुविधाजनक सह-अस्तित्व के अनुकूल ढाली जाती है, याने नैतिक रूप से स्वीकार्य पाप की सीमा बढ़ायी जाती है। तो, लोग दरअसल देख रहे और समझ रहे थे कि क्या हो रहा है, परन्तु उनमें से सब नहीं लड़

सके। मैं यह लक्षित करना चाहता हूं: जीवन-स्तर में सुधार के साथ बहुत-से लोग कमियों के प्रति अपनी असहिष्णुता खो बैठते हैं, मैं तो कहूंगा, अपनी क्रान्तिकारी भावना खो बैठते हैं।

परन्तु आइये, बेलाग ढंग से बात की जाये: आज भी "अस्तित्व के साधन" के रूप में समझौता लुप्त होने से कोसों दूर है। हम हाल के ज़माने की बहुत-सी बातें स्पष्ट नहीं करते, जिसका अर्थ यह है कि हम कोई सबक़ नहीं सीखते, अगर इस बार भी हम सदा-सर्वदा के लिए इस बात का हिसाब न कर लें कि हम क्यों अपने को नियंत्रण में नहीं रख सकते। कभी-कभी व्यक्ति समझता है कि उसे यह नहीं करना चाहिए, फिर भी वह करता है, अपने अन्त:करण की आवाज़ न सुनने का प्रयत्न करता है, अपने को धोखा देता है। यह चीज़ सबसे अधिक विनाशकारी है—व्यक्ति का पतन हो जाता है, मनुष्य पूरे जीवन के लिए बर्बाद हो जाता है। खेद है कि हम यह बात हमेशा याद नहीं रखते।

और एक दूसरा प्रश्न है: छोटी या बड़ी सत्ता कैसे इस तरह के लोगों के हाथों में पहुंच जाती है, जिनका उस पर कोई नैतिक अधिकार नहीं होता? किसी कार्यकर्त्ता की पदोन्नति के लिए, नियमत:, उसमें कौन-से गुण होने चाहिए? क्या उसे व्यावहारिक, परिश्रमी, कड़ी अपेक्षाएं करने-वाला, नैतिक दृष्टि से सुदृढ़ होना चाहिए? जी हां। परन्तु उसकी नैतिक आस्था क्या है, क्या वह हमारे समाज के उच्च नैतिक ध्येयों के अनुरूप है, ईमानदार और न्यायप्रिय है? प्रबन्धकीय कार्ययंत्र के लिए इन वैयक्तिक गुणों को, दुर्भाग्यवश, बहुधा आनुषंगिक माना जाता है। इसी कारण हम प्रबन्धकीय अपराधों—भ्रष्टाचार, रिश्वतख़ोरी, आंखों में धूल झोंकनेवाली रिपोर्टों, संरक्षण, पारस्परिक स्वार्थ-सिद्धि—के बारे में बराबर सुनते रहते हैं। अन्त:करणरहित मनुष्य सर्वाधिक परिष्कृत ढंग की समाजविरोधी कार्रवाइयां करने में सक्षम होता है।

और यदि सामाजिक दबाव की ग्लासनोस्त, आलोचना, नियंत्रण, अनिवार्य रूप से दंड जैसी शक्तियों की कमी हो, तो? तब हालात सचमुच ख़राब होते हैं। अब हम लेखकों समेत पूरे समाज को अपने जीवन का वातावरण सुधारने के लिए और भी ज़्यादा जोश से काम करना चाहिए। ये प्रयास हममें से हरेक के ठोस कार्यों में दृष्टिगोचर होने चाहिए। मनुष्य के उच्च नैतिक गुण सीधे-सीधे इस बात पर निर्भर करते हैं कि वह कितना सुव्यवस्थित है और श्रम से उसका कितना

लगाव है। यह देखना भी महत्वपूर्ण है कि निर्मल हवा हमारे बहुत-से काईभरे कोनों में से जालों को झाड़-बुहार ले जाये।

**सं०:** निस्सन्देह, अपने समाज में पेरेस्त्रोइका सम्पन्न करने के लिए हमें जिस पहली चीज़ की आवश्यकता है, वह है विचारधारात्मक तथा शैक्षणिक कार्रवाइयों को बढ़ावा देना, जैसा पार्टी के दस्तावेज़ों में बताया गया है। परन्तु समस्या यह है कि विचारधारात्मक तथा नैतिक शिक्षा-दीक्षा के बहुत-से परम्परागत रूप और विधियां आज की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते। संक्षेप में, हम अब भी लोगों की चेतना तक पहुंचने में सदा सफल नहीं रहते। ऐसा क्यों?

**चं० आ०:** मनुष्य की शिक्षा-दीक्षा हर व्यक्ति के साथ किया जानेवाला काम है। आरम्भ में व्यक्ति को रूपायित करना आवश्यक है! और इस काम को किसी "औसत प्रति व्यक्ति आंकड़े" से नहीं मापा जा सकता। सिद्धान्ततः, हर व्यक्ति इस या उस आस्था तक पहुंचता है, परन्तु तत्काल नहीं, अपितु वर्षों के व्यावहारिक अनुभव और परिवेश की सामाजिक मनोदशा के माध्यम से। परन्तु इस आन्तरिक विकास का परिणाम सदैव हमारे विश्वदृष्टिकोण के पक्ष में नहीं हुआ करता। नैतिकता के मानकों से भटकाव, नियमतः, ठोस कार्रवाइयों और छोटे-मोटे अपराधों में प्रकट होते हैं। परन्तु यह पहले ही कार्रवाई बन चुकी होती है। यदि हम और गहराई में झांकें, तो हम देखेंगे कि, शायद, सबसे भयावह बात विचारधारात्मक दृष्टि से दुरंगी चाल, नैतिक सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर सामाजिक लाभों और सामाजिक हैसियत की प्राप्ति है।

क्या वजह है कि एक जैसी परिस्थितियों में एक व्यक्ति सदाचारी होता है और दूसरा कुकृत्य करने में सक्षम। मैं मनोविज्ञान की बात नहीं करूंगा, यह स्पष्ट है कि विचारधारात्मक और नैतिक शिक्षा के क्षेत्र में हमें आम नारों, समरूप रवैयों को, व्यवहार और आधुनिक आवश्यकता से असम्बद्ध सिद्धान्त झाड़ने की प्रवृत्ति को बहुत पहले त्याग देना चाहिए। अक्सर शुभारम्भ औपचारिक कार्रवाई बनकर रह जाता है। इस तरह ऐसे पदाधिकारी पैदा होते हैं, जो जीवन्त विचार को मृत जड़सूत्र में बदल डालते हैं।

यह सच है कि जड़सूत्रवाद किसी भी प्रणाली और किसी भी विचार का अनुसरण कर सकता है। ऐसा एक भी विचार नहीं है, जिसकी जड़सूत्रवाद से अछूते रहने की गारंटी की जा सके। जड़सूत्रवाद

के पीछे क्या है? इसके पीछे रूपवाद है, जो नौकरशाही पांडित्य-प्रदर्शन, नीरस उपदेश को जन्म देता है। परन्तु लोगों की चेतना, विशेषकर आधुनिक चेतना प्रचार की ऐसी शैली तथा विधियों को नहीं मानती। आज हम मानव-आत्मा के प्रति नये उपागमों की तलाश अधिकाधिक करते हैं। इसमें मुख्य बात यह है कि लोग सत्य जानते हों, कि सूचना-प्राप्त समाज में ईमानदारी और निष्कपटता का प्राधान्य हों, भले ही ये आसानी से प्राप्त न हो सकती हों।

**सं० :** हमें याद है कि कोई पांच साल पहले हम लोगों के बीच हमारे कुछ नौजवानों में विदेशी चीज़ों के प्रति, पश्चिम में लोकप्रिय संगीत के प्रति मोह के बारे में बातचीत हुई थी। ...

**चं० आ० :** आपका क्या यह ख़याल है कि अब ऐसे लोगों की संख्या घट गयी है और इस तरह का मोह कम हो गया है? यह तो समझ में आनेवाली बात है: आख़िर, अपनी इस दुनिया में हम अकेले तो नहीं रहते। यहां मैं एक और समस्या देखता हूं। लम्बे अर्से तक हम अपनी समाजवादी श्रेष्ठताओं की बढ़-चढ़कर बात करते रहे, उपलब्धियों की डींग हांकते रहे, चाहे वे श्रेय के पात्र रही हों या न रही हों। एक से ज़्यादा नयी पीढ़ी इस बात की आदी हो चुकी थी। परन्तु दुनिया तो अब वह नहीं रह गयी है, जो वह हुआ करती थी, इसका अर्थ यह है कि हमें एक-दूसरे के मुक़ाबले में खड़ी सभ्यताओं के परस्पर सम्बन्ध और परस्पर निर्भरता की अपनी समझ के मामले में अधिक सुनम्य होना पड़ेगा। आख़िर, हमें उत्पादन और टेक्नालाजी में, ख़ास तौर पर सेवा उद्योग में पश्चिम से कुछ सीखना होगा। युग की भावना के अनुसार तथा अपने लक्ष्यों की ख़ातिर हमारे लिए किसी तरह का ऐसा गत्यात्मक समतुल्य ढूंढ़ना महत्वपूर्ण है, जो हमारे कुछ तरुणों को इतना आकर्षित करनेवाले "पश्चिमी खिलौनों" से प्रतियोगिता कर सकें।

**सं० :** लगता है, इधर कुछ समय से लोग अब इस बात से कम चिन्तित होते हैं कि जीन्स या राक संगीत के प्रति नौजवानों के मोह का अनुसरण "विजातीय" भावनाएं करेंगी। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि विचारधारात्मक संघर्ष चल रहा है और जारी रहेगा। लोगों के एक ख़ास प्रवर्ग के मन में यह सन्देह है: अपनी त्रुटियों के बारे में, ख़ास तौर पर तरुणों के सम्बन्ध में इतने खुले ढंग से बातचीत कर क्या हम अपने पर ही तो चोट नहीं कर रहे हैं?

**चं० आ० :** लेनिन ने ग्लासनोस्त (खुलापन) को ऐसी तलवार

बताया था, जो घाव का इलाज करती है। यह सच है। अतीत से सीखे गये सबक़ आज ग़लतियों को दूर करने, आनेवाले कल के अंकुरों तथा लक्षणों को अधिक स्पष्ट रूप से देखने का साधन हैं। हम इधर सब बातों के बारे में बिना किसी लाग-लपेट के बातें करने लग गये हैं। यह तरुणों को अपना रास्ता चुनने में मदद देता है। परन्तु हर पीढ़ी के अपने कार्यभार होते हैं, जनता के साथ, उसके इतिहास के साथ अपने सम्बन्धों की उसकी अपनी ही समझ होती है। हमें इस बात पर क्यों नाराज़ होना चाहिए कि तरुण स्वयं सच्चाई की तह तक पहुंचना चाहते हैं, घिसे-पिटे सांचे तोड़ना चाहते हैं, जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण व्यक्त करना चाहते हैं? यह तरुणों के रूप में उनका अधिकार, हृदय की सबसे आरम्भिक सामाजिक अभिव्यक्ति है। सब तरुणों को एक जैसा बनाकर, एक ही सांचे में ढालकर हम अपने बच्चों में, अगली पीढ़ी में सतही आज्ञाकारिता विकसित करते हैं, जो कभी-कभी नियमोल्लंघन का रूप धारण कर लेती है। जब हमारा सरोकार पश्चिमी हवा के झोंकों के प्रति तरुणों में किसी विशेष मोह से होता है, तो हमें सुनम्य बनना पड़ेगा। साथ ही हमें उसका रास्ता रोकना पड़ेगा, जो स्पष्टत: ख़तरनाक या बुरा होता है। मादक द्रव्यों का व्यसन ख़ास तौर पर असहनीय बुराई है।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि पश्चिम में पैदा होनेवाली कोई भी बुराई हमारे लिए एक चेतावनी और सबक़ बननी चाहिए। मैं, उदाहरण के लिए, बेरोज़गारी की दृढ़तापूर्वक भर्त्सना करता हूं, जिससे पश्चिम में इतने अधिक लोग दुख-कष्ट भोग रहे हैं। हमारे यहां बेरोज़गारी नहीं है, हरेक काम करता प्रतीत होता है। परन्तु जब आप इधर-उधर नज़र दौड़ाते हैं, तो आप देखते हैं: एक परिश्रमी और एक लोफ़र कारख़ाने के एक ही ख़ाते में अग़ल-बग़ल में हैं, एक ही ड्योढ़ी में साथ-साथ बैठे हैं, एक जैसे फ़्लैटों में रहते हैं।... नहीं, मैं इसे माफ़ नहीं कर सकता। क्या समाजवादी समाज में समानता और मानवीयता को इसी तरह प्रकट होना चाहिए? हम अन्त:करण तथा पुनर्शिक्षा-दीक्षा पर कब तक निर्भर रहने जा रहे हैं? शायद, समय आ गया है कि लोगों को उनके श्रम और उनकी योग्यताओं के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाये और वेतन-समतलन की व्यवस्था का अन्त किया जाये।

**सं०:** हमें मिन्स्क के व० नेस्तेरोविच की एक चिट्ठी मिली, जिसमें

वह लिखते हैं कि उन्हें बोस्टोन—आपकी कृति 'बलि-वेदी' का पात्र—सचमुच पसन्द आया, जो लगन से काम करता है और अपने सब मातहतों में इसी भावना का समावेश करता है। उसने अपने मातहत काम करनेवालों में से बहुतों को अच्छा इन्सान बना दिया; उसने उन्हें काम करना और अपने काम के ज़रिये जीवन की क़द्र करना सिखाया। उसने कभी न तो उन्हें पसन्द किया और न उन्हें समझा, जो इस लक्ष्य की कामना नहीं करते। वह इस तरह के लोगों को निकम्मा मानता था, उनके प्रति वह शुष्कता और अमैत्री का भाव अपनाता था। वह जानता था कि इसी कारण बहुत-से लोग उसे पीठ पीछे गालियां दिया करते थे, उसे मक्खीचूस, कुलक कहते थे और इस बात पर अफ़सोस किया करते थे कि उसका जन्म पहले नहीं हुआ, अन्यथा उसकी हड्डियां साइबेरिया के बर्फ़ के नीचे सड़-गल रही होतीं। नियमतः, बोस्टोन गालियों का उत्तर नहीं देता था, क्योंकि उसे इसमें कोई सन्देह नहीं था कि सत्य उसके पक्ष में है, अन्यथा हो भी नहीं सकता था, वरना दुनिया उलट हो गयी होती। इस बारे में उसे उतना ही यक़ीन था, जितना इस बारे में कि सूर्य पूर्व में उदय होता है।

व० नेस्तेरोविच पूछते हैं कि बोस्टोन, बुरान्नी येदिगेई तथा बहुत-से दूसरे नायकों को ईमानदारी के पवित्र अधिकार की रक्षा के हेतु खड़े होने के लिए क्यों बाध्य होना पड़ता है?

**चं० आ०:** दुर्भाग्यवश, परिश्रम, कर्त्तव्यपरायणता, शिष्टता, ईमानदारी प्रभृति मानवीय गुण, जिनकी सदा से क़द्र होती रही है, शिक्षा-दीक्षा और चरित्र-निर्माण में प्राथमिकता से अभी तक कोसों दूर हैं। बहुत-से लोग इस बात के क़ायल हैं कि धृष्टता बरतने, चालाकी के ज़रिये सफलता प्राप्त करने, वाणिज्य या सेवा क्षेत्र में या विदेश सेवा में "आरामदेह ओहदों" पर रहकर लाभ बटोरने में कोई हर्ज नहीं है। इस तरह सामाजिक न्याय की धारणा विकृत की जाती है और व्यक्ति की असल क़ीमत आंकने की कसौटी बदल दी जाती है, हालांकि भौतिक सुख-समृद्धि को आत्मिक सम्पदा के संचय के मुक़ाबले में रखना ज़रूरी नहीं है। परन्तु हम यह देखे बिना नहीं रह सकते कि उपभोक्ता मनोवृत्तिवाले लोगों को अपने अपरिहार्य कूपमंडूकीय जुझारूपन के कारण उन्हें एक ओर धकेलने में कोई आपत्ति नहीं होती, जो नैतिक आदर्शों की ओर प्रवृत्त होते हैं और आत्मिक परिष्करण की खोज करते हैं। यह मुक़ाबलेबाजी कभी-कभी तीक्ष्ण रूप धारण कर लेती है।

**सं० :** इसका प्रतिकार किस तरह किया जा सकता है? आपको स्मरण है, कैसे २५ वर्ष पहले, जब शेकेर गांव की एक महिला के साथ दुर्व्यवहार हुआ था, आपके लिए सार्वजनिक रूप से उसकी पैरवी में यह कहना सरल नहीं रहा था: ग्रामबंधुओ, यह आपका दोष है! आज नागरिक स्थिति को आप किस तरह देखते हैं?

**चं० आ० :** मेरे ख़याल से, शब्द अपनी बात ख़ुद ही कह देते हैं। वे एक सक्रिय तथा सिद्धान्तनिष्ठ स्थिति के द्योतक हैं। आज नागरिक स्थिति का प्रथमतया अर्थ पेरेस्त्रोइका में सक्रिय सहभागिता है। मनुष्य के स्वभाव का सबसे महत्वपूर्ण गुण व्यक्ति के रूप में आत्म-कथन की इच्छा है। यदि व्यक्ति यह नहीं कर पाता अथवा भोंडी औपचारिकता सक्रिय होने की कामना को मसल डालती है, तो आशा भंग होने लगती है और सच्चा व्यक्तित्व आदेशों का पालन करनेवाले औसत व्यक्ति के आकृतिहीन नक़ाब के पीछे छुप जाता है। परन्तु वक़्त सशक्त व्यक्तित्वों का तक़ाज़ा करता है।

जी हां, व्यक्ति को निरन्तर दो में से एक चुनने के कार्य का सामना पड़ रहा है—उचित घड़ी का इन्तज़ार करो अथवा मैदान में कूदो और न्याय के लिए संघर्ष करो। यह सब अपने सही होने के बारे में उसके क़ायल होने पर, उसके चरित्र पर तथा दूसरों के लिए उसके मन में करुणा की भावना पर निर्भर करता है। जीवन हममें से हरेक के सामने अपनी आस्थाओं की रक्षा करने का मौक़ा देता है। आज के हालात में यह विशेष रूप से आवश्यक है: नैतिक शुद्धिकरण को बढ़ावा देना, नैतिक सिद्धान्तों की अभिपुष्टि करना, मतों और विचारों की मुक्त प्रतियोगिता का हुनर, वाद-विवाद का हुनर सीखना। आख़िर, बहुत-सी नकारात्मक परिघटनाओं को भ्रूणावस्था में ही देखा जा सकता है और देखा जाना चाहिए और इसका अर्थ यह है कि उन्हें बढ़ने से पहले ही रोक दिया जाना चाहिए, इधर-उधर नहीं बढ़ने देना चाहिए।

हमारे जीवन, व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्ध के जनवादीकरण की ओर उन्मुखता हमारे विकास का एक तात्कालिक तथा बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। और एक बार फिर कह दूं, इस प्रक्रिया का सरलीकरण अथवा उसकी रफ़्तार में वृद्धि—यह कार्य, मेरी राय में, किसी भी सूरत में नहीं किया जाना चाहिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हमें सीखना चाहिए कि जनवाद और ग्लासनोस्त की परिस्थितियों में किस तरह रहा जाता है। हमारे हितों में मेल होना

चाहिए, तब ईमानदार आदमी देखेगा कि उसकी स्थिति ध्येय के लिए महत्वपूर्ण है, कि वह कार्ययंत्र का पेंच मात्र नहीं है, अपितु एक स्वतंत्र तथा बड़े राज्य का पूर्णाधिकारप्राप्त नागरिक है।

सामाजिक संस्थानों को भी बदलना होगा, मनुष्य तथा उसकी आवश्यकताओं की ओर मुड़ना होगा। यहां बहुत कुछ नेताओं पर, इस बात पर निर्भर करता है कि वे समय के कार्यभारों को किस तरह समझते हैं।

**सं० :** क़िर्ग़िज़िया की कम्युनिस्ट पार्टी की एक वर्ष पहले हुई १८वीं कांग्रेस की सामग्री पढ़ने पर यह देखे बिना नहीं रहा जा सकता कि जनतंत्र में बीते ज़माने में कर्मियों की पदोन्नति कैसे होती थी। बहुत-से लोग व्यक्तिगत वफ़ादारी, सगे-सम्बन्धी होने, ग्रामबन्धु होने के आधार पर चुने जाते थे। कर्मियों से सम्बन्धित प्रश्न निजी तौर पर तय होते थे, ताबेदारी और षड्यंत्रों को बढ़ावा दिया जाता था।... आपकी राय में, किस तरह ऐसे लोगों को नेतृत्व की बागडोर सम्भालने से रोका जा सकता है, जिनके बारे में पहले से ज्ञात होता है कि वे औसत क़िस्म के हैं, जो अपनी क़ीमत करनी के ज़रिये नहीं, वरन अपने से ऊपरवालों की चापलूसी के ज़रिये प्रदर्शित करते हैं ?

**चं० आ० :** ऐसे लोगों को, जो बुद्धिमान, मेधावी, प्रतिभाशाली हों, दूसरे के हितों को अपने हितों के ऊपर रखते हों, नेतृत्वकारी पदों की ओर बढ़ाने पर कौन आपत्ति कर सकता है? स्वभावत:, निर्देशों का पालन करने के लिए अनुशासनप्रियता आवश्यक है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वे आंखों पर पट्टी बांधकर आज्ञा का पालन करें। इसके विपरीत, नेतृत्वकारी पद पर आसीन व्यक्ति को स्वतंत्र चिन्तक, किसी भी तरह के सम्बन्ध-सूत्रों तथा संरक्षण से स्वतंत्र, अपनी राय पर ड़टे रहने और जोखिम मोल लेने में सक्षम होना चाहिए। ठीक ऐसे ही लोगों की तलाश की जानी चाहिए, उन्हें प्रशिक्षित और आगे बढ़ाया जाना चाहिए। इस प्रक्रिया में और अधिक ग्लासनोस्त तथा जनता के साथ अधिक सलाह-मशविरा आवश्यक है।

मुझे इस बात से प्रसन्नता होती है कि मेहनतकशों द्वारा अपने प्रबन्धक स्वयं चुने जाने के बारे में अख़बारों में अधिकाधिक लेख प्रकाशित हो रहे हैं। टोली नेता तथा खाता फ़ोरमैन के काम के लिए प्रतियोगिताओं की रिपोर्टें पढ़कर मुझे प्रसन्नता होती है। यह और ज़्यादा होना चाहिए! ऊपर से लेकर नीचे तक पूरी सामाजिक संरचना में ऐसे

जनवादी रूप व्याप्त होने चाहिए। अन्यथा होता यह है कि ज़िला अधिकारी सामूहिक फ़ार्म में नया चैयरमैन लाते हैं और कहते हैं: "इसे वोट दीजिये।" परन्तु यह व्यक्ति कौन है, क्या वह लोगों के साथ काम कर सकता है? कोई नहीं जानता।

यदि ईमानदारी से बात की जाये, तो हमें सीधे मान लेना चाहिए कि हमने स्तालिन की व्यक्ति-पूजा का प्रभाव पूरी तरह नहीं मिटाया है, जो अब भी हमारे अन्दर, काम की हमारी शैली में, हमारे सम्बन्धों में गहराई तक मौजूद है।

हाल की अवधि ने यह दिखाया है कि शिक्षा-दीक्षा और नेतृत्व की शैली में त्रुटियों, व्यक्ति-पूजा के पुनर्जन्म के प्रति समझौतापूर्ण रुख़ पुरानी नकारात्मक परिघटनाओं को फिर से पैदा करने के अलावा और कुछ नहीं करता। अब हम समाज के नेता की चर्चा करते समय कम से कम उन आवश्यक तड़कीली-भड़कीली उपाधियों को गिनाने से अपने को मुक्त कर चुके हैं। पहले किसी व्यक्ति के लोगों के समक्ष आने पर सबसे पहले उसे प्राप्त सारी की सारी उपाधियों तथा पुरस्कारों के नाम गिना दिये जाते थे। आज हमें कम से कम इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि हमें किसकी, कैसे, कितनी प्रशस्ति करनी चाहिए। परन्तु इस मामले में भी सब कुछ ठीक-ठाक नहीं है।

कहने का मतलब यह है कि व्यक्ति-पूजा के अवशेष हमारी "कठिन समस्याओं" में से एक है और हालांकि हम इस तरह पेश आते हैं कि मानो यह समस्या विद्यमान नहीं है, वास्तविकता यह है कि वह विद्यमान है और समय-समय पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। यह आठवें दशक तथा नौवें दशक के आरम्भ के साहित्य तथा कला के क्षेत्रों में ख़ास तौर पर नज़र आता है।

**सं० :** जब हम जनवादीकरण की बात करते हैं, तो हम उन्हें ध्यान में रखे बिना नहीं रह सकते, जो इस बात का इन्तज़ार कर रहे हैं कि पेरेस्त्रोइका अपनी मौत मर जाये और स्वयं जीवन हमें अर्थव्यवस्था और सामाजिक सम्बन्धों, दोनों में जांची-परखी मनमानी शैली और विधियों की ओर लौटने के लिए बाध्य करे। आपको इतने वर्षों का अनुभव है और आपने बहुत चिन्तन किया है... इस बारे में आपको क्या कहना है?

**चं० आ० :** जो लोग अतीत के लिए लालायित हैं, वे ही हमारे समक्ष आज विद्यमान उन तीक्ष्ण समस्याओं के लिए काफ़ी हद तक दोषी हैं।

अगर यह बात मुंह पर कहे, तो वे हांफते हुए पूछेंगे: "क्या मतलब है आपका? हम यह या वह हासिल कर चुके हैं!" ये तो वे ही हैं, जो सोचते हैं कि वे आगे हैं। जब तक अर्थव्यवस्था ऊपर उठकर नये स्तर पर नहीं पहुंचेगी, तब तक उनके पास अपनी पीठ थपथपाने का कोई कारण नहीं है।

यह समय, जिसमें जीना हमारे भाग्य में लिखा हुआ है, सादा नहीं है। मैं फिर दुहराता हूं: उसके ऊपर नाभिकीय अपशकुन के बादल मंडरा रहे हैं। हम अपनी सारी आशाएं ब्रह्मांडीय पैमाने पर और साथ ही अपनी घरेलू समस्याओं तथा खोजों के अर्थ में मनुष्य पर, उसके विवेक, आत्मा तथा मानवीय सार पर केन्द्रित कर रहे हैं। जी हां, हमारा समाज युगान्तरकारी मोड़ पर है, क्रान्तिकारी अवधि से गुज़र रहा है। ग्लासनोस्त की छुरी को बहुत-कुछ काटना-छांटना है। नैतिक समस्याओं पर इस बात का असर पड़ा है कि उनके बारे में इतने लम्बे समय से कोई नहीं बोला, यही नहीं, कुछ नकारात्मक परिघटनाओं को तो बढ़ावा तक दिया गया। यही कारण है कि विचारधारा को बुनियादी पुनर्गठन की आवश्यकता है।

इस बीच भ्रामक आशावाद पोसने का कोई कारण नहीं है, जब कुछ लोग झटपट यह दावा भी करने लगे हैं कि ये पहले पग, वस्तुत:, बहुत बड़ी अग्रगति हैं। निराशावादी होना भी ठीक नहीं है। मेरा विश्वास है कि मनुष्य की आत्मिक शक्ति, कठिनाइयों पर क़ाबू पाने में हमारा विराट तथा चहुंमुखी अनुभव, जनता की नैतिक भावना, उसकी आत्म-चेतना समय तथा हमारे देश के जीवन में गुणगत दृष्टि से नयी अन्तर्वस्तु का समावेश करेंगे। हमें २१वीं शताब्दी में पुनर्नवीकृत तथा गतिशील समाज के रूप में प्रवेश करना चाहिए, जिसकी मुख्य सम्पदा तथा आशा मनुष्य है! उच्च नैतिकता से सम्पन्न मनुष्य!

२

# मैं अपना शीश नवाता हूं।
# सोवियत तथा विश्व संस्कृतियों की हस्तियां

# अन्तःकरण का पथ-प्रदर्शक *

सम्पूर्ण इतिहास में सदैव ऐसी शक्तियां रही हैं, जो लोगों के मन में यह विचार भरती रही हैं कि संसार क्षणभंगुर है, मनुष्य नगण्य है, एकाकी है, नियति के समक्ष, इतिहास के समक्ष असहाय है। उससे कहा जाता है: "तू तो धूल का वह कणमात्र है, जिसे काल के झोंके ने अनस्तित्व में पहुंचा दिया है: जीवन नश्वर है, जीवन कुछ भी नहीं है।" उससे कहा जाता है: "क्यों न्याय की तलाश करता है, क्यों अन्तःकरण का आह्वान करता है, क्रान्तिकारी टकरावों की क्या आवश्यकता है, बुराई का विरोध क्यों करता है: बुराई तो लोगों के संसार में शाश्वत है।"

इन सब बातों की अवज्ञा करते हुए, विकास की ज़बर्दस्त जटिलता पर क़ाबू पाते हुए, विद्रोहों के बीच से, युद्धों तथा क्रान्तियों के बीच से गुज़रते हुए सम्पूर्ण इतिहास में मनुष्य आत्म-स्थापन के लिए लड़ता रहा है। जीवन के हेतु, पृथ्वी पर अपने अमर ध्येय की प्रतिष्ठापना के हेतु मनुष्य श्रम, विज्ञान, संस्कृति तथा सामाजिक प्रगति के अभूतपूर्व शिखरों पर पहुंचा है। साथ ही मनुष्य ने अपना आत्मिक सार, मानवानुभूतियों के अनन्त जगत, सौन्दर्य, उदात्तता के विषय में अपने आदर्श प्रतिबिम्बित करते हुए और सृजनकर्त्ता के रूप में अपने को स्वयं अपनी आंखों में प्रतिष्ठापित करते हुए कला की रचना की, धरती पर उन महान कलाकारों को जन्म दिया, जिनके नामों पर वह अधिकारपूर्वक गर्व कर सकता है।

विलियम शेक्सपियर विश्वव्यापी परिघटना हैं और उनकी जयन्ती ब्रिटेन के प्रमुख नाटककार की कीर्ति के प्रति श्रद्धांजलि मात्र नहीं है, उससे कहीं बढ़कर है। जैसा कि मेरा विचार है, यदि हम आज यह कहें

---

* 'लितेरातूर्नी क़िर्ग़िज़स्तान', अंक २, १९६४।

लेख विलियम शेक्सपियर के जन्म की ४००वीं जयन्ती मनाने के अवसर पर बोल्शोई थियेटर में आयोजित सभा में चंगेज़ आइत्मातोव के भाषण पर आधारित है।

कि विभिन्न जातियों तथा विभिन्न कालों के अन्य मेधावी कलाकारों के साथ चिन्तक तथा कवि के रूप में शेक्सपियर आधुनिक मनुष्य का प्राणवान हाड़-मांस हैं, उसकी आत्मा का प्राणवान अंग हैं, तो इसमें कोई अतिरंजना नहीं होगी। और इसलिए मेरे विचार में, इस कथन में कोई अतिरंजना नहीं होगी कि शेक्सपियर के नाम पर हम आज मनुष्य की मेधा की शक्ति, उसकी निरन्तरता, उसके अमरत्व, उसके अन्तर्राष्ट्रीयतावादी स्वरूप की अभिपुष्टि करते हैं। शेक्सपियर के नाम पर हम आज समाज में कला के उच्चतम ध्येय की अभिपुष्टि करते हैं।

और आज हममें से प्रत्येक को यह कहने का अधिकार है: "मेरा शेक्सपियर! हमारा शेक्सपियर!"

मुझे इस मौक़े का उपयोग करते हुए शेक्सपियर के विषय में चन्द शब्द कहने की अनुमति दें। मैं अच्छी तरह समझता हूं कि कुछ नया कहना कितना कठिन है, इसलिए कि शेक्सपियर के विषय में मूलभूत अध्ययन किये जा चुके हैं। मैं केवल साधारण पाठक तथा दर्शक के दृष्टिकोण से उनके बारे में बात करूंगा।

कभी-कभी मैं अपने को यह सोचते हुए पाता हूं: आखिरकार, शेक्सपियर के ज़माने में भी तो उनके देश तथा अन्य देशों में सुविख्यात लेखक तथा कवि थे। परन्तु केवल शेक्सपियर और सेर्वान्तेस ही ज़रा भी मंद पड़े बिना हम तक पहुंच पाये, इतनी शताब्दियों के बाद भी केवल उनके ही प्रभाव की शक्ति अक्षुण्ण बनी हुई है। यह कैसे हुआ? यदि हम शेक्सपियर और उस ज़माने के उनके सहयोगियों की अपने क़ाफ़िलों के साथ भविष्य की ओर बढ़ते पथ-प्रदर्शकों के रूप में कल्पना करें, तो हम कह सकते हैं कि उन सबमें शेक्सपियर ही सबसे अधिक जीवनक्षम सिद्ध होते हैं। जिन लोगों ने उनके साथ सफ़र शुरू किया था, वे बहुत पहले ही इतिहास के मार्ग से बाहर हो गये थे। कुछ अपनी अशक्तता के कारण मर गये, दूसरे इस कारण कि वे जो माल ले जा रहे थे, उसकी कोई क़ीमत नहीं रह गयी थी, तीसरे इस कारण कि वे अपने माल से उस समय हाथ धो बैठे, जब वे क्रान्ति के तूफ़ानों में फंस गये, जब नये विचारों, नयी सामाजिक व्यवस्थाओं के युग ने उन्हें ठुकरा दिया, उनमें अपने लिए कुछ भी नया नहीं पाया। केवल शेक्सपियर का क़ाफ़िला काल के विस्तार को पार करते हुए, अक्षरशः राज्यों की सीमाओं, पर्वतों, गांवों, नदियों को लांघते हुए संसार का चक्कर काटता जा रहा है। और यह कारवां जितना आगे बढ़ता जाता है, अधिकाधिक

जनगण उसके उपहारों का उपयोग करते हैं, शेक्सपियर अधिकाधिक लोकप्रिय बनते जा रहे हैं। शेक्सपियर समस्त भाषाओं तथा बोलियों में जीवित हैं। यहां मैं शेक्सपियर के प्रति रूसी भाषा तथा संस्कृति की महती सेवा की चर्चा करना चाहूंगा। पूरब की बहुत-सी जातियां रूसी भाषा के ही माध्यम से प्राचीन लोक गाथाओं से अपनी भाषाओं में शेक्सपियर की कृतियों तक, विश्व संस्कृति की अमर कृतियों तक पहुंच सकीं। इस बारे में मैं बाद में कहूंगा, इस समय तो मैं शेक्सपियर के क़ाफ़िले के बारे में अपने विचारों का क्रम जारी रखना चाहता हूं।

और सचमुच, शेक्सपियर क्यों जीवनक्षम हैं, क्यों वह हमें, बीसवीं सदी के लोगों को वशीभूत करते हैं? इसका तुरन्त उत्तर देना काफ़ी कठिन है। पिछली चन्द शताब्दियों में शेक्सपियर की प्रतिभा, उनके दर्शन, उनकी सामाजिक समस्याओं, उनके कलात्मक बिम्बों और अन्तर्विरोधों के बारे में बहुत-से गम्भीर शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं। बहुत गहराई में पहुंचे बिना मुझे केवल सादे अर्थ में बोलना होगा। विरोधाभास प्रतीत होने के बावजूद शेक्सपियर कलाकार तथा चिन्तक के रूप में उतने ही सादे हैं, जितने कि महान। शायद, यही चीज़ उन्हें इतना लोकप्रिय तथा सबके लिए सुलभ बनाती है। मेरे विचार से हम शेक्सपियर की कृतियों की ओर इसलिए आकृष्ट नहीं होते कि उनमें हमें आज दूर अतीत, दरबारी जीवन या राजघराने की मनमोहक झांकियां देखने को मिलती हैं। शेक्सपियर के सृजन-कार्य का रहस्य, स्पष्टत:, इसमें निहित है कि कूटतर्कों के बिना उन्होंने मानव-अस्तित्व की सर्वथा आधारभूत, प्राथमिक तथा शाश्वत समस्याओं, व्यक्ति तथा समाज के अन्त:सम्बन्धों को आश्चर्यजनक कलात्मक बिम्बों के माध्यम से अभिव्यक्त किया और उनका विश्लेषण किया। याने वह कला के विषय के सबसे अधिक भावनात्मक मर्म को ढूंढ़ने में सफल रहे, क्योंकि कला का विषय प्रथमतया मनुष्य की प्रकृति का अध्ययन है।

वास्तविक मनुष्य को कैसा होना चाहिए, उसकी उदात्ततम पूर्वनियति क्या है, उसके जीवन का अर्थ क्या है— ये हैं, मेरी राय में, सादी तथा शाश्वत समस्याएं, जो शेक्सपियर को उद्विग्न करती थीं, और आज तक हमें, उनके वंशजों को अविराम रूप से उद्विग्न करती आयी हैं। जीवन के इन ऐतिहासिक प्रश्नों का उत्तर दे सकने के लिए शेक्सपियर को विराट पैमाने पर कलात्मक तथा दार्शनिक सामान्यीकरण करना पड़ा था। उन्हें मानवीय आवेगों का अनथक ज्वालामुखी बनना



15—907

पड़ा था। इन सादे प्रश्नों का उत्तर दे सकने के लिए उन्हें बुराई, मक्कारी, नीचता, सत्ता के मोह और स्वेच्छाचारिता का उग्रभाव से पर्दाफ़ाश करना पड़ा था। इन प्रश्नों का उत्तर दे सकने के लिए उन्होंने अपने नायकों में चिन्तन तथा आत्मा की स्वतंत्रता का, भलाई और बुराई के बीच अनमनीय संघर्ष का यशगान किया। उन्होंने न्याय के पैरवीकारों, मानव-अन्त:करण के उदात्ततम गुणों से युक्त लोगों का गुणगान किया। उन्होंने वीरों को सन्तों के स्थान पर पहुंचाया, जिनका वीरत्व उदात्त कार्यों, अन्त:करण की निर्मलता, प्यार की निर्मलता, विचारों और प्रयोजनों की निर्मलता में निहित था। वह इस सबमें सफल रहे और इस कारनामे की बदौलत वह अमर हो गये। इस बात के बावजूद कि उनके बहुत-से नायक बुराई की राक्षसी शक्तियों से लड़ते हुए त्रासदीपूर्ण ढंग से मर जाते हैं, विपदाएं झेलते हैं (प्रसंगत:, कुछ हद तक इसी में उनके यथार्थवाद तथा इतिहासपरतावाद की सच्चाई निहित है), हम समझते हैं, देखते हैं कि वे जीवन की अभिपुष्टिकारी त्रासदियां हैं, अंधकार पर प्रकाश की, नकारात्मकता पर सकारात्मकता की नैतिक विजय हैं।

मैं फिर दुहराता हूं कि मैं शेक्सपियर की कृतियों का यह मानते हुए कुछ आरेखीय चित्र ही प्रस्तुत कर रहा हूं कि हरेक के समक्ष शेक्सपियर के बिम्बों की गहराई और जटिलता पर्याप्त रूप में स्पष्ट है। मैं तो पुनर्जागरण काल के इस कलाकार के यथार्थ-कौशल की केवल प्रशंसा कर सकता हूं। मैं तो शेक्सपियर के नायकों की जीवन्त सम्पूर्णता से केवल विस्मित ही हो सकता हूं, जो समस्त सच्चे मानवीय गुणों से युक्त हैं: आन्तरिक विरोधों, सन्देह, ईर्ष्या, प्यार, घृणा, सामाजिक कर्त्तव्य तथा अपनी नियति के बारे में चिन्तन तथा यंत्रणा का जटिल द्वन्द्व। हम लोगों में, जो समकालीन जीवन के बारे में लिखते हैं, कैसे अक्सर उस कलात्मक गहनता तथा व्यापकता का अभाव रहता है! मैं इस बारे में यहां इसलिए कह रहा हूं, क्योंकि हमारा युग, हमारे यथार्थ, सोवियत जनता की वीरता तथा श्रम ऐसी ऐतिहासिक घटनाओं, विजयों, आत्मिक दृष्टि से नया इन्सान तैयार करने की गहन प्रक्रियाओं से भरपूर हैं कि हम समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का अभी तक पालन नहीं कर पाये हैं। मैं यह इसलिए कह रहा हूं कि हमें शेक्सपियर के कौशल से सीखना चाहिए। और सबसे पहले इसलिए कि शेक्सपियर, हमारे गहन विश्वास के अनुसार, सकारात्मक नायकों, मानवीयता तथा प्रयोजनमूलकता

के महान लेखक हैं। मैं सकारात्मक नायकों पर, उन नायकों पर ज़ोर दे रहा हूं, जिनकी शेक्सपियर, उनके आदर्श तथा प्यार ने रचना की थी। उनकी किसी भी कृति को ले लें, वे सब ज्वलन्त, पूर्ण, भावावेगों से ओतप्रोत हैं। ठीक वे ही नायक हमें प्रिय हैं, जिनका मन भावावेगों के उफान से तप रहा है, जो बुराई से लड़ने में ज़रा भी मेल-मिलाप नहीं करते, अपने अन्त:करण को ज़रा भी धोखा नहीं देना चाहते, जो जीवन में हर तरह के नीचतापूर्ण, अंधकारपूर्ण चीज़ों पर धावा बोलते हैं। चाहे हेमलेट, ओथेलो, लीयर, या रोमियो और जुलियट हो अथवा अन्य पात्र, हम उनकी उपाधियों तथा तत्कालीन जीवन की अवस्थाओं के पीछे उनका मूलभूत मानवीय सार देखते हैं, हम उनके हर्ष और विषाद को बिल्कुल ऐसे अनुभव करते हैं, मानो वे हमारे समकालीन हों। हम शेक्सपियर के सकारात्मक नायकों में मानवीय आत्मा की शाश्वत गहराई के दर्शन करते हैं, जिनकी सीमाएं निर्धारित करना कठिन होता है, वे हेमलेट की, जो राज-दरबार की साज़िशों के आगे धराशायी हो जाता है, उदात्त मेधा तथा वीरतापूर्ण स्फूर्ति से शुरू होती हैं और तरुण रोमियो तथा जुलियट के प्यार की शुद्धतम भावनाओं के साथ, ऐसी भावनाओं तथा ऐसे विचारों के साथ समाप्त होती हैं, जो शताब्दियों के दौरान प्रासंगिक बने हुए हैं, हमारे हृदयों में पीड़ा और वेदना का समावेश करते हैं, हमें अच्छाई के उदात्त सिद्धान्तों में शिक्षित-दीक्षित करते हैं। मेरे ख़याल से, शेक्सपियर की जयन्ती के सिलसिले में यह बात भी ध्यान में रखना ज़रूरी है कि पश्चिम में कुछ लोग साहित्य और कला को विचारों से शून्य बनाने, साहित्य तथा थियेटर में सकारात्मक नायक की चरित्र-निर्माणकारी भूमिका से इन्कार करने, यथार्थ को अमूर्त्त रूप से प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न करते हैं। शायद, उन लोगों का विश्वास है कि शेक्सपियर पुराने पड़ गये हैं, भोलेपन से भरे हैं। यह अविवादास्पद है कि तबसे हमारी पृथ्वी पर बहुत कुछ बदल गया है।... परन्तु कला की मुख्य अन्तर्वस्तु तथा प्रयोजन पहले जैसे बने हुए हैं—जनता के हितों की सिद्धि, मनुष्य तथा उसके जीवन का सच्चा, यथार्थपरक चित्रण।

शेक्सपियर की कभी धुंधले न पड़नेवाली कृतियां एक बार फिर यह दर्शाती हैं कि केवल सच्ची कला, सच्चे अर्थों में जनता की कला, सच्चे अर्थों में अतिसुन्दर कला ही, जो मानवीय व्यक्तित्व के युग के गुण प्रतिबिम्बित करती है, जीवित रहती है और समाज की बनी रहती है।

और यदि हम अपने युग के पदचापों को ध्यान से सुनें, तो हम सदैव सुन सकते हैं कि शेक्सपियर का क़ाफ़िला किस तरह भविष्य की ओर जानेवाले अपने मार्ग पर बढ़ता जा रहा है। अन्त:करण, निर्मलता, मनुष्य की प्रगति की भव्यता का यह पथ-प्रदर्शक एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी की ओर बढ़ता जा रहा है, और पृथ्वी पर उसके परिभ्रमण का कोई अन्त नहीं है।

मैं यहां विशेष गर्व के साथ यह कहना चाहता हूं कि सोवियत सत्ता की स्थापना होने पर ही शेक्सपियर का क़ाफ़िला हम तक, मध्य एशिया तक पहुंचा। आरम्भ से ही, अपनी स्थापना होते ही हमारे जातीय थियेटरों में शेक्सपियर की कृतियां रंगमंच पर हमारी अपनी मातृभाषाओं में प्रतिध्वनित होने लगी थीं, और हम ललचायी दृष्टि से उनकी कला के झरनों के साथ सटकर बैठ गये, ताकि सार्विक सांस्कृतिक धरोहर की अपनी युग-युगों की प्यास मिटा सकें। मध्य एशिया के थियेटर शेक्सपियर के अनेकानेक नाटकों, त्रासदियों तथा कामदियों, उनकी कृतियों पर आधारित आपेरा और बैले का मंचन करते हैं। इन वर्षों के दौरान रंगमंचीय कलाकारों का एक पूरा नक्षत्रमंडल उभरा है, जो शेक्सपियरीय पात्रों के बेहतरीन प्रस्तुतीकरण के लिए जनता में लोकप्रिय हैं। इस जयन्ती सभा में मध्य एशिया के बुद्धिजीवी समुदाय की ओर से मैं शेक्सपियर की महान प्रतिभा को आपके साथ मिलकर श्रद्धांजलि देना चाहता हूं।

शेक्सपियर में, जो हमारे बीच जीवित हैं, हम मनुष्य के प्राणवान अनुभव, कला के, जो सौन्दर्य के विषय में जनता की अवधारणा की पुष्टि करती है, संचय की अभिपुष्टि की निरन्तरता देखते हैं।

नहीं, इन्सान धूल का कण नहीं है, कम से कम इस कारण नहीं है कि उसके पास मानवजाति के शेक्सपियर प्रभृति प्रतिनिधि हैं।

शेक्सपियर महासागरीय तरंगों की भांति हैं, जो जीवन के तट पर शाश्वत रूप से गर्जन करती रहती हैं।

# हमारे गोर्की *

इतिहास में बहुत-से महान लेखक तथा चिन्तक हुए हैं, जिन्होंने मानव-प्रतिभा की कला का जयगान किया है। उनके वंशज उन्हें विस्मृत नहीं करते। परन्तु वे चाहे कितने ही महान क्यों न रहे हों, समय रूपी कारक और जीवन की शाश्वत अग्रगति अपने पूर्वजों के विषय में हमारे विचारों को संशोधित कर देते हैं। ठीक इसी कारण उनमें से एक पृष्ठभूमि में अदृश्य हो जाता है, दूसरा क्षितिज पर दृष्टिगोचर होता है। और उनकी ओर मुड़ते हुए हम जब अतीत के कुहासे के बीच उनके चेहरों को निहारते हैं, तो हम कभी-कभी कह उठते हैं: "जी हां, वे विराट हस्तियां थीं।"

दूसरे, जो कदापि कम महान नहीं हैं, बल्कि हमारे अधिक समीप हैं, इस अर्थ में अधिक आवश्यक हैं कि हम उनके बिना व्यक्ति के रूप में अपनी कल्पना नहीं कर सकते, हमसे दूर होकर अदृश्य नहीं हो जाते। वे जीवन के मार्ग पर सेतु की भांति हैं। वे चिन्तन तथा आत्मा के सेतु हैं। वे ऐसे सेतु हैं, जो लोगों की पीढ़ियों को जोड़ते हैं, पृथ्वी पर समाज के मुख्य नैतिक प्रश्नों के गिर्द संसार को जोड़ते हैं, ऐसे सेतु हैं, जिनमें सांस्कृतिक मूल्य तथा आत्मिक ज्ञान के अनुभव का संचय हुआ है। वे ऐसे सेतु हैं, जिन पर आप और हम हर रोज़ चलते हैं, जहां हमारी भेंट अतीत तथा वर्त्तमान से होती है, जहां हम सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन के सबसे जटिल प्रश्नों के उत्तर खोजते हैं, जहां हम सपना देखना तथा प्यार करना, भलाई और बुराई, सच और झूठ के बीच भेद करना सीखते हैं, जहां हम उनसे टक्कर लेते हैं, उनके विरुद्ध संघर्ष करते हैं, जो इन सेतुओं की नींव को हिलाना चाहते हैं, जो

* 'गोर्की इ लितेरातूरा नरोदोव', राज्य विश्वविद्यालय का प्रकाशनगृह, येरेवान, १९७०।

उन तक लोगों की पहुंच का रास्ता बंद करना चाहते हैं, जो इस तरह शाश्वत रूप से जीवित, शाश्वत रूप से संघर्षरत इन लेखकों की आस्थाओं, खोजों, चिन्ताओं, विचारों के प्रति हमारे मन में सन्देह के बीज बोना चाहते हैं।

मैं युगांतरकारी महत्व के उन लेखकों की बात कर रहा हूं, जो मनुष्य की स्वतंत्रता तथा सुख के हेतु, मानव-अस्तित्व के नये आदर्शों की प्रतिष्ठापना के हेतु अविराम तथा आवेगमय संघर्ष में कालजयी हो गये, मैं उन लेखकों की बात कर रहा हूं, जो अपनी कृतियों और अपने व्यक्तित्वों से इतिहास, संस्कृति, राष्ट्र, देश और संसार में रहन-सहन के ढंग में बड़े-बड़े परिवर्तनों के प्रतीक बन गये हैं।

ऐसे थे हमारे गोर्की!

गोर्की ने रूस के बारे में अथक विचारों के साथ, जनता की नियति में बुनियादी परिवर्तनों की अपेक्षाओं तथा पिपासा के साथ, देश के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के पूर्वाभास के साथ साहित्य-जगत में प्रवेश किया था। रूस में जो कुछ था, उन्हें वह सब, उसके परस्पर अपवर्जक विरोधों समेत, उसकी बेड़ियों और स्वातंत्र्य-प्रिय चिन्तन समेत, उसकी दीन-हीनता और नये जीवन के लिए प्रचंड भावावेगों समेत, उसके पितृसत्तात्मक विनय-भाव और अदम्य विद्रोही आत्मा समेत प्रिय था। इस सबको उन्होंने पीड़ा, चिन्ता तथा आशा के साथ अपने विशाल हृदय में ग्रहण किया और वह रूस के बारे में ऐसी अगाध शक्ति के साथ, जनता के जीवन के बारे में इतने ज्ञान के साथ, उसके क्रान्तिकारी ध्येय में इतनी आस्था के साथ बोले कि उन्होंने जो देखा और कहा, वह रूसी साहित्य में नया पन्ना, २०वीं शताब्दी के कलात्मक चिन्तन के विकास में नयी खोज बन गया।

गोर्की का सृजनात्मक अनुभव, गोर्की की परम्पराएं सोवियत साहित्य तथा कला के आधारभूत सिद्धान्त बन गयीं। मैं गोर्की की इन परम्पराओं के बारे में, इस बारे में चन्द शब्द कहना चाहता हूं कि उन्हें हमारे साहित्य में किस तरह जारी रखा गया है।

यह सुविदित है कि कोई भी अपने निर्णय पर परम्पराएं स्थापित नहीं करता, वे लेखक के वस्तुपरक अनुभव से पैदा होती हैं, उन्हें आदेश पर या अनुरोध पर उपयोग में नहीं लाया जाता, अपितु इसलिए उनका उपयोग किया जाता है कि वे जीवन्त रूप से आवश्यक होती हैं, वे जब तक यथार्थ से मेल खाती हैं, जब तक वे कला की किसी नयी

अन्तर्वस्तु तथा नये रूपों को समृद्ध बनाती हैं, तब तक वे जीवनदायी रहती हैं।

पश्चिम से आनेवाली आवाज़ों ने हमें कई बार गोर्की की परम्पराओं के सत्य तथा जीवनशक्ति की ओर से मुंह फेरने की सलाह देने का प्रयत्न किया है। हमसे कहा जाता है कि गोर्की साहित्य में बीता इतिहास हैं, कि उनका अनुभव निःशेष हो चुका है, कि साहित्य की मौजूदा मंज़िल में आज अधिक और अधिक विरोधभरे मार्ग बन रहे हैं, आदि। परन्तु असल स्थिति क्या है?

तब से जब गोर्की का देहावसान हुआ था, अब तक कई वर्ष बीत चुके हैं। इन वर्षों में विश्व नाना अभूतपूर्व उथल-पुथल भोग चुका है: अपनी राक्षसी प्रवृत्ति समेत, मानव से घृणा करनेवाले सिद्धान्त समेत, हर तरह के मतभेद और संस्कृति में सर्वोत्तम वस्तुओं के सर्वनाश समेत हिटलर, दूसरा विश्व युद्ध, फ़ासिज़्म की पराजय, जिसकी क़ीमत ख़ून के सागर बहाकर चुकायी गयी थी, युद्धोत्तर संजीदगी और शीतयुद्ध की शुरूआत, धरती पर नये साम्राज्यवादी युद्धों का छिड़ना, लोगों की लोगों के विरुद्ध वहशीपनभरी नयी कार्रवाइयां, इस वक़्त, इस घड़ी, इस पल वियतनाम की लम्बे अर्से से चल रही ये कार्रवाइयां! अलग-अलग जगतों की इस लड़ाई में, इतिहास के इस अग्निकुंड में, पश्चिम के बुद्धिजीवी समुदाय के एक भाग में अस्तव्यस्त होने के बीच, दूसरे भाग में भ्रमों के टूटने तथा गड्डमड्डपन के बीच, कला के "विर्नायकीकरण", "निर्विचारधाराकरण" के खुले आह्वानों के बीच, मानव-विवेक में अविश्वास तथा अपने जैसे दूसरों के प्रति, आसपास की चीज़ों की दुनिया के प्रति मनुष्य के "संसर्गहीन स्वभाव" के दावों के बीच, मनुष्य को अपने मानवीय तथा नागरिक कर्त्तव्य अनुभव करने से रोकते हुए उसे उत्तरदायित्व की अनुभूति से मुक्त करने के प्रत्यक्ष तथा प्रच्छन्न प्रयासों के बीच, हिंसा, अधम सहजप्रवृत्तियों, कुख्यात "अधिमानव" के सार्विक प्ररूप के बेलगाम प्रचार के बीच, इन सबके बीच, अन्तर्विरोधों की तीक्ष्णता मिटाने, कूपमंडूक को ख़ुश करने, दीक्षित करने के प्रयोजन से "अधिसंस्कृतियों" के "भीड़मूलक", "वाणिज्यिक", "औद्योगिक" उत्पादों के कर्णभेदी गर्जनों के बीच, ऐंठन के कारण इस छटपटाहट के बीच हमें अपने तट से गोर्की की कभी मौन न होनेवाली आवाज़ बार-बार सुनायी देती है: "संस्कृति के आचार्यों, आप किसकी तरफ़ हैं?"

यह है गोर्की की परम्परा का पहला नियम। इसलिए कि इन शब्दों के पीछे शाश्वत प्रश्न उपस्थित है: लेखन का उद्देश्य क्या है, क्या लिखा जाना चाहिए, उसे कैसे लिखा जाना चाहिए? गोर्की की आवाज़ हमारी आवाज़ है, सोवियत साहित्य की आवाज़ है। हम इन शब्दों को दुहराते हुए कभी नहीं थकेंगे, हम गोर्की का अनुसरण कर रहे हैं, उनमें हम लेखक के अन्त:करण का पैमाना देखते हैं, उनमें जुझारू मानवतावाद, मानवीयता तथा आत्मिक सौन्दर्य का उदात्त उदाहरण देखते हैं।

जहां तक यथार्थ के चित्रण के नये सिद्धान्तों, सौन्दर्यबोधात्मक तथा दार्शनिक अवधारणाओं का सरोकार है, जिन्हें गोर्की का अनुभव जन्म देता है, वह विश्व यथार्थवाद के सर्वोच्च आचार्य थे। हमारे समक्ष समझौताविहीन सामाजिक स्पष्टता का लेखक, सच्चे अर्थों में जनता का और सच्चे अर्थों में उच्च संस्कृतिवाला, सही कहें तो अनन्य, भव्य ऐसी संस्कृतिवाला लेखक है, जिसने विश्व साहित्य में जो सर्वोत्तम है, उसे अपने में शामिल कर लिया है। इसलिए जीवन की प्रामाणिक सच्चाई से भरपूर उनका लेखन इतना सशक्त है, हम पर अपने शब्दों से इतना आश्वस्तकारी प्रभाव डालता है। गोर्की का यथार्थवाद आधुनिक यथार्थवादी लेखन की कसौटी बना हुआ है। हम गोर्की की परम्परा का अनुसरण करते हैं क्योंकि ये परम्पराएं हमारी आन्तरिक सृजनशील आवश्यकता का अंग हैं, क्योंकि वे हमें यथार्थ को अधिक वस्तुपरक ढंग से समझने तथा व्यक्त करने में सहायता देती हैं, हमारे लिए कम्युनिस्ट समाज के निर्माण में साहित्य के कार्यभारों की पूर्ति सुगम बनाती हैं।

स्वभावत:, गोर्की की परम्पराएं कोई ऐसा पूर्वनिर्दिष्ट पथ नहीं हैं कि हम उस पर बस जोश से पग उठाते हुए चलते जायें। इस टेढ़े-मेढ़े पथ पर अकाट्य उपलब्धियों के साथ-साथ सदैव कठिनाइयां, यहां तक कि विफलताएं मिलती रहीं और मिलती रहेंगी। बात यह है कि सामने एकसमान विचारधारात्मक तथा कलात्मक पथ होते हुए भी हममें से हरेक अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार स्वतंत्र रूप से सृजन करता है और इस तरह हममें से हरेक को सामने आनेवाले किसी भी तरह के कार्यभार का, सृजनशीलता में तथा नये जीवन की अवस्थाओं में नयी समस्याओं का सीधे सामना करना पड़ता है। बात यह है कि साहित्य का विकास एक सर्वतोमुखी प्रक्रिया है, जिसके नाना पृथक-पृथक भाग हैं। परन्तु यह भी बिल्कुल सच है कि समाजवादी यथार्थवाद के पथ पर, जो कला में दत्त सामाजिक सम्बन्धों का अनुभव,

लोगों का सम्बद्ध आत्मिक कार्यकलाप प्रतिबिम्बित करता है, साहित्य तथा कला में नये-नये आविष्कार होंगे, नयी-नयी उपलब्धियां प्राप्त होंगी। इस क्षेत्र में हम कोई नौसिखुए नहीं हैं, हमारे पास आधी शताब्दी का संघर्ष, विजयें, चिन्ताओं तथा खोजों का इतिहास है और यह चीज़ हमें अपनी सम्भावनाओं को पहले से देखने, अपनी शक्ति पर विश्वास करने, सोवियत साहित्य की परम्पराओं की, जिनकी रहनुमाई महान गोर्की ने की थी, फलप्रदता पर यक़ीन करने का अधिकार प्रदान करती है।

हम जानते हैं कि गोर्की ने इस देश के विभिन्न नवजात जातीय साहित्यों के विकास में कितनी अमूल्य भूमिका अदा की थी। यह सब होते हुए भी मैं इसकी फिर से चर्चा करना चाहता हूं।

मध्य एशिया तथा कज़ाख़स्तान में आधुनिक पेशेवर साहित्य का उद्भव अभूतपूर्व सांस्कृतिक और सामाजिक प्रगति का कार्य था। और यह हमारे लिए बहुत बड़ा वरदान था: आरम्भ से ही हमारे लेखक गोर्की से प्रभावित हुए थे, वे अभी तलाश कर रहे थे, साहित्य की पगडंडी पर रास्ता टटोलते हुए अभी आगे बढ़ रहे थे, अपने जनगण के, जो १६१७ की समाजवादी क्रान्ति द्वारा अभी-अभी जगाये गये थे, रोष, वेदना, हताशा को अपने हृदयों में संजोये हुए थे। इन पहले लेखकों को केवल राजनीतिक ही नहीं, अपितु कलात्मक दृष्टिकोण से भी अपने जनगण के जीवन में परिवर्तनों को अभी समझना था और पहले के पिछड़ेपन को दूर करने में गंवाये गये समय की पूर्ति करनी थी। उन पर गोर्की का प्रभाव प्रतीकात्मक दृष्टि से सचमुच महत्वपूर्ण तथ्य था। यदि रूसी सर्वहारा, लेनिन और कम्युनिस्ट पार्टी ने हमारी जातियों को सामाजिक संघर्ष के स्तर पर, समाजवादी व्यवस्था के निर्माण में सहभागिता के स्तर पर पहुंचाया, तो रूसी लेखक गोर्की सोवियत जातियों के साहित्यों के लिए आत्मिक विद्यालय थे। उनके प्रभाव की छाप हम्ज़ा-हक़ीम-ज़ादे नियाज़ी और साकेन सेइफ़ुल्लीन जैसे हमारे पहले क्रान्तिकारी लेखकों की सृजनशीलता में सुस्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हुई। पूरब के प्रमुख लेखकों—मुख़्तार आवेज़ोव और सद्रीद्दीन ऐनी—की कृतियों की साहित्यिक तथा सामाजिक अन्तर्वस्तु पर गोर्की का ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा था। पुरानी पीढ़ी के प्रसिद्ध लेखकों का एक पूरा नक्षत्रमंडल गोर्की की परम्पराओं में शिक्षित-दीक्षित हुआ था। इनमें थे—आइबेक, तुर्सुन-ज़ादे, केर्बाबायेव, तोकोम्बायेव, मुकानोव, मुस्रेपोव, कहार,

मुस्ताफ़िन और बहुत-से अन्य। हम इसे आज आभार की भावना के बिना कैसे स्मरण कर सकते हैं!

गोर्की सोवियत जातियों की संस्कृतियों की मैत्री के पिता थे। वह हमारे अन्तर्जातीय भाईचारे तथा समस्त सोवियत सांस्कृतिक हस्तियों की विचारधारात्मक एकता के ध्वज थे।

हमारी कामना है कि हम गोर्की—सोवियत साहित्य की महान कालजयी हस्ती, चोटी के साहित्यकार—की, २०वीं शताब्दी के मानवतावादी की आत्मा को अक्षुण्ण रखें।

गोर्की जीवित हैं, गोर्की हमारे साथ हैं।

# वह महासागर सदृश 'मनास' की दस लाख पंक्तियां जानते थे*

कुछ साल पहले 'सोवियत संघ' पत्रिका ने मेरा एक लेख छापा था, उसका शीर्षक था 'वह महासागर सदृश "मनास" की दस लाख पंक्तियां जानते हैं'। यह मैंने सायाकबाई कारालायेव के बारे में लिखा था, जो 'मनास' महाकाव्य के चोटी के कथावाचक थे। आज जीवन ने इस लेख के शीर्षक में दुखद संशोधन कर दिया है: 'वह महासागर सदृश "मनास" की दस लाख पंक्तियां जानते थे'। जी हां, हम अब इस बारे में भूतकाल में बात करने लगे हैं।

परसों सायाकबाई कारालायेव दफ़ना दिये गये। यह क़िर्ग़िज़ संस्कृति के लिए बहुत बड़ी, अपूरणीय क्षति है। कारालायेव जातीय ख्याति के कलाकार थे। 'मनास' महाकाव्य ठीक उस रूप में नहीं जन्मा था, जिस रूप में वह हम तक पहुंचा है। क़िर्ग़िज़ जाति की सृजनशील प्रतिभा नाना शताब्दियों के दौरान विकसित होती रही, और 'मनास' में अपना इतिहास, जगत के विषय में अपनी समझ, अपना काव्यमय वरदान शामिल करती चली गयी। 'मनास' गाथा का जन्म दूर अतीत में एक छोटे सोते के रूप में हुआ था। सोता नदी में बदल गया, उसके तटों का विस्तार होता चला गया, और क़िर्ग़िज़ काव्य के तूफ़ानी सागर की लहरें क़िर्ग़िज़ धरती पर हिलोरें लेने लगीं। कारालायेव ने इस महाकाव्य का उस समय बोध प्राप्त किया, उस समय उसे हृदयंगम किया, जब वह अपने शिखर पर था।

प्राचीन काल की दंतकथा की सम्पूर्ण गहनता तथा विस्तार के अर्थ को आत्मसात कर सकने के लिए, 'मनास' को अतीत तथा वर्त्तमान के समक्ष संरक्षित रख सकने के लिए कथावाचक के लिए आवश्यक था

---

* 'सोवेत्स्काया क़िर्ग़िज़िया', १२ मई १९७१।

कि वह असाधारण रूप से बुद्धिमान हो, उसके पास विस्मयजनक स्मरणशक्ति, विराट कल्पनाशक्ति तथा कलात्मक प्रतिभा हो। ऐसे थे हमारे सायाकबाई कारालायेव।

अब वह नहीं रहे। वह धूमकेतु की भांति चमके और बुझ गये। कारालायेव जैसा तारा क्या 'मनास' के नभ को एक बार फिर आलोकित करेगा? इस बारे में सोचना पड़ता है। और अपनी आशाएं अनायास जनता की ओर अभिमुख करनी पड़ती हैं—केवल जनता ही संसार को कारालायेव प्रभृति कलात्मक व्यक्तित्व प्रदान कर सकती है। सम्भव है, नया कारालायेव कहीं किसी पालने में हो, सम्भव है, उसने अभी जन्म न लिया हो, पर उसे अवश्य जन्म लेना है।

आज महान कथावाचक को विदाई देते समय मुझे 'सोवेत्स्काया क़िर्ग़िज़िया' अख़बार के प्रति अपना आभार प्रकट करना चाहिए, जिसने कारालायेव के विषय में मेरा वह लेख पुन: प्रकाशित किया है, जो मैंने उनके जीवनकाल में लिखा था।

तीन दशकों से अधिक समय से क़िर्ग़िज़ विद्वान प्राचीन 'मनास' महाकाव्य को लिपिबद्ध तथा क्रमबद्ध कर रहे हैं। अब, जब हम 'मनास' का चारखंडीय संक्षिप्त रूपान्तर देखते हैं, तो चकित रह जाते हैं: जिस जाति की अपनी लिखित भाषा भी नहीं थी, वह कैसे इतनी सारी काव्यमय कथाओं को इतनी शताब्दियों के बीतने के बाद भी वर्त्तमान काल तक ले आयी है?

क़िर्ग़िज़ जाति मध्य एशिया की सबसे प्राचीन जातियों में से एक है। उसने अपने नाना शताब्दियों के इतिहास के दौरान असाधारण रूप से उच्च काव्यात्मक संस्कृति का विकास किया है। विशिष्ट ऐतिहासिक अवस्थाओं (लिखित भाषा तथा ललित कलाओं का अभाव, अपनी स्वतंत्रता तथा स्वाधीनता के लिए शक्तिशाली सामन्ती राज्यों से संघर्ष) में ख़ानाबदोश जाति के युग-युगों के अस्तित्व और उसके साथ ही उसकी अनुपम काव्यात्मक प्रतिभा के फलस्वरूप महाकाव्यात्मक शैली जन्मी और फली-फूली। क़िर्ग़िज़ों ने अपने महाकाव्यों में उसे शामिल किया, जो दूसरी जातियों ने इतिहास, ललित साहित्य, थियेटर, चित्रकला वीथियों, मूर्तियों में व्यक्त किया था।

इस समय पन्द्रह तथाकथित "लघु" क़िर्ग़िज़ गाथाओं में से, जो हम तक मौखिक रूप में पहुंची हैं, दस प्रकाशित हो चुकी हैं। उनमें से प्रत्येक

में कविताओं की लाखों पंक्तियां हैं। उनमें से प्रत्येक एक विशेष ऐतिहासिक युग प्रतिबिम्बित करती है। उनमें से प्रत्येक की अपनी मौलिक अन्तर्वस्तु है, जो जीवन के बहुमुखी पहलू, व्यक्तियों तथा जनगण की नियतियां उजागर करती है। उदाहरण के लिए, 'कोद्जोद्जाश' एक शिकारी, प्रकृति की पूजा, प्रकृति की शक्ति के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष के विषय में प्राचीन नाटकरूपी काव्य है। 'ओल्दजोबाई और किशिमजान' एक मधुर लोककथा है, स्तेपी के निवासियों की अपनी ही क़िस्म की रोमियो और जुलियट की कहानी है। 'केदेई-ख़ां' (ग़रीबों का ख़ान) सामाजिक यूटोपिया है।

परन्तु समस्त क़िर्ग़िज़ महाकाव्यों में 'मनास', निस्सन्देह, महानतम है। वह आश्चर्यजनक कलात्मक परिघटना है।

'मनास' महासागर सदृश है। वह संसार के किसी भी अन्य ज्ञात महाकाव्य से लम्बा है। उसके ग्यारह रूपान्तर हैं, उनमें से कुछ में सात लाख से अधिक पंक्तियां हैं। जीवन की परिघटनाओं की व्यापकता की दृष्टि से उसका स्थान संसार के सबसे असाधारण महाकाव्यों के बीच है। उसका मुख्य विषय है विदेशी हमलावरों के विरुद्ध क़िर्ग़िज़ जाति का संघर्ष। वह पौराणिक मनास के वीरतापूर्ण कारनामों का यशगान करता है, जिसने विभक्त क़िर्ग़िज़ जाति को ऐक्यबद्ध किया था। परन्तु यह तो अन्तर्वस्तु का एक भाग मात्र है और एकमात्र कथानक कदापि नहीं है। भव्य संग्राम तथा वीरतापूर्ण दृश्यों के अलावा उसमें दैनंदिन जीवन के सर्वथा विविधतापूर्ण पहलू विस्तारपूर्वक चित्रित किये गये हैं। 'मनास' के कलात्मक तथा सूचनात्मक पहलू अपनी व्यापकता तथा विविधता में विस्मयकारी हैं। इसमें हम रोमांटिक, सामाजिक तथा नैतिक तथा आचारपरक विषय पाते हैं। इसमें हम भूगोल, औषधियों, वास्तुशिल्प, खगोलशास्त्र और सैनिक मामलों के बारे में क़िर्ग़िज़ लोगों की जानकारी पाते हैं। इसमें कलात्मक रूपों तथा माध्यमों के सारे संगीत-सुर हैं—सर्वथा सादे व्यंग्य तथा विनोद से लेकर त्रासदी के शिखर तक, जो मानव के अपरिमित दुख-कष्टों से हमें झकझोर देती है। आदिम यथार्थ लोककथाप्रधान कल्पना से, प्रतीकवाद तथा घोषणात्मक रूप गहन मनोविज्ञान से, दर्शन जादू तथा चमत्कारों से गुंथे हुए हैं, अन्तरतम भावनाएं ऊपर महान आत्मिक भावावेगों की ओर बढ़ती हैं, जबकि प्यार सामन्ती समुदाय के क़बायली पितृसत्तात्मक हितों के मातहत हो जाता है। 'मनास' क़िर्ग़िज़ जाति के अतीत का विराट जगत है, यह

उनका भव्य कलात्मक चित्र है, जो विश्व संस्कृति के परिदृश्य में उसका योगदान है।

'मनास' महाकाव्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के पास मौखिक रूप में पहुंचता रहा। एक भी ऐसा क़िर्ग़िज़ नहीं मिल सकता, जो वीर मनास की कहानी न जानता हो। 'मनास' के सर्वोत्तम कथावाचकों—मनासची—की स्मृति नाना शताब्दियों के दौरान अक्षुण्ण रही है। इसी कारण कारालायेव जैसे हमारे युग के बेजोड़ कथावाचक का उजागर होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। इस बुद्धिमान ७० वर्षीय मनुष्य ने शानदार, यशस्वी जीवन बिताया। गृहयुद्ध* के ज़माने में उन्होंने साइबेरिया में कोल्चाक की सफ़ेद गार्डी सेना के विरुद्ध लाल छापामारों के साथ मिलकर लड़ाई की। चाहे वह घोड़े पर बैठे होते या तम्बू में होते, अथवा अलाव के पास, वह मनास के बारे में क़िस्से सुनाते रहते। उन दिनों को याद करते हुए वह बताते कि क़िर्ग़िज़ भाषा का एक शब्द भी न समझनेवाले कैसे घंटों तक 'मनास' सुनते रहते। इससे पता चलता है कि कारालायेव उस समय भी कथावाचन की कला के आचार्य थे। क़िर्ग़िज़िया लौटने पर वह पूरे जनतंत्र में 'मनास' कथावाचक के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

संसार की महागाथाओं के प्रमुख विशेषज्ञ और कज़ाख़ लेखक मुख़्तार आवेज़ोव** ने कारालायेव को "पौराणिक कथावाचक", "आधुनिक होमर", "२०वीं शताब्दी का चारण गीतकार" की संज्ञा दी थी। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। संसार में, शायद ही, कोई और ऐसा व्यक्ति मिले, जिसने काव्य की लगभग दस लाख पंक्तियां कंठस्थ की हों। 'मनास' तथा अन्य, "लघुतर" महाकाव्यों के कारालायेव द्वारा किये गये वर्णन को लिपिबद्ध करने में वर्षों तथा दशकों का समय लगा था।

कारालायेव को, उनके अभिव्यंजनापूर्ण मुख, भंगिमाओं, आंखों के भावों को देखते समय, इस मनुष्य को, जो कलात्मक रूपान्तरण के अनुपम वरदान का स्वामी था, सुनते समय ऐसे प्रतीत होता था मानो वह स्वयं एक महाकाव्य के नायक के मूर्त्त रूप हैं। उनकी पूरी

* रूस में गृहयुद्ध (१९१८-१९२०)। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में मज़दूरों और किसानों ने घरेलू प्रतिक्रान्तिकारियों और विदेशी हस्तक्षेप से १९१७ की समाजवादी क्रान्ति की उपलब्धियों की रक्षा की।

** सोवियत कज़ाख़ लेखक (१८९७-१९६१)।

आकृति, पूरे चेहरे पर समय के थपेड़ों की छाप पड़ी हुई थी। उस समय की घटनाओं, उस समय के दुख-दर्दों, उस समय की बुद्धिमत्ता, भलाई और बुराई, एक ही रूप में प्रकट होते थे। कारालायेव के प्रस्तुतीकरण के ढंग में आत्मा की गहराइयां छलकती थीं। उसमें लयबद्धता, भावावेग तथा प्रेरणा निहित होते थे। उसमें विषाद, दुख, अश्रुओं की बग़ल में साहस, संकल्प तथा शौर्य होता था। और एक बार फिर चिन्तन, हंसी और रोना।

एक बार मैं कारालायेव के साथ चूइस्काया घाटी के एक सामूहिक फ़ार्म में गया। उनके आगमन का समाचार पूरे गांव और आसपास की बस्तियों में क्षणभर में फैल गया। चारों ओर से लोग आने लगे: खेतों से और पशुपालन फ़ार्मों से, ट्रैक्टरों और ट्रकों में। उन्हें सुनने के लिए इतने लोग जमा हो गये कि फ़ार्म के क्लब में स्थान ही नहीं रह गया था। इसलिए उन्होंने खुले में अपना कार्यक्रम प्रस्तुत किया। एक टीले पर कुर्सी रखी गयी और वह उस पर बैठ गये। उनके इर्द-गिर्द लोग जमा हो गये। जिसे जहां जगह मिली, वहीं बैठ गया—ज़मीन पर, ट्रकों में, घोड़ों पर। इतने में सहसा आसमान पर काले बादल छा गये, मूसलधार वर्षा होने लगी। कारालायेव रुके नहीं और एक भी श्रोता अपने स्थान से टस से मस नहीं हुआ। पानी बरसता रहा और लोग 'मनास' सुनते रहे। उनके कथावाचन ने इस तरह उन्हें वशीभूत कर दिया था। यह मैं कभी न भूल पाऊंगा।

यदि कोई मुझसे पूछे कि मैं अपनी जाति के किन महान लोगों को जानता हूं, तो मैं, शायद, सबसे पहले कारालायेव का नाम लूंगा।

अपनी जनता के इतिहास तथा सृजनशीलता पर गर्व करना स्वाभाविक है। परन्तु जब मैं 'मनास' महाकाव्य के विषय में सोचता हूं, तो मुझे इस अनुभूति पर बहुत गर्व होता है कि 'मनास' अब सारी सोवियत जनता की संस्कृति की सम्पदा बन गया है। 'मनास' के हज़ारों वर्ष पुराने इतिहास में उसे पहली बार सोवियत सत्ताकाल में लिपिबद्ध और प्रकाशित किया गया। उसके बड़े-बड़े अंश रूसी में अनूदित किये गये और इस तरह 'मनास' को विश्व संस्कृति में मिलाना सम्भव हुआ।

हमारे युग में 'मनास' पुनरुज्जीवन की प्रक्रिया से गुज़र रहा है। वह पुस्तकों, आपेरा, नाटकों में जन्म ले रहा है। क़िर्ग़िज़ फ़िल्म-निर्माता 'मनास' नाम से एक फ़िल्म बनाने जा रहे हैं।

# कठोर यथार्थवादी *

आधुनिक संस्कृति के लिए दोस्तोयेव्स्की के महत्व, अतीत तथा भविष्य के लिए उनकी सेवा पर विचार करते समय इस महान तथा संजटिल लेखक की अनुपमता को न देख पाना असम्भव है। दोस्तोयेव्स्की की अनुपमता इस बात में निहित है कि समय जितना अधिक आगे बढ़ता जाता है, उनका नाम और उनकी कृतियां मानवजाति के मानस पर उतना ही अधिक छाती जाती हैं। ऐसी नियति कदापि हर महान मेधावी के हिस्से में नहीं आती। ऐसी परिघटनाएं नाना स्पष्टीकरणों को जन्म दे सकती हैं और देना चाहिए—आखिरकार, दोस्तोयेव्स्की दोस्तोयेव्स्की हैं। मैं इस विषय पर अपना व्यक्तिगत मत देना चाहूंगा।

दोस्तोयेव्स्की ने साहित्य के जगत में उस देहरी को पार करके प्रवेश किया था, जिसे बहुत-से दूसरे लोगों ने पार किया था। उस समय तक विश्व नाना यशस्वी लेखकों, कथा-साहित्य के आचार्यों से परिचित हो चुका था। उस समय तक साहित्य के अभिव्यंजनात्मक साधन अत्यधिक विश्लेषणात्मक तथा ठोस बन चुके थे। उस समय तक यथार्थवाद कला में बहुमुखी मानव-जीवन के चित्रण के सबसे प्रामाणिक तथा सर्वग्राही साधन के रूप में अपने को प्रतिष्ठापित कर चुका था। उस समय तक कालजयी लेखकों द्वारा खोजे गये "महाद्वीपों" को साहित्यिक मानचित्रों पर सुस्पष्ट रूप से रेखांकित किया जा चुका था।

दोस्तोयेव्स्की ने उन "महाद्वीपों" पर खोजें कीं, जो पहले ही "खोजे जा चुके थे"। उन्होंने मनुष्य की आत्मा में गहराई तक पैठकर उसकी गहराई का अध्ययन किया और इस तरह पूरे युग की

---

* 'प्राव्दा', ११ नवम्बर १९७१।

लेख दोस्तोयेव्स्की की १५०वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में लिखा गया था।

सौन्दर्यबोधात्मक संस्कृति में कुछ नूतनता का समावेश किया। महान लेखक के रूप में दोस्तोयेव्स्की का १९वीं तथा २०वीं शताब्दियों की विश्व साहित्यिक प्रक्रिया पर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। दोस्तोयेव्स्की की बदौलत आगे की पीढ़ियों का कलात्मक चिन्तन यथार्थ के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध में व्यक्ति, उसकी मानसिकता, आन्तरिक प्रेरणा के गहन विश्लेषण पर संकेन्द्रित रहा।

परन्तु दोस्तोयेव्स्की का साहित्य को सबसे मूल्यवान और दीर्घकालीन योगदान, मेरी राय में, मनुष्य के लिए अनन्त करुणा है, जिसकी सांस क्रूर, मानवद्वेषी शोषक समाज के भंवर में रुक रही थी। दोस्तोयेव्स्की ने मनुष्य के लिए, जो सामाजिक त्रासदियों और अपने असन्तुलित स्वभाव के कारण संतप्त था, सार्विक चिन्ता तथा वेदना की भावना के वशीभूत होकर साहित्य में प्रवेश किया था। उस विकट समय में रूसी लेखक ने मानवतावादी साहित्य के एक मुख्य कार्यभार को—मनुष्य की नैतिक शिक्षा-दीक्षा तथा उसमें करुणा के विकास को, जिनके बिना उसे सम्पूर्ण मनुष्य नहीं कहा जा सकता—बुलंदी पर पहुंचाया।

दोस्तोयेव्स्की यह मानते थे कि करुणा मानवीयता का सर्वोच्च पैमाना, आत्मा का प्राथमिक गुण है, जो केवल प्राक्मानव (होमो सेपियन्स) की अभिलाक्षणिकता है। आज की दुनिया में, जिसके पास एटम बम हैं, जिसमें साम्राज्यवादी वियतनाम पर बर्बादी ढा रहे हैं, जो नस्ली समस्याओं से विभक्त है, जिसमें हिंसा का नग्न नृत्य हो रहा है, ऐसी दुनिया में वह खतरे की घंटी अविराम गूंज रही है, जो दोस्तोयेव्स्की ने बजायी थी, जो मानवीयता तथा मानवतावाद का आह्वान कर रही है। यह, मेरी राय में, दोस्तोयेव्स्की की प्रतिभा की अन्तर्वस्तु है। और यह उनकी शाश्वत तथा नित बढ़ती लोकप्रियता का कारण स्पष्ट करती है।

पश्चिम में जो लोग दोस्तोयेव्स्की की कृतियों की जटिलताओं की भिन्न-भिन्न ढंग से व्याख्या करने, अपने संकीर्ण स्वार्थों के हेतु इन जटिलताओं का मिथ्याकरण करने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें याद रखना चाहिए कि लेखक के रूप में, समस्त कालों के एक सबसे बड़े मानवतावादी के रूप में दोस्तोयेव्स्की को विशाल रूस की, जिसने पूंजीवाद की विभीषिकाओं को उसके निकृष्टतम रूपों में भुगता, सम्पूर्ण नियति ने अपमानित तथा उत्पीड़ित का अन्त:करण बनने का अधिकार दिया



16—907

था। अपने स्वार्थपूर्ण लक्ष्यों की सिद्धि में दोस्तोयेव्स्की को विकृत करना, कम से कम कहा जाये तो... ईश-निन्दा है, चाहे ऐसा कोई भी करे।

अपने अमर चेहरे की अमर उदासी के साथ दोस्तोयेव्स्की मानवजाति का एक ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति की तरह अवलोकन करते हैं, जो बहुत कुछ झेल चुका हो, बहुत सारे पवित्र विचार व्यक्त कर चुका हो। समकालीन लोगों के लिए महत्व की बात यह है कि दोस्तोयेव्स्की बुराई के प्रति कठोर रहे और उनका कठोर तथा सटीक विश्लेषण भी बुराई के कारणों का पर्दाफ़ाश करता है। इस कारण दोस्तोयेव्स्की हमें उदात्त आदर्शों के लिए जीने तथा लड़ने में मदद देते हैं।

दोस्तोयेव्स्की ने लोगों के बीच लोगों के बारे में, दैनंदिन, अपने ज़माने के प्रतीयमान रूप से अनुल्लेखनीय जीवन के बारे में लिखा। परन्तु उन्होंने उस जीवन में जो देखा, अपने नायकों की नियति और चरित्र के माध्यम से जो चित्रित किया, वह युग का रहस्योद्घाटन था। इस मामले में दोस्तोयेव्स्की के कौशल ने अपने पात्रों की मनोदशा, उनके आचरण के प्रयोजनों का तटस्थ भाव से सटीक विश्लेषण करने, मानवनियति की समाज पर निर्भरता दर्शाने की उनकी योग्यता ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की। अवमानित तथा अपमानित का चित्रण करने, दुर्भाग्य, विपदा, कुरूपता दर्शाने में दोस्तोयेव्स्की ने बाज़ारू ढंग की कोरी भावुकता का कभी भी सहारा नहीं लिया। गम्भीर साहित्य का सरोकार चाहे किसी भी चीज़ से—त्रासदी, वीरता, विवेक, मानव-प्रतिष्ठा की प्रतिष्ठापना, आत्म-सन्तोष के परिहास, सत्ता के मद से—हो, उसमें तुच्छता के लिए कोई स्थान नहीं है। जैसा कि दोस्तोयेव्स्की का अनुभव हमें सिखाता है, साहित्य के लिए एकमात्र कसौटी सटीक अनुभूति होनी चाहिए, जो साहित्य में सच्चे अर्थों में प्रतिभापूर्ण तथा प्रेरित सृजन को कोरी कल्पना पर आधारित तुच्छ ढंग की क़लमघिसाई से विभेदित कर सके।

लेखक के रूप में वह सदा-सर्वदा के लिए महान हैं, चाहे हम उनकी जयन्ती मनायें या न मनायें। वह हमें हमेशा अतीत तथा वर्त्तमान के बारे में, मानव-अस्तित्व की शाश्वत व्यथा—भलाई और बुराई के संघर्ष—के बारे में सोचना सिखाते हैं।

# मैं अपना शीश नवाता हूं*

मृतकों का दुख जीवितों को भोगना पड़ता है।...

कुछ समय पहले बेबसीभरे आशावाद के साथ मैंने त्वार्दोव्स्की को पत्र लिखा कि मैं उनके स्वस्थ हो जाने के लिए दुआएं मांग रहा हूं। अपने आशंकापूर्ण पूर्वबोध के बावजूद हम यह सपना देख रहे थे।

कवि का पांव जीवन की रकाब से फिसल गया। और घोड़ा बिना सवार के दौड़ते हुए आगे चला गया। मेरे शब्द अश्रव्य बन गये। केवल पीड़ा से विदीर्ण मेरे हृदय में क्षति की प्रतिध्वनि कम नहीं हो रही है, ठीक उसी तरह, जब पहाड़ पर बिजली गिरने पर कोई विराट वृक्ष चट्टान से नीचे गिरता है। अलेक्सांद्र त्वार्दोव्स्की की मृत्यु पर मेरे अन्दर भी कुछ मर गया—लहर ने मेरा एक अंश, मेरे महाद्वीप से मेरी प्रकृति का एक अंश छीन लिया।...

मुझे एक ही बात की तसल्ली है, इस बात कि जीते-जी मैं उन्हें कभी नहीं भूलूंगा, क्योंकि वह हमारे युग के असाधारण लेखक थे। मैं अपने को इस बात से तसल्ली देता हूं कि मुझे उनके साथ काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, कि मैं उन्हें जानता था, उन्हें प्यार करता था, अपने बहुत-से समकालीनों की तरह मैं भी उनकी प्रतिभा के आगे अपना शीश नवाता था, कि और दूसरे लोग आयेंगे, जो उन पर उसी तरह गर्व करेंगे, जिस तरह मैं अपनी व्यथा पर क़ाबू पाते हुए उन पर गर्व करता हूं।...

अन्तिम विदाई लेने की कटु घड़ी आ चुकी है।

यह किसान किशोर धन्य रूसी धरती से, स्मोलेन्स्क से उस समय आये थे, जब नवजात सोवियत साहित्य का विकास अभी शुरू ही हुआ था। वह हमारे पास कालजयी काव्य छोड़ गये हैं, जो उनके महान

---

* 'लितेरातूर्नाया गज़ेता', २२ दिसम्बर १९७१। सोवियत कवि अलेक्सांद्र त्वार्दोव्स्की (१९१०-१९७१) की स्मृति में।

पूर्ववर्तियों — पुश्किन, लेर्मोन्तोव, नेक्रासोव, मयाकोव्स्की, ब्लोक, येसेनिन — की परम्पराओं का अनुसरण करता है।... अब वे सब एक साथ हैं आत्मा की दृष्टि से बन्धुओं की भांति, उन पक्षियों की भांति, जो अपने झुंड से आगे उड़ते हैं।...

लेखक और मानवतावादी के रूप में त्वार्दोव्स्की का सार्विक महत्व इसमें निहित है कि उनकी कृतियां उन लोगों के जीवन, काम, विचारों को प्रतिबिम्बित करती हैं, जिन्होंने एक नये, समाजवादी जीवन की रचना की, जिन्होंने फ़ासिज़्म को धूल चटायी, जो जीवन की विकट अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण रहे।

शोक की इस घड़ी में मन के सारे उद्‌गार प्रकट कर पाना असम्भव है। हमारी क्षति अपार है। परन्तु जिस प्रकार किसी पर्वतीय प्रणाली की अपनी श्रृंखलाएं, स्कंध, पहाड़ियां और टीले होते हैं, उसी तरह त्वार्दोव्स्की भी आधुनिक सोवियत साहित्य की पर्वतमाला हैं।

हममें से बहुत-से अपनी साहित्यिक नियति के लिए त्वार्दोव्स्की के आभारी हैं।

हम सब उनके ताबूत को अपने कंधों पर ले जा रहे हैं, देश के विभिन्न भागों में हम सब इस चोटी के कवि के आगे अपना शीश नवा रहे हैं!..

उस मार्ग को देखना कठिन है, जिस पर घोड़ा अपने सवार के बिना दुलकी चाल से चला जा रहा है। आंसू देखने नहीं देते।...

# पुश्किन के विषय में दो शब्द*

हर वर्ष फ़रवरी के इस दिन काली नदी पर सफ़ेद बर्फ़ वहां बहे रक्त से फिर गहरे लाल रंग की हो जाती है।... हम फिर उसे उठाते हैं, मर्मान्तक रूप से घायल इस व्यक्ति को अपनी बाहों में लेते हैं, उसका सिर लटक रहा है।... डेढ़ शताब्दी का समय हमें पुश्किन से पृथक करता है, जो कदापि अल्पावधि नहीं है। यदि हम यह स्मरण करें कि उनसे बहुत पहले यूरोप ने होमर, दांते, शेक्सपियर, गेटे जैसी विराट हस्तियों को तथा उनके समय के अधिक निकट, लगभग उनके समकालीन रोमांटिक बायरन को, जिनकी कविताओं के पुश्किन बहुत प्रशंसक थे, जन्म दिया था, तो नामों के इस संदर्भ में हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि पुश्किन का आत्मिक मूल कितनी दूर और कितनी ऊंचाई पर है, जो वर्षों और शताब्दियों के पार से, एक के बाद दूसरे युगान्तरकारी परिवर्तनों के पर्दे के पार से हमें सम्बोधित करता है।

रह-रहकर अतीत और वर्त्तमान की तुलना करते हुए हम अतीत की उन मेधावी हस्तियों को देखते हैं, जो कला पर मानव-आत्मा के विकास के बहुत ही कठिन इतिहास की छाप छोड़ गये हैं। उनमें सबसे पहले हम पुश्किन को देखते हैं, उनमें हम हर्ष और विषाद तथा अस्तित्व की ऊर्जा पाते हैं, इसलिए कि पुश्किन केवल शहीद ही नहीं थे, अपितु महान रूस के अग्रदूत और महान निर्माता भी थे। इसी में पुश्किन की द्वन्द्वात्मकता तथा परिघटना निहित है।

पुश्किन अपने देश की कोई पहली मेधावी हस्ती नहीं थे, उनसे पहले लोमोनोसोव, देर्झाविन, करामज़िन, ग्रिबोयेदोव हुए थे। परन्तु रूसी जाति की आत्म-अभिव्यक्ति में, उसकी भाषा, साहित्य तथा कला के रूपान्तरण में, उसके राजनीतिक चिन्तन में, क्रान्तिकारी स्वरूप की, गुणगत दृष्टि से नयी तेज़ धार बनना पुश्किन के ही नसीब में लिखा

---

* 'प्राव्दा', ११ फ़रवरी १९८७।

हुआ था, जिन्होंने पुस्तक-लेखन के विकास के एक हज़ार वर्षों के बौद्धिक तथा रूपात्मक साधनों को क्रियाशील बनाया। सम्पूर्ण विश्व साहित्य के इतिहास में खोज करना उनके ही नसीब में लिखा हुआ था, इसलिए एक आत्मा के सार्विक मूल्यों को विकसित करने का मुख्य स्रोत सदैव जातीय सिद्धान्त, मातृभूमि की संस्कृति का अनुभव, लोककथाओं का अनुभव रहा है।

विश्वव्यापी आत्मिक एकीकरण की इस प्रक्रिया में केवल मेधावी कलाकार का प्रत्यक्ष योगदान ही नहीं, अपितु उसका प्रभाव, जो उसके बाद होता है, समाज तथा उसके सांस्कृतिक सम्पर्क में आनेवाले जनगण, प्रथमतया ऐतिहासिक दृष्टि से सम्बन्धित पड़ौसियों के बढ़ते और नवीकृत होते जीवन के पूरे प्रवाह पर उसका प्रभाव भी महत्वपूर्ण होता है। मुझे इस बात का पूरा-पूरा यक़ीन है कि रूस के पड़ौसियों की कलाओं तथा संस्कृतियों पर लाभदायी प्रभाव के अर्थ में पुश्किन का कोई मुक़ाबला नहीं कर सकता।

हम सब और हमारा बहुजातीय सांस्कृतिक साहित्य पुश्किन की धरोहर पर उसी भांति खड़े हैं, जिस भांति पर्वत भूगर्भीय संस्तर की नींव पर खड़े रहते हैं। यदि हम इस परिघटना को भूमंडलीय पैमाने पर देखें, तो पुश्किन के मानवतावादी आदर्श, सौन्दर्यात्मक परिष्करण, यथार्थवाद तथा उनके काव्य का लोक रंग सारत: पुनर्जागरण काल की कला की उस रूसी यथार्थ की भूमि पर सशक्त निरन्तरता हैं, जिसके गर्भ में रूसी क्रान्ति का भ्रूण धीरे-धीरे विकसित हो रहा था। इसी तरह युगों तथा संस्कृतियों का संगम होता है। इसी तरह शताब्दियों के बाद पुनर्जागरण काल की प्रतिध्वनि का पुश्किन ने उत्तर दिया था, जिसने रूसी कवि के सृजन को काल की सीमाओं के ऊपर उठा दिया और सार्विक रूप से महान बना दिया।

इस सबके अलावा हम पुश्किन को अपने पूरे हृदय से प्यार करते हैं और गले लगाते हैं, क्योंकि वह हमारे अपने हैं, उनकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती। एक बात और भी अधिक विस्मयकारी है: पुश्किन का शब्द विजयी होता जा रहा है, हर नयी पीढ़ी के साथ, नयी-नयी भाषाओं और बोलियों में उसकी निरन्तरता क़ायम है, उसकी शक्ति बढ़ती जा रही है, देशकाल में अस्तित्व के नये क्षेत्र प्राप्त करता जा रहा है, जितनी बार हम पुश्किन की ओर बढ़ते हैं, उनका शब्द हमारे आत्मिक विकासक्रम के अनुसार अर्थ की नयी गहराई और चिरन्तन सौन्दर्य उजागर करता

है। इस तरह हम निरन्तर पुश्किन की खोज करते हैं और पुश्किन हमारी खोज करते हैं।

यही चीज़ पुश्किन को और उन्हें जन्म देनेवाली रूसी जनता को इतना अनुपम बनाती है। लिखित शब्द के प्रति रूस में सदा श्रद्धा रही है और यह श्रद्धा भावशून्य, विवेकसम्मत चिन्तन के हमारे इलैक्ट्रोनिक-तकनीकी युग में भी संरक्षित है। यह परिघटना उच्च अनुक्रमिक सौन्दर्यबोधात्मक गुण का अमूल्य उदाहरण है, जो इतना विरल होता है और हमारे युग में जुझारू भीड़-संस्कृति के धावे के आगे क्षीण पड़ता जा रहा है। इस बारे में कुछ चिन्ताभरे स्वर में बोलते हुए मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूं कि पुश्किन युग से धरोहर में मिले पुस्तक-प्रेम को, ऐसी परिघटना को, जो सर्वमान्य विशिष्ट रूसी लक्षण बन गया है, देश का विशेष गुण माना जा सकता है और माना जाना चाहिए। आख़िरकार, संसार में कथा-साहित्य कहीं और इतनी अपरिमित प्रतियों में नहीं छपता, कहीं और पुस्तकों के इतने अनुरागी पाठक नहीं हैं, जितने कि हमारे हैं। पुश्किन की बदौलत हमने अपनी मातृभाषा से प्यार करने और सूर्योदय की भांति उसकी प्रशंसा करने की योग्यता अपने अन्दर क़ायम रखी है, हमने मौलिक शुद्धता और भावनाओं की गहनता अपने अन्दर क़ायम रखी है। आजकल के ज़माने में यह कोई छोटी बात नहीं है।... पुश्किन से धरोहर में प्राप्त प्यार का यह अद्भुत उपहार हमें अपने विशाल देश की समस्त उच्चरित भाषाओं की क़द्र करने और उनसे प्यार करने में सहायता देता है, जिनमें से हरेक के अपने अनुपम लक्षण तथा विरल गुण हैं, क्योंकि सबको एक साथ लेने पर वे पार्थिव तथा सार्विक यथार्थ को समझने में मनुष्य के शक्तिशाली और शाश्वत साधन हैं और उनसे एक ऐसी आत्मिक एकता बनती है, जो हमें अन्तर्जातीय सहयोग में विश्वास करने में सहायता देती है, जनगण के समाजवादी समूह में विवेक की प्रकृति जैसी अन्तर्जातीय जागरूकता विकसित करने में सहायता देती है।

हमें अपनी भाषा से सही अर्थों में प्यार करना और पड़ौस की भाषाओं का सही अर्थों में आदर करना चाहिए, उन्हें टुटपुंजिया भटकावों—एक मामले में अहंकार और दूसरों से नफ़रत और दूसरे मामले में स्थानीय अतिमहत्वाकांक्षाओं—के लिए कोई गुंजाइश रखे बिना फलने-फूलने में मदद देनी चाहिए। हमें भाषाओं की ऐतिहासिक रूप से प्रदत्त बहुस्वरता की भी पारस्परिक रूप से क़द्र करनी चाहिए और इसके

साथ-साथ विचारों की एकता तथा मौलिकता की बहुस्वरता पर आधारित साझी धरोहर के निर्माण की इच्छा पोषित करनी चाहिए। यह सब हमारी बहुजातीय संस्कृति के आगे विकास की नींव रखता है, यह सब पुश्किन के महान काव्य और शताब्दियों को भेदनेवाली उनकी पूर्वदृष्टि का फलप्रद परिणाम है।

# बेलोरूसी बन्धु *

पीठ पर थैले लटकाये हुए वे क़तार में खड़े थे। और जब वे लम्बी क़तार बनाये हुए रवाना हुए थे, तो हम उन्हें विदा करने के लिए दौड़े। आख़िरी विदाई के शब्द, आख़िरी शुभकामनाएं, चलते समय की आख़िरी मुस्कानें। १९२४ में जन्मे किशोर, १८ वर्षीय लड़के, जिनके साथ अभी कल तक हम बच्चे हमउम्रों की तरह खेले थे, १९४२ के जाड़ों में मोर्चे के लिए रवाना हो रहे थे।

मुझे याद है कि मैंने चार घोड़ों को जोड़ों में बांधा, जिन्हें वापस ले जाने का काम मुझे सौंपा गया था। उन सबको ठीक ऐसे ले जा रहा था, मानो मैं समरभूमि में से लौट रहा हूं और पीछे मुड़ते हुए युद्ध के लिए कूच करते लोगों की क़तार को देखता जाता।

उन सब किशोरों में से, जिन्होंने मुझे घोड़े और काठियां गांव लौटा ले जाने के लिए कहा था, एक भी कभी नहीं लौटा।

उनकी माताएं भी अब जीवित नहीं रहीं। एक वृद्धा बची रही। जब भी उसे, उसकी आंखों में ख़ामोश दर्द देखता हूं, हर बार सीने में टीस-सी उठती है।

"याद है, तू घोड़े कैसे वापस लाया था?" हर बार वह पूछती है।

"जी हां, मुझे याद है," बस इतना ही उत्तर देता हूं।

जब मैं वसील बीकोव की कृतियां पढ़ता हूं, जब उनके लेखक होने की हैसियत से उनके बारे में सोचता हूं, तो मैं अनायास उनके हमउम्रों को याद करता हूं, जो मातृभूमि के लिए कठिन विजय प्राप्त करने हेतु उस शीतकालीन सड़क पर मार्च करते हुए गये, जो इस वर्ष बीकोव की भांति ५० वर्ष के हो गये होते।

मैं यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि भाग्य ने बीकोव को हमारे लिए

---

* 'लितेरातूर्नाया गज़ेता', २६ जून १९७४।

यह लेख बेलोरूसी लेखक वसील बीकोव की ५०वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में लिखा गया था।

बख़्शा दिया था, ताकि युद्ध के अग्निकुंड की तपन भुगतने के बाद, छापामारों के बेलोरूस का कटु और विषम काल झेलने के बाद वह अपने युद्धोत्तर साहित्य में उन तमाम अट्ठारह वर्षीय सैनिकों की ओर से, जिनके हिस्से में, शायद, सबसे कठिन, त्रासदीभरी तथा वीरतापूर्ण नियति आयी थी, अपना अन्तरतम, अतुलनीय, निर्मम रूप से सत्य तथा पीड़ादायी सन्देश हमें प्रेरित कर सकें। इन किशोरों के लिए, जो वयस्क जीवन में अभी प्रवेश कर ही रहे थे, जो ज्ञान की अपनी अमिट प्यास अभी बुझा भी न सके थे , युद्ध आरम्भ से ही विश्व का नृशंस रहस्योद्घाटन था, फ़ासिज़्म के विरुद्ध संघर्ष के भूमंडलीय, ऐतिहासिक घटनाक्रम में भलाई और बुराई का सबक़ था।

शत्रु का रास्ता रोकना और परास्त करना ही नहीं, अपितु अश्रुतपूर्व जनसंहार के रणक्षेत्रों में उच्चतम नैतिक सिद्धान्तोंवाला मनुष्य होना भी महत्वपूर्ण था। और, अन्ततः, अपने देश के हेतु संघर्ष और मौत की लड़ाई के समक्ष मनुष्य की महान नैतिक परीक्षा के रूप में महानतम वैयक्तिक तथा संयुक्त अनुभव के मोर्चों पर परिपक्व बुद्धि-विवेक के ज़रिये युद्ध का बोध प्राप्त करना महत्वपूर्ण था।

युद्ध और नैतिकता, युद्ध और व्यक्ति—२०वीं शताब्दी की समस्याओं—ने, मेरी दृष्टि से, वसील बीकोव की सर्वोत्तम कृतियों में अत्यन्त गम्भीर और सुसंगत रूप से मूर्त्त रूप प्राप्त किया। बीकोव के नायक—सोवियत नागरिक—ने केवल युद्ध में ही सैनिक जौहर नहीं दिखाया, अपितु—और यह मुख्य बात है—मानवतावादी, समाजवादी समाज के व्यक्ति के रूप में असाधारण नैतिक गुण प्रदर्शित किये। यह है लेखक, चिन्तक, सैनिक वसील बीकोव की कृतियों का गुण, कलात्मक तथा नागरिक विशिष्टता।

बीकोव की अतिसुन्दर कहानियों को कौन नहीं पढ़ता? पहली नज़र में उनकी उपन्यासिकाएं भूरे रंग के ओवरकोट पहने सैनिक की तरह लगती हैं। परन्तु उनमें जीवन का, लोगों की नियति का कितने सशक्त ढंग से, कितनी सुस्पष्टता के साथ, कितनी असाधारण प्रतिभा के साथ चित्रण किया गया है, वे आज भी हृदय को विदीर्ण करती हैं, उनसे पीड़ा होती है, उन्हें पढ़कर चिन्तन करना पड़ता है और इसके लिए उनके प्रति आभार प्रकट करना आवश्यक है। ...

जी हां, आभार प्रकट कीजिये, इसलिए कि नियति ने वसील बीकोव को बख़्शा दिया, कि वह एक पूरी पीढ़ी की ओर से, उनकी ओर से जीवित

हैं, लिख रहे हैं, जिन्होंने किशोरों के रूप में युद्ध भोगा था, हथियार हाथ में उठाये थे, जिनकी आत्मा तप-मंज गयी थी, जिनके लिए जीवन का एक दिन एक युग के बराबर था।...

वसील बीकोव के उन समकालीनों में से, जिन्होंने मुझसे अपने घोड़े गांव वापस ले जाने के लिए कहा था, कोई नहीं लौटा। परन्तु मैं उनके बेलोरूसी बन्धु, लेखक वसील बीकोव के ज़रिये उनके बारे में जानता हूं, क्योंकि हम सब एक कुटुम्ब हैं, हम सब सोवियत जनता हैं।

मेरे बन्धुओं के, जिनकी मैंने घोड़ों की रास पकड़कर अन्तिम सेवा की थी, बन्धु, वसील, तुम्हारा अभिवादन करता हूं।...

वसील, तुम्हारे लिए दीर्घायु, अक्षय प्रतिभा की कामना करता हूं।

# कलाकार का छविचित्र*

एक पुरानी कहावत है: यदि तुम्हारे पिता की मृत्यु हो गई है, तो परमात्मा से प्रार्थना करो कि जो इन्हें जानते थे, वे दीर्घायु हों। समकालीनों के स्मरण करने से मृतक की उम्र बढ़ जाती है। ठीक इन्हीं संस्मरणों के माध्यम से जीवित अप्रतिवर्त्य क्षति का "प्रतिरोध" करने का प्रयास करते हैं।

स्मृतियां हमारी वेदना हैं और अतीत की अभिपुष्टि करती हैं।

द्मीत्री शोस्ताकोविच की शाश्वत और अमिट स्मृति को सर्वप्रथम उनकी सांगीतिक रचनाएं संजोकर रखेंगी, जो २०वीं शताब्दी के विश्व संगीत में सर्वोत्कृष्ट हैं।

एक और विशिष्टता है, जिसके कारण भावी पीढ़ियों द्वारा चिरन्तन रूप से स्मरण रखे जाने के शोस्ताकोविच के अधिकार को प्रमाणित करना आवश्यक नहीं है। शोस्ताकोविच अत्यन्त विरल नियतिवाले कलाकार थे। उनकी प्रतिभा को उनके जीवनकाल में ही सबकी मान्यता मिल गयी थी। इसके अलावा अपने विशुद्ध दार्शनिक स्वरूप के बावजूद उनकी स्वर-रचनाएं जनता में व्यापक रूप से लोकप्रिय थीं।

फिर भी मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि आत्मा उन लोगों के संस्मरणों के लिए लालायित रहती है, जो वस्तुत: शोस्ताकोविच को जानते थे। यहां आवश्यकता, लगता है, महान स्वरकार का ऐसा सामूहिक छविचित्र तैयार करने की कामना से उत्पन्न होती है, जिसे उनके समकालीनों के समान संस्मरणों से ही रचा जा सकता है।

मैं शोस्ताकोविच से सबसे पहले सातवें दशक के आरम्भ में मास्को में लेनिन तथा राज्य पुरस्कार समिति में परिचित हुआ था। परिचित हुआ था—यह सही शब्द तक नहीं है, क्योंकि मुझे ऐसे प्रतीत हुआ कि मैं उन्हें

---

* 'सोवेत्स्काया मूज़िका', अंक ९, १९७६।

सदा से जानता आया हूं। वस्तुत:, कला में दिलचस्पी रखनेवाले व्यक्ति के लिए उन्हें न जानना अक्षम्य था। मैंने उन्हें तुरन्त पहचान लिया।

समिति की बैठकों में मैंने देखा कि समिति के बहुसंख्य श्रद्धास्पद सदस्य उनकी राय का कितना आदर करते थे। इस सुसंस्कृत व्यक्ति को, जो युवा नहीं रह गये थे, दुबले-पतले थे, बड़ी-बड़ी पुतलियोंवाली भूरी आंखों के ऊपर मोटे कांच का चश्मा पहनते थे, जिनकी वाणी कोमल थी, निरपवाद रूप से अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। किसी अलिखित नियम के अनुसार शोस्ताकोविच का मत कला के विषय तथा समस्याओं पर विचार-विमर्श में सदैव अन्त:करण का उच्च स्तर निर्धारित करता था। उन्हें वाग्मिता का वरदान क़तई प्राप्त नहीं था — उनकी शक्ति तो दूसरी बात में निहित थी — तथ्य के समक्ष उनकी निष्कलंक ईमानदारी में (वह बिना किसी लाग-लपेट के कह सकते थे कि यह या वह कृति, उनकी राय में, गुणहीन, अवसरवादी है), अपनी सच्चाई में उनकी आन्तरिक आस्था में। महान कलाकार के सहजबोध ने उन्हें कभी धोखा नहीं दिया।

ज़बर्दस्त बेलागपन और सौन्दर्य की अगाध समझ और साथ ही अटल निर्णय देने की क्षमता उनके स्वभाव का अविच्छेद्य गुण बन गये थे। मैं उन पर गर्व करता था और उनका प्रशंसक था। बाहर से नरम, यहां तक कि संकोचशील दिखायी देनेवाला मनुष्य, जो दूसरों की तरह कभी ऊंचा नहीं बोलते थे, सार्वजनिक प्रभाव डालने का प्रयत्न नहीं करते थे, वस्तुत:, ऐसे चिन्तक और कलाकार का दृष्टान्त थे, जो अपनी मानवीयता और, चाहें तो यों कहें, जीवन तथा कला में सच्चे अर्थों में प्रतिभापूर्ण किसी भी वस्तु के प्रति मोह के बल पर सबकी प्रशंसा के पात्र थे।

मैं व्यक्तिश: शोस्ताकोविच के प्रति इसलिए भी आकृष्ट हुआ कि मेरी अपनी रायों तथा विचारों का उनकी रायों और विचारों से सदैव मेल रहता था। मैं इस बात से विस्मित तक रह जाता था और लगभग कोई ग़लती किये बिना पहले से कह सकता था कि किन बातों में हम दोनों एक ही तरह सोच रहे हैं। यही, शायद, कारण था कि पहले तो हम एक-दूसरे के समीप आये और फिर मित्र बन गये। अलेक्सांद्र त्वार्दोव्स्की ने हम दोनों को औपचारिक रूप से परिचित कराया था। समिति की बैठक के अन्तराल के समय, जब हम लोग गलियारे में खड़े थे, उन्होंने शोस्ताकोविच से, जो बग़ल में थे, कहा: "द्मीत्री द्मीत्रियेविच, इनसे मिलिये, यह हैं आइत्मातोव, जिनके बारे में मैंने आपसे कहा था।"

शोस्ताकोविच तुरंत मुड़े, मुस्कराये और कुछ अटपटे ढंग से उन्होंने अपना शुष्क, दुबला-पतला हाथ आगे बढ़ाया। यह थी शुरूआत उस मैत्री की, जो वर्षों तक चली। उन्होंने मेरे मन में तुरन्त घर बना लिया था, क्योंकि आयु में बहुत अधिक अन्तर होने के बावजूद उन्होंने मेरे प्रति संजीदगी से और बराबरी का व्यवहार किया। कुछ अजीब-सी बात थी, त्वार्दोव्स्की और उरुसेव्स्की की ही तरह शोस्ताकोविच मुझे सम्बोधित करते समय कभी "तू" का उपयोग नहीं करते थे, हालांकि उम्र और हैसियत की दृष्टि से यह उनका नैतिक अधिकार था। मेरे इन बुज़ुर्ग मित्रों ने, ज़ाहिर है, बड़ों के प्रति मेरी अगाध प्राच्य श्रद्धा को अनुभव किया और उसी रूप में उसका प्रतिदान किया। प्रसंगत:, मेरे तीनों बुज़ुर्ग मित्र एक-दूसरे के बहुत सदृश थे। सर्वप्रथम कला में सत्य के प्रति उनका अदम्य, प्रगाढ़ अनुराग। कलात्मक सत्य अभिव्यक्ति के सारे विविध रूपों के बावजूद एक महान प्रवर्ग तथा बुनियादी रूप से अपरिवर्तनीय है। शायद, इसी कारण उनके लिए यह प्राथमिक महत्व का मामला था और, मेरी राय में, उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य था। मैं इस बात का बार-बार क़ायल हुआ। वे उन सब लोगों को नापसन्द करते थे, जो कला के ध्येयों के मामले में अवसरवादी थे। त्वार्दोव्स्की अपनी भावनाएं व्यक्त करने में अधिक कठोर और मुंहफट थे, परन्तु शोस्ताकोविच और उरुसेव्स्की स्वभाव में सदृश होने के साथ ही बच्चों की तरह दूसरों पर विश्वास करते थे और उनकी ही तरह निष्कपट थे। मैं उन्हें आत्मिक दृष्टि से जुड़वां मानता था और मैं भाग्य का सच्चे हृदय से आभारी हूं कि मुझे इन लोगों से मिलने और उन्हें जानने का मौक़ा मिला।

अब मैं कह सकता हूं कि लोगों के बीच मैत्री और पारस्परिक समझ मुख्यतया इस बात पर निर्भर करती है कि क्या उनके हित तथा आस्थाएं एक समान हैं। दूसरा पहलू है अपने अन्तरतम विचारों में दूसरों को सहभागी बनाने की सतत आवश्यकता, जब आप अपने किसी गम्भीर पर्यवलोकन अथवा खोज में ऐसे व्यक्ति को सहभागी बनाने की प्रतीक्षा नहीं कर सकते, जिसका आप आदर करते हैं। यह चीज़ आत्मिक सन्तोष प्रदान करती है, क्योंकि अपने मित्र की राय सुनना बहुत महत्वपूर्ण होता है। कभी-कभी यह जीवन के बारे में, उस सबके बारे में, जो हमारे अनुभव तथा ज्ञान को सुलभ होता है, उस सबके बारे में, जो हृदय में पीड़ा देता है और उसमें जीवित है, महत्वपूर्ण बातचीत की, ऐसी

बातचीत की धारा आरम्भ कर देता है, जो दीर्घकाल के लिए चिन्तन सामग्री प्रदान करती है।

द्मीत्री शोस्ताकोविच के साथ मेरी अक्सर बातचीत होती थी। बैठकों के अन्तराल के समय, कभी-कभी स्वयं बैठकों के दौरान। इन मौक़ों पर और साथ ही थियेटरों में किसी नये नाटक के मंचन के समय, फ़िल्म देखते समय, कंसर्टों और कला-प्रदर्शनियों के समय हम लोग एक-दूसरे की बग़ल में रहते और धीमे स्वर में बातें करते। बारह वर्षों के दौरान मुझे उनके समक्ष अपने विचार व्यक्त करने और उनके विचार सुनने का सुअवसर मिलता रहा। यह, शायद, हमारे सम्बन्धों का सबसे महत्वपूर्ण भाग था। अब इस या उस किसी ख़ास घटना को तफ़सील के साथ याद करना मुश्किल है। दुर्भाग्यवश, हम लोग दैनंदिन घटनाओं का मूल्यांकन करने, उसे, जो साधारण वार्ता प्रतीत हो सकती है, परन्तु जो बाद में बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध होती है, तुरन्त काग़ज़ पर दर्ज करने में सदैव सफल नहीं हो पाते।

मुझे वह समय याद है, जब हमने कोज़िन्त्सेव * द्वारा निदेशित फ़िल्म 'हेमलेट' के बारे में बातचीत की थी। मैं इस फ़िल्म से, विशेष रूप से शोस्ताकोविच द्वारा रचित संगीत से बहुत प्रभावित था। कोज़िन्त्सेव, स्मोक्तुनोव्स्की ** और शोस्ताकोविच (शेक्सपियर तो स्वयं में एक प्रवर्ग हैं) ने फ़िल्म के नसीब में सफलता पहले ही लिख दी थी। सशक्त संगीत ने, सचमुच शेक्सपियरीय भावना में, डेनिश राजकुमार को स्तब्ध करनेवाले उन त्रासदीभरे आवेगों की भावना में रचे गये संगीत ने शेक्सपियर की कृति की गहन अन्तर्वस्तु पर विशेष बल दिया था।

हम लोगों ने शेक्सपियरीय त्रासदियों के टकराव के स्वरूप पर विचार-विमर्श किया। मेरी बात में, शायद, अतिरंजना रही हो, फिर भी मैंने कहा कि अगर ऐतिहासिक दृष्टि से बात की जाये, तो शेक्सपियर का काल सदा के लिए अस्त हो चुका है। मैंने यह भी कहा कि यही बात महाकाव्यों तथा लोककथाओं पर लागू होती है। इसलिए कोई भी कहीं भी, मैं बोला, आगे वह नहीं रच सकेगा, जो शेक्सपियर ने साहित्य में रचा था।

---

* 'ओवरकोट' (१९२६), 'हेमलेट' (१९६४), 'किंग लीयर' (१९७१) तथा अन्य फ़िल्मों के डायरेक्टर ग्रिगोरी कोज़िन्त्सेव (१९०५-१९७३)।

** सोवियत अभिनेता (जन्म १९२५), कोज़िन्त्सेव के फ़िल्म में हेमलेट की भूमिका अदा की।

मैं यह अपेक्षा कर रहा था कि शोस्ताकोविच मेरी बात का मज़ाक़ उड़ाते हुए कुछ इस तरह यह कहेंगे: "आप आधुनिक लेखक अपना औचित्य ठहराने का प्रयत्न तो नहीं कर रहे हैं?" परन्तु वह उन सब चीज़ों को अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक लेते थे, जिनका कला से सरोकार होता था: वह दूसरों की समझदारी से भरी रायों से बहुधा सहमत होते थे, परन्तु इस मामले में उन्होंने आपत्ति करते हुए कहा:

"मैं यक़ीन के साथ नहीं कह सकता, हो सकता है कि बात यह न हो।"

फिर उन्होंने अपनी राय प्रकट की। उन्होंने कहा कि शेक्सपियर के शाश्वत विषय जीवित हैं और तब तक जीवित रहेंगे, जब तब लोग हैं। और हेमलेट तथा किंग लीयर भी सदा रहेंगे। परन्तु बात यह है कि ऐसे व्यक्तियों के भावावेग तथा समस्याएं हर बार अपने को उनके काल के अनुसार प्रकट करते हैं। समस्या है दैनंदिन जीवन की भागदौड़ में उन्हें पहिचानना और समझना।

"क्या आप सचमुच विश्वास करते हैं कि एक अन्य शेक्सपियर प्रकट होगा?" मैंने पूछा।

"यदि शेक्सपियर नहीं, तो कोई अन्य मेधावी प्रकट होगा।"

"मुझे इसमें बहुत सन्देह है।"

"परन्तु मैं विश्वास करता हूं," उन्होंने ज़ोर देकर कहा। फिर उन्होंने जो विचार प्रकट किया, उसने मुझे और भी ज़्यादा विस्मित और प्रसन्न कर दिया। उन्होंने कहा कि आधुनिक संसार में इस बात की अधिक सम्भावना है कि शेक्सपियर और ज़्यादा होंगे, क्योंकि मानवजाति में इससे पहले आत्मा का ऐसा सार्विकीकरण कभी नहीं हुआ था और इसलिए जब ऐसा महान लेखक प्रकट होगा, वह पूरे संसार को संगीतकार की भांति अपनी आत्मा में अभिव्यक्त कर सकेगा...

पूरे संसार को अपनी आत्मा में...

यह बातचीत चलते-चलते हुई थी। पर केवल आगे चलकर, जब मैं अकेला था, मैं उसके महत्व को समझ पाया, जो उन्होंने कहा था: शोस्ताकोविच साहित्य से जीवन का सर्वग्राही "सांगीतिक" चित्रण करने की अपेक्षा कर रहे थे।

पूरे संसार को अपनी आत्मा में...

यह असाध्य, कठिन कार्य है, परन्तु कलाकार के लिए इससे बड़ा और कोई सपना नहीं हो सकता।

साथ ही शोस्ताकोविच को ऐसी ठोस कृतियों से बहुत प्रसन्नता प्राप्त होती थी, जिनमें कोई विशेष दार्शनिकता नहीं होती थी, परन्तु जो यथार्थपरक और प्रतिभाशाली लोगों द्वारा लिखी हुई होती थीं।

...एक बार मैं उनके पीछे-पीछे उस इमारत की, जहां लेनिन तथा राज्य पुरस्कार समिति का कार्यालय था, सीढ़ियों पर चढ़ रहा था। एक ज़माने के महल, इस पुरानी इमारत में लिफ़्ट नहीं थी और शोस्ताकोविच को चढ़ने में बहुत कठिनाई हो रही थी। यह उनके जीवन के अन्तिम वर्षों की बात है। आप स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि सीढ़ी पर धीरे-धीरे चढ़ रहा, दर्द करते पांवों को मुश्किल से आगे बढ़ाता व्यक्ति क्या सोच रहा होगा। मैंने उन्हें सहारा दिया और हम सांस लेने के लिए बीच में रुक-रुककर चढ़ने लगे। उनका चेहरा पीला पड़ा हुआ था, उन्हें सांस लेने में कठिनाई हो रही थी, एक हाथ रेलिंग पर था और दूसरा मेरे कंधे पर। परन्तु इतना सब होते हुए भी वह हिम्मत कर मुस्कराने का यत्न कर रहे थे। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या बोलूं, क्या करूं कि वह इतना कमज़ोर महसूस न करें। वह मानो मेरे मन की बात भांपते हुए बोले:

"आपने क्या 'विज्ञान और जीवन' पत्रिका में एक आश्चर्यजनक उपन्यासिका पढ़ी है?"

"जी हां," मैं विश्वासपूर्वक बोला और मुस्कराया, क्योंकि मेरा अनुमान सही था। "आपका मतलब गाव्रील त्रोयेपोल्स्की की उपन्यासिका 'श्याम कर्णी श्वेत बीम' से है?"

"आपने कैसे अनुमान लगा लिया कि मेरा उसी से तात्पर्य था?" उनकी आंखों में चमक आ गयी थी। "मैं उसे इतने आनन्दमग्न होकर पढ़ता रहा; मैंने अपने हृदय में इतनी पीड़ा, इतना उल्लास अनुभव किया।..."

शोस्ताकोविच आधुनिक साहित्य से प्यार करते थे और उसकी क़द्र करते थे। अपने इतने विशाल सृजनात्मक कार्य, बीमारी के बावजूद वह किसी भी नूतन कृति को पढ़े बिना नहीं छोड़ते थे, सदैव सक्रिय तथा पक्षधर पाठक थे।

मेरे पास उनकी दो चिट्ठियां संरक्षित हैं। वे अब पारिवारिक स्मृति-चिह्न हैं। मैं उन्हें अपने बच्चों को वसीयत में दूंगा। शोस्ताकोविच ने एक चिट्ठी 'विदा, गुलसारी!' पढ़ने के बाद और दूसरी 'सफ़ेद जलयान' के बारे में लिखी थी। मेरे लिए दोनों चिट्ठियां बहुमूल्य हैं।

परन्तु दूसरी चिट्ठी उन्होंने कुर्गान से लिखी थी, जहां प्रख्यात सर्जन इलिज़ारोव उनका इलाज कर रहे थे। उसमें उन्होंने लिखा कि उनके पांवों में ताक़त आ रही है और हाथों में इतना सुधार आ गया है कि वह, शायद, जल्द पियानो बजाने लगेंगे। जब भी मैं इस चिट्ठी को पढ़ता हूं, तो महान स्वरकार, अपने मित्र तथा पाठक के इतनी कठिनाई से लिखे गये असमतल अक्षरों से, उनकी अनन्त मानवीयता, साहस और स्नेह से मैं द्रवीभूत हो जाता हूं। इसी चिट्ठी के कारण मैं शोस्ताकोविच का आजीवन आभारी रहूंगा।

जी हां, अब तो हम केवल याद कर सकते हैं, शोक मना सकते हैं, उस मैत्री पर हर्ष मना सकते हैं, जो हमारे बीच थी।

यहां मैं अपनी पारिवारिक मुलाक़ातों की चर्चा करना चाहूंगा। एक बार ऐसा हुआ कि हम मास्को के बाहर बरवीख़ा नामक एक सेनेटोरियम में विश्राम कर रहे थे। यह १९७१ के जाड़ों की बात है। शोस्ताकोविच घूमने के लिए कम ही बाहर निकलते थे और जब निकलते थे, तो केवल अपनी पत्नी इरीना अन्तोनोव्ना के साथ। परन्तु जब सुविधाजनक होता, मैं उनसे बातचीत करता। हम लोग वन में तरुपथ के किनारे रखी बेंचों पर बैठकर बातें करते, लेकिन अक्सर कैंटीन, सिनेमाहाल और लाइब्रेरी में। हम लोग एक-दूसरे के कमरों में भी जाते।

वह बहुत ही सुन्दर शिशिर ऋतु थी, जब चारों ओर ख़ूब बर्फ़ ही बर्फ़ गिरी हुई थी। रोज़ रात को बर्फ़ गिरती, पूरी भू-दृश्यावली को ढक देती, हम लोगों की बातचीत के लिए शान्त परिवेश बना देती। उस शिशिर में शोस्ताकोविच, जिनके स्वभाव में ही भावावेग होते थे, ध्यानमग्न हो जाते, चिन्तन करते रहते। शायद, वह अपने जीवन-पथ के विषय में सोच रहे होते, उसके बारे में सोच रहे होते, जो कुछ कर चुके थे और नहीं कर पाये थे। आख़िरकार, अपने जीवन के अन्त तक पहुंचते-पहुंचते किसी ने भी तो अपना सारा ज्ञान, सारी शक्ति ख़त्म नहीं की है। शायद, इसीलिए वह निरन्तर एक ही विषय को, मेरे लिए (और केवल मेरे ही नहीं, अपितु दूसरे बहुतों के लिए भी) बहुत ही महत्वपूर्ण विषय को स्पर्श करते: अपने मुख्य ध्येय को, सृजन को अपना सर्वस्व अर्पित कर देना। (यही मेरी भी नम्बर एक समस्या है।) वह अक्सर मेरी इसलिए आलोचना करते कि मैं सार्वजनिक मामलों तथा रोज़मर्रा के दूसरे बहुत-से मामलों पर बहुत ज़्यादा वक़्त लगाता हूं, जो साहित्य के लिए अहितकर है। उन्होंने कहा कि बुढ़ापे में उस वक़्त की कभी पूर्ति

नहीं हो सकती, जो जवानी के दिनों में गंवा दिया जाता है, क्योंकि हर चीज़ का अपना वक़्त होता है — जिसे कलाकार एक अवधि में कर सकता है, उसे दूसरी में नहीं कर सकता। जीवन नदी की तरह बहता जाता है, एक ही जल में दो बार प्रवेश नहीं किया जा सकता।

जी हां, वह बिल्कुल सही थे। उन्होंने "कुर्गान" चिट्ठी में भी मुझे इसकी याद दिलायी। मैं अपने जीवन में तब्दीलियां लाने का प्रयत्न कर रहा हूं। शायद, सफलता मिल जाये। अब मैं अपने ही अनुभव से सब समझ चुका हूं।...

एक साल बाद, ग्रीष्मकाल के मध्य में हम लोगों की फिर एक बार बड़ी कोलाहलमय, आनन्दप्रद भेंट हुई, जब मैं अपनी पत्नी और बेटों के साथ मास्को में था और हम शोस्ताकोविच दम्पति से मिलने के लिए जुकोव्का स्थित उनके दाचा में पहुंचे थे।

यह अविस्मरणीय भेंट थी! शोस्ताकोविच अत्यन्त प्रफुल्लचित्त थे, हालांकि स्वास्थ्य उतना अच्छा नहीं था। परन्तु यह सापेक्ष स्थिरता की अवधि थी। वह काम करने की स्थिति में थे। पूरा घर इस तरह व्यवस्थित कर दिया गया था कि उन्हें काम करने में सुविधा हो; घर में उन्हें दूसरी मंज़िल में ले जाने के लिए एक छोटी-सी लिफ़्ट भी थी। लिफ़्ट अजूबा थी, मानो मनोविनोद के लिए हो। शोस्ताकोविच मज़ाक़ में बताते कि वह अपने निजी लिफ़्ट का किस तरह उपयोग करते हैं। उन्होंने मेरे छोटे बेटे अस्कर को उससे ऊपर जाने और नीचे आने की अनुमति तक दे दी।

भोजन का समय भी आनन्ददायी होता था। मुझे इस बात से तसल्ली होती थी कि शोस्ताकोविच की आत्मा अब भी शक्तिशाली है। मुझे इस बात से भी सन्तोष होता था कि उनकी पत्नी इरीना अन्तोनोव्ना ने उस वसन्त में हमें फ्रूंज़े में फ़ोन कर "इस्सीक-कुल जड़ी" मंगायी थी। ज़ोरों से असर करनेवाली इस रोगहर बूटी की उनके पति के लिए ज़रूरत थी। मैं उसे जल्द हासिल करने में सफल हो गया। तालास में कुछ दोस्त और रिश्तेदार इस बूटी को लाने के लिए पर्वत पर गये थे और एक हफ़्ते में काफ़ी मात्रा में उसे ले आये। शोस्ताकोविच को यह पता नहीं था कि घर पर उन्हें यह रोगहर बूटी दी जा रही है। या अगर पता भी रहा हो, तो उन्होंने अपनी पत्नी का भेद नहीं खोलने दिया, यह मेरा विचार था। मेरे मन में बड़ी इच्छा थी कि हमारी "इस्सीक-कुल जड़ी" उन्हें मदद दे। मैंने अपने को यह मनाने के लिए भी राज़ी कर लिया कि उनका प्रफुल्लचित्त

होना इसी पर्वतीय औषधि का फल है। और दूसरी ओर, मैं यह भी जानता था कि यह दवाई रोगियों को बहुत ही गम्भीर हालत में दी जाती है।

ख़ैर, उस दिन हम लोगों ने किसी भी तरह की बीमारियों के बारे में बात नहीं की, मानो हम उन्हें भूल गये हों। भोजन के उपरान्त हम उनके प्रिय संगीत-रिकार्ड सुनने उनके कमरे में जमा हुए।...

शोस्ताकोविच की मृत्यु से डेढ़ वर्ष पूर्व मैंने उनके साथ जो समय बिताया था, वह मेरे लिए सबसे अधिक अविस्मरणीय है। मैं मास्को गया हुआ था, जहां उन्होंने मुझे 'मस्क्वा' होटल में फ़ोन किया। उन्होंने मुझे शाम के भोजन के लिए अपने घर आने की दावत दी और बताया कि वह अपनी एक नयी संगीत रचना—चौदहवें चतुर्वाद्य—को पहली बार सुनेंगे। वह बोले कि अगर आप भी उसे सुनना चाहें, तो ठीक सात बजे पहुंच जायें। मैं, स्वभावतः, उत्सुक था। परन्तु शाम होने से कुछ ही पहले मैंने देखा कि मुझे १०-१५ मिनट की देरी लाज़िमी तौर पर हो जायेगी। बात यह थी कि मुझे 'इज़्वेस्तिया' के लिए अपने एक लेख के गेली-प्रूफ़ पढ़ना ख़त्म करना था। जब मैंने देरी हो जाने और माफ़ी मांगने के लिए उन्हें फ़ोन किया, तो उनकी पत्नी ने उत्तर दिया। उन्होंने मुझे तसल्ली दी। बोलीं कि कंसर्ट ठीक सात बजे शुरू हो जायेगा, अगर मैं ज़रा देर बाद भी आऊं, तो कोई बात नहीं, कंसर्ट की पुनरावृत्ति होने की बहुत सम्भावना है। शाम को ७ बजकर १० मिनट पर मैं उनके फ़्लैट के दरवाज़े पर पहुंच गया। अन्दर से आती संगीत की ध्वनि सुनायी दे रही थी। इरीना अन्तोनोव्ना मुझे अन्दर ले गयीं। मैं अभिवादन करना ही चाहता था कि उन्होंने ओठों पर उंगली रखते हुए ऐसा करने से मना कर दिया। हम धीमे पांव गलियारे से होते हुए उस कमरे में पहुंचे, जहां संगीत कार्यक्रम चल रहा था।

शोस्ताकोविच मेज़ के पास बैठे थे, उनकी पीठ दरवाज़े की ओर थी, कारा कारायेव* उनकी बग़ल में थे। उनके सामने, कमरे के बीच में चार संगीतज्ञ वाद्ययंत्र बजा रहे थे।

संगीतकारों का ध्यान विचलित न करने के लिए मैं ज़रा भी आहट किये बिना आगे बढ़ा और दरवाज़े के पास रखे सोफ़े पर बैठ गया।

---

* सोवियत संगीतकार, आज़रबैजानी विज्ञान अकादमी के सदस्य (१९१८-१९८२)।

किसी ने भी पीछे मुड़कर नहीं देखा। संगीतज्ञ अपने कार्य में पूरी तरह ध्यानमग्न थे। शोस्ताकोविच और कारा कारायेव आगे झुककर कान लगाकर संगीत सुन रहे थे। धीरे-धीरे मैं भी संगीत की उस दुनिया में सुध-बुध खो बैठा। मैं यह तो नहीं कहूंगा कि यह मेरे लिए आसान था, इसके विपरीत, मुझे अपने दिमाग़ से सारे विचारों को दूर रखना था, ताकि शोस्ताकोविच के भावों के साथ एकात्म हो सकूं। मुझे पूरी सफलता नहीं मिली। परन्तु शोस्ताकोविच संगीत ऐसी एकाग्रता के साथ सुन रहे थे, मानो वह उसमें उस चीज़ को विभेदित करना चाहते हों, जो उन्होंने अभी तक नहीं कही या नहीं ढूंढ़ी। एक ओर से उनके चेहरे के भावों को देखते हुए मुझे वह भिन्न, अपरिचित, यहां तक कि कठोर, अपनी ही दुनिया में बंद प्रतीत हो रहे थे। मैं उनकी झुकी कमर, एक ओर झुके उनके तनावभरे चेहरे को कुछ परेशानी और भय के साथ देख रहा था। मेरा पूर्वाभास ग़लत नहीं निकला। जब संगीतज्ञों के हाथ रुके, तो शोस्ताकोविच ने बैठने की चील जैसी मुद्रा तुरन्त नहीं बदली, हालांकि कारा कारायेव ने सच्ची प्रशंसा तथा उल्लास की भावना के साथ, अपने को नियंत्रित करते हुए, समतल स्वर बनाये रखते हुए कहा:

"द्मीत्री द्मीत्रियेविच, यह तो किसी मेधावी की रचना है!" और उन्होंने संगीतज्ञों को हार्दिक धन्यवाद दिया।

परन्तु शोस्ताकोविच उसी तरह भावशून्य बने रहे, हालांकि आभार-प्रदर्शन के लिए उन्होंने सिर हिलाया। मैं उन्हें नहीं पहचान सका। अपने और दूसरों के प्रति निर्मम कड़ाई की भावना उनमें जग गयी थी। उन्होंने भी संगीतज्ञों को धन्यवाद दिया और फिर प्रस्तुतीकरण पर ब्योरेवार विचार प्रकट किये। कारा कारायेव को उनकी टिप्पणियों को कुछ नरम बनाना पड़ा। भगवान साक्षी है, संगीतज्ञों ने वादन कार्य पूरे हृदय तथा आत्मा के साथ बेहतरीन ढंग से सम्पन्न ही नहीं किया था, अपितु उसे अपना सम्पूर्ण अस्तित्व समर्पित कर दिया था। परन्तु संगीतकार तो संगीतज्ञों से अभी और अधिक प्रवीणता, और अधिक सटीकता, और अधिक प्रेरणा-प्रवाह चाहते थे। इन चार संगीतज्ञों के साथ वह तीस वर्षों से अधिक समय से काम करते रहे! संगीतकारों तथा संगीतज्ञों में देर तक बहस होती रही, वे सहमत होते, असहमत होते। यह संगीत के रचनाकारों की बातचीत थी। फिर उन्होंने चतुर्वाद्य को एक बार और प्रस्तुत करने का निर्णय किया। मैं सुनता रहा और यह

सोचे बिना नहीं रह सका: "देखा, यह हैं, तेरे मधुर, सहृदय, संकोची शोस्ताकोविच! जब काम पर होते हैं, तो कितने कठोर, निष्ठुर बन जाते हैं!"

उस शाम को शोस्ताकोविच के बारे में इस तरह सोच रहा था मैं—गर्वपूर्वक, आदर तथा प्रशंसा की भावना के साथ।

और उन्हें मैं आजीवन इसी रूप में स्मरण करना चाहता हूं!

# उसका खेत विशाल है ... *

शब्द। शाब्दिक तत्त्व। शब्दों में हम अपने को तथा उस सबको पहचानते हैं, जो संसार में बोधगम्य है। शब्दों के बिना मनुष्य नहीं और मनुष्य के बिना शब्द नहीं। शब्द और भाषा समान मात्रा से सबकी, जनता की, राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। परन्तु हमारे बीच शब्दों के विशेष आचार्य, कवि का जन्म कैसे होता है? इसका उत्तर देना कठिन है। कोई कह सकता है: "प्रेरणा, भगवान से वरदान के रूप में प्राप्त प्रतिभा!" पर क्या बात इतनी ही है? ये अवधारणाएं व्यापक हैं और इसलिए सांगीतिक चिन्तन की भांति काव्यात्मक चिन्तन का मूल भी कभी-कभी मंदाकिनी की अथाह गहराइयों से धूमकेतु के जन्म के समान ही रहस्यमय प्रतीत होता है। किन कणों में, किन परिस्थितियों में छन्द में परिणत शब्द ऐसा विशेष पद बन सकते हैं, जो उसी तरह यथार्थ तथा गहन बिम्ब होता है, जिस तरह ईंधन से ऐसी छोटी-छोटी चिनगारियां पैदा होती हैं, जो बड़ी लपटों का रूप धारण कर लेती हैं? सचमुच कैसे?

मैंने इस बारे में दावीद कुगुल्तीनोव के काव्य को फिर से पढ़ते हुए दुबारा सोचा। चूंकि इस कवि के जीवन तथा सृजन के विषय में मैं काफ़ी जानता हूं, इसलिए मैं फिर से देखता हूं कि लिखित शब्द का स्वामी अपनी जनता के जीवन की परिघटना हुआ करता है। कवि अमूर्त्त चित्रकारों के विपरीत, जिनके बीच, प्रसंगतः, कई बड़े कलाकार हैं, "तटस्थ", दूसरों से अलग-थलग नहीं हो सकता। अमूर्त्त चित्रकारों के कौशल की दिशा एक भिन्न विषय है। परन्तु शब्द का कलाकार, कुगुल्तीनोव जैसा कवि अपनी जनता में से, उसकी आत्मिक तथा नैतिक अनुभव की "मंदाकिनी" में से, उसके विषाद तथा हर्ष में से, उसके अतीत तथा वर्त्तमान के इतिहास में से, उसकी अन्तरतम इच्छाओं में से जन्मता है,

* 'इज्वेस्तिया', ८ जुलाई १९७५।

क्योंकि कवि होने का अर्थ अतीत तथा वर्त्तमान, नाना लोगों की आशाओं, भावावेगों, विचारों, अनुभूतियों का अपने अन्दर, अपने सर्वग्राही "अहं" में संयोजन है।

यही नहीं, आधुनिक लोक कवि—और यहां अभिप्राय कुगुल्तीनोव से है—अपनी जनता में से दो बार जन्मता है, जो उसे उसकी भाषा, परम्पराएं, सपने, आकांक्षाएं देती है। विकसित हो चुकने पर कलाकार अपने संकीर्ण स्थानीय परिधि से बाहर निकलकर इस जनता के नाम पर विश्व साहित्य में प्रवेश करता है। तब वह अपनी और अपने समकालीनों की ओर से बोल सकता है और इसे इसका अधिकार है।

कितना असहाय है पृथ्वी पर मनुष्य!
उसके प्रति वैरभाव से खड़े हैं पर्वतों के उत्तुंग शिखर,
सागर की भयावह ख़तरनाक गहराइयां
और कड़कती बिजलियां उस पर टूटतीं।
नहीं उसे पता, भविष्य के गर्भ में क्या है उसके लिए छुपा?
आनेवाला कल करता किस तरह उसका इन्तज़ार?
कितना असहाय है पृथ्वी पर मनुष्य!
देखो, कितने शक्तिशाली हैं पृथ्वी पर लोग!
वे हर घंटे करते धावा नभ पर।
दुर्गम पर्वतों के बीच बना रहे रास्ते,
पहुंचते सागर की अनन्त गहराइयों में
निकालते ख़ज़ाने, और देखते भविष्य को,
आनेवाले अपने को पढ़ रहे साफ़-साफ़...
देखो, कितने शक्तिशाली हैं पृथ्वी पर लोग!

अस्तित्व का शाश्वत दर्शन, जीवन के अर्थ और सार के अवबोध में जीवन्त द्वन्द्वात्मकता वे आधुनिक चिन्तन प्रक्रियाएं हैं, जो कुगुल्तीनोव ने अपनी प्राचीन जाति के पालने में सीखी थीं।

मैं यह बात बिना कारण नहीं कह रहा हूं। कवि वृक्ष की भांति है, हम उसका तना, शाखाएं, हरी पत्तियां देखते हैं, लेकिन उसकी जड़ें जनता के वर्त्तमान तथा अतीत के इतिहास की गहरी और सशक्त परतों में छुपी होती हैं और नज़र नहीं आतीं। इस छोटी-सी जाति ने क्रूरता तथा कठिनाइयां झेली हैं, वह ज़िन्दा रहने में सफल रही, प्राचीन कलात्मक संस्कृति की स्मृति को क़ायम रखने में सफल रही। सोवियत सत्ताकाल में काल्मिक जाति का नये सामाजिक-ऐतिहासिक परिवेश से पुनर्जन्म

हुआ है। केवल इसी कारण काल्मिक जाति के बीच एक महानतम सोवियत कवि का, हमारे समकालीन दावीद कुगुल्तीनोव का जन्म सम्भव हो सका।

पद्य के आचार्य के रूप में, चिन्तक के रूप में कुगुल्तीनोव दिलचस्प, गहन और अत्यन्त समकालीन है। उनके काव्य का सशक्त तथा महागाथात्मक स्वरूप बौद्धिकता से परिपूर्ण है और उसमें मनोवैज्ञानिक गहराई है, साथ ही वह सादगी तथा लयात्मक आत्मा प्रकट करता है। कुगुल्तीनोव २०वीं शताब्दी के मनुष्य के बारे में भूमंडलीय स्तर पर सोचते हैं और व्यापक विश्व में मनुष्य का तथा प्रत्येक मनुष्य में विश्व का "स्टीरियोफ़ोनिक" (त्रिविमदर्शी) चित्रण करने में सफल रहते हैं।

कुगुल्तीनोव के काव्य का सशक्त, सबसे ज्वलन्त पहलू चिन्तन, मनन, आन्तरिक भावनात्मक अनुभूतियां हैं, जो आशाओं में बदल जानेवाली चिन्ताओं, सन्देहों में बदल जानेवाली आशाओं, समकालीन मनुष्य के उल्लास, कटुता और बुद्धिमत्ता से युक्त होती हैं।

कुगुल्तीनोव की महती उपलब्धि, मेरी राय में, उनकी हाल के वर्षों में लिखी एक कविता है, जिसका शीर्षक है—'विवेक का विद्रोह'। उसने काफ़ी हलचल मचा दी। वह हाल के वियतनाम युद्ध, विश्व शान्ति के लिए ख़तरे, नाभिकीय युद्ध के सम्भावित महाविनाशकारी परिणामों के बारे में है। इनके बारे में इतना कुछ लिखा और बोला जा चुका है! परन्तु कुगुल्तीनोव का अपना ही ढंग है। मृतात्मा के लिए शान्ति हेतु मोज़ार्ट द्वारा रचे गये संगीत की शाश्वत ध्वनि को एकाग्रचित्त हो सुनते समय हम अपने को एक साधारण अमरीकी के घर में बैठे हुए अनुभव करते हैं, जो वियतनाम की लड़ाई में मारे गये अपने बेटे पर शोकमग्न है। मां-बाप के इस दुख पर उनके प्रति हम सच्ची संवेदना अनुभव करते हैं। यह देखना कठिन नहीं है कि मृतक और उसकी तरह मरनेवाले हज़ारों दूसरे अमरीकी भी सैन्यवाद के शिकार बने हैं। परन्तु हमें केवल कवि की करुणा ही वशीभूत नहीं करती।... जब आप पहली बार कविता पढ़ते हैं, तो कहीं बहुत दूर बजती ख़तरे की घंटी की ध्वनि को मुश्किल से ही सुन पाते हैं, धीरे-धीरे यह ध्वनि तेज़ होती जाती है, सम्पूर्ण ब्रह्मांड में, उसके अनन्त देशकाल में फैलती जाती है, जिसकी परिधि में प्रागैतिहासिक काल से लेकर, जब मनुष्य अभी केवल मनुष्य बनने ही लगा था, भयावह विभीषिकाओं के साथ आज की घड़ी तक शामिल है। तथ्य, कल्पना की उड़ान, लोककथा, नीतिकथा, महाकाव्य, राजनीतिक

प्रचार-पत्रिका—ये सब कुगुल्तीनोव के काव्य में सशक्त रूप से ऐक्यबद्ध हैं।

यह परिपक्व, महान कलाकार अपनी गहरी व्यथा तथा गहरी आशा के साथ हमारे समक्ष प्रकट होते हैं।

'विवेक का विद्रोह' परिष्कृत और बहुमुखी कृति है, जिसमें चिन्तन तथा बिम्ब-विधान का बहुस्तरीय, निर्मुक्त, व्यापक प्रवाह निहित है। मैं इस कविता में एक विशेष भाग को चुनना चाहूंगा, जिसका शीर्षक "लौह पक्षी" है और वह एक लोककथा है। यह लोकगीत का रंगबिरंगा भित्तिचित्र है, जिसे कविता के आम परिदृश्य में दक्षतापूर्वक अंकित किया गया है। लोककथा की भांति रसीली, अन्योक्तिपरक, गहन प्रयोजन से युक्त यह रचना केवल असामान्य विषय को ही नहीं, अपितु मुख्यतया ऐसी गम्भीर विश्व समस्याओं को अपने दायरे में शामिल करती है, जो मनुष्य के विवेक और अन्त:करण के लिए शाश्वत हैं। चिन्ता का स्रोत है—बुराई, हिंसा, निरंकुशता का, जो युद्ध और तबाही को जन्म देते हैं, कैसे मुक़ाबला किया जाये?

दावीद कुगुल्तीनोव शब्द के, निस्सन्देह, महान और मौलिक रचनाकार हैं। वह लम्बे अर्से से सक्रिय रूप से, बहुत लिखते आये हैं, अपनी रचनाओं से सोवियत साहित्य को समृद्ध करते रहे हैं, जो आधुनिक जीवन में घटित हो रहे सब कुछ के प्रति अपने उत्तरदायित्व के बारे में जागरूक कवि-नागरिक के हृदय की धड़कनों को स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित करती हैं।

जब मैं काल्मिक साहित्य के असाधारण प्रतिनिधि के रूप में कुगुल्तीनोव के बारे में सोचता हूं, तो मैं मन में यह गहन भावना अनुभव करता हूं कि मुझे और उन्हें, दोनों को सोवियत युग में साथ-साथ रहने और सृजन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, हम दोनों अपनी जातियों की आत्मिक संस्कृतियों के विकास में कुछ हद तक सहायता दे रहे हैं। आख़िरकार, जब हमारे पूर्वज—क़िर्ग़िज़ और काल्मिक लोग—अल्ताई पर्वतमाला और तुर्केस्तान में अग़ल-बग़ल में रहते थे, तो वे अक्सर एक-दूसरे के ख़िलाफ़ तलवारें म्यान से निकाल लेते और युद्ध करते थे। यह सब अतीत की बात है, बीता इतिहास है। एकता, सहयोग, अपूर्व भाईचारे का युग आया। संस्कृति के क्षेत्र में अन्योन्यक्रिया का, एक-दूसरे के समृद्ध बनाने का युग आया।

"शिशिरकालीन फ़सल के अभी अंकुर नहीं निकले हैं"—खेत में गेहूं के बारे में कुगुल्तीनोव की कविता इस तरह शुरू होती है:

उसका सरल आकर्षण नहीं करता उद्विग्न मन को,
और नहीं मानो उसमें कोई पहेली,
पर वासन्ती सुन्दर रूपों में शायद,
उसकी है मानवजाति को सबसे अधिक आवश्यकता।
मैं निहारता उसे पास में खड़ा हो,
मानो कांपते-सहमते हृदय से,
धरती और जल के साथ उसकी सह-रचना की मैंने ही
कल्पना भी की कभी।
फिर अपने उत्साह और कौशल लगाकर
किरणों से पोसा पिघली बर्फ़ को,
और अब देखता रहता, ईर्ष्या मिश्रित भावना से
चलता जा रहा है कैसे काम...

मैं कवि की, जो "धरती और जल के साथ सह-रचना" करने में सक्षम है, इन पंक्तियों को सहर्ष उद्धृत कर रहा हूं। इसी में उनकी आत्मा की शक्ति निहित है। और ईर्ष्या मिश्रित भावना से देखते रहने कि कैसे चलता जा रहा है काम, दावीद कुगुल्तीनोव का काम कैसे आगे बढ़ता जा रहा है। उनका खेत विशाल है।...

# सारस उड़ रहे हैं... *

सोवियत संघ के कलाकार संघ भवन के प्रदर्शनी कक्ष में सेर्गेई उरुसेव्स्की की पेंटिंगों और ग्राफ़िकों की प्रदर्शनी हो रही है।

यह यक़ीन ही नहीं होता कि इतने बड़े कलाचार्य, ऐसे प्यारे इन्सान, प्यारे मित्र को हमारे बीच से उठे एक साल से अधिक समय गुज़र चुका है। वक्त कितनी जल्दी बीतता है!

बहुत-से लोग उरुसेव्स्की को कई बेहतरीन फ़िल्मों के कैमरामैन के रूप में जानते हैं। प्रसंगतः, वह केवल ऐसे आपरेटर, टेक्निशियन ही नहीं थे, जो बस डायरेक्टर के निर्देशों का पालन करता रहा हो। उन्होंने चाहे किसी भी फ़िल्म के लिए कैमरे का प्रयोग किया हो, उन सब पर उनकी बेजोड़ कलात्मक शैली की छाप होती थी। मैं उनकी फ़िल्मों—'इकतालीसवां' और 'सारस उड़ रहे हैं'—के डायरेक्टरों और लाजवाब अभिनेताओं के योगदान को कदापि घटाकर नहीं आंकता। फिर भी मैं उरुसेव्स्की के प्रेरणामय कैमरा-कार्य के बिना इन फ़िल्मों की कल्पना नहीं कर सकता। यह कैमरा अपनी विशेष भाषा—सुनम्यता की भाषा—में उसे व्यक्त कर देता था, जो शब्द तक व्यक्त नहीं कर पाते थे। प्रकृति, लोगों के आपसी सम्बन्धों, कला के सृजन-कार्यों में ऐसी सूक्ष्मताएं होती हैं, जिन्हें हम तर्कबुद्धि के बजाय एक तरह अपनी सहजवृत्तियों से अनुभव कर लेते हैं, जो उस समय हमारी पकड़ में नहीं आतीं, जब हम सटीक अर्थों में, शब्दों की ठोस परिभाषा में उनके महत्व को संप्रेषित करने का प्रयत्न करते हैं।

उरुसेव्स्की का कैमरा आपरेटर की अन्तर्दृष्टि में ज़बर्दस्त प्रभाव पैदा करनेवाली रहस्यपूर्ण आन्तरिक शक्ति था। 'अप्रेषित चिट्ठी' के बाद मैं, शायद, हज़ार भिन्न-भिन्न फ़िल्में देख चुका हूं, जिनमें से कई उत्कृष्ट भी थीं। मैं उन्हें भूल चुका हूं। परन्तु उरुसेव्स्की की इस फ़िल्म

---

* 'लितेरातूर्नाया गज़ेता', २१ अप्रैल १९७६।

के दृश्य मेरे स्मृतिपटल पर इस तरह सजीव हैं, मानो मैं उन्हें इसी समय पर्दे पर देख रहा हूं।

हम लोगों का परिचय टेलिफ़ोन के माध्यम से हुआ था। एक दिन मुझे मास्को से फ़ोन आया। फ़ोन करनेवाले उरुसेव्स्की थे, जिनसे मैं पहले कभी नहीं मिला था, जिनसे मेरी पहले कभी कोई बातचीत नहीं हुई थी। वह बोले कि उन्होंने 'विदा, गुलसारी!' रचना पढ़ना अभी-अभी ख़त्म किया है, उन्हें बहुत पसन्द आयी और रातभर उसके बारे में सोचते रहे, और मुझे यह बताने के लिए मेरे घर का फ़ोन नम्बर ढूंढ़ा। मुझे यह मानना पड़ेगा कि यह मेरे लिए सुखद आश्चर्य की चीज़ थी। शीघ्र ही मुझे उरुसेव्स्की की एक चिट्ठी मिली, जिसमें उन्होंने 'विदा, गुलसारी!' पर आधारित फ़िल्म बनाने का प्रस्ताव रखा। इस तरह हमारी मैत्री आरम्भ हुई थी, यह मैत्री, दुर्भाग्यवश, अल्पकालिक, परन्तु सर्वथा प्रगाढ़ रही।

मैं अपने बेटों, पूरे परिवार के साथ अक्सर उनके घर जाया करता। मैं छायाचित्रों के ढेर से लगभग पूरी तरह भरे उनके एक कमरे के फ़्लैट को सदैव स्मरण करता हूं। तब तक मुझे पता नहीं था कि उरुसेव्स्की मूलत: चित्रकार थे, कि वह पेंटिंगों से फ़िल्मों के क्षेत्र में आये थे। इस खोज ने मुझे उनकी विनम्रता (वह अपनी पेंटिंगों के बारे में कभी नहीं बोलते थे) और ऊर्जस्विता का प्रशंसक बना दिया था। मैंने मन में कहा: "यह है असल इन्सान! कितनी सृजनशील शक्ति है इस मनुष्य में, जो फ़िल्म उद्योग में पूरा वक़्त काम करने के बाद भी पेंटिंग करने का—और वह भी इतने बेहतरीन ढंग से—समय निकाल लेता है!"

मेरा यह विश्वास है कि उनकी पेंटिंगें चाहे कहीं भी प्रदर्शित की जायें, वे दर्शक का ध्यान तुरन्त अपनी ओर खींच लेंगी, चाहे पास में कैसी ही दूसरी पेंटिंगें क्यों न हों। कलाकार की तकनीक, जीवन के प्रति उसके प्यार, जीवन का आनन्द लेने और उसकी क़द्र करने, उसके सबसे पेचीदे प्रश्नों पर विचार करने की उसकी क्षमता—ये सब चीज़ें अलग से ही नज़र आ जाती हैं। यह एक परिपक्व इन्सान की कला है, जिसने जीवन में बहुत कुछ देखा है, परन्तु साथ ही अपनी निर्मल, बालसुलभ संवेदनशीलता नहीं खोयी है। अपने कैन्वासों में वह अक्सर उन्हीं लोगों, उन्हीं आन्तरिक तथा प्राकृतिक दृश्यों को उतारते, जिन पर वे पहले काम कर चुके होते। परन्तु हर बार उनमें कुछ नवीनता होती,

मानो वह उन्हें पहली बार देख रहे हों। यह विश्व के प्रति उनके दृष्टिकोण की विशेषता थी।

उनकी पेंटिंगें सदैव मुख्य वस्तु पर केन्द्रित होती थीं। उन्होंने जिसे भी — मनुष्य, स्टिल लाइफ़, प्राकृतिक दृश्य — अपनी पेंटिंगों का विषय बनाया हो, उनके लिए अपने विषय के सार को उभारना सदैव महत्वपूर्ण हुआ करता था। वह अक्सर अपनी पत्नी बेल्ला का पोर्ट्रेट बनाया करते थे — उनमें से स्नेह टपकता है, वे मन:स्थिति के नाना अर्थभेदों को पकड़ लेते हैं और पत्नी के प्रति पति की भावनाएं प्रतिबिम्बित करते हैं।

मेरा यह विश्वास है कि किसी भी तरह की कला में सबसे कठिन कार्य किसी का पोर्ट्रेट बनाना है। कलाकार या लेखक चाहे किसी भी प्राकृतिक दृश्य को चित्रित करे, वह प्रकृति के किसी भी सौन्दर्य अथवा औद्योगिक परियोजनाओं के विराटत्व से हमारी कल्पनाशक्ति को चकित करने का चाहे कैसा ही प्रयत्न क्यों न करे, यदि उसकी कलाकृतियां मनुष्य को इस सबमें प्रेरणादायी ढंग से नहीं दर्शातीं, तो उसके सारे प्रयत्न निष्फल हैं। उरुसेव्स्की की कला का ठीक यही विषय तथा अर्थ है।

मौलिकता, लीक से हटकर चलना, अनुपमता — ये शब्द उरुसेव्स्की पर लागू किये जाने पर भी उनकी सृजनशीलता के रहस्य पर क़तई पूरा प्रकाश नहीं डाल पाते। मेरे लिए उसे "संगीत" शब्द पूरी तरह उजागर कर देता है। निस्सन्देह, यह स्वर-लिपिबद्ध संगीत नहीं है। परन्तु उरुसेव्स्की की कूंची और कैमरा का संगीत अविवादास्पद है।

वह लिखित शब्द से भी सही अर्थों में प्यार करते थे। सोवियत साहित्य में जो कुछ नया तथा रोचक होता, उसे वह उत्सुकतापूर्वक पढ़ जाते। जहां तक मेरी कृतियों का सम्बन्ध है, मैं केवल एक और व्यक्ति का नाम ले सकता हूं, जो उनमें इतनी हृदयस्पर्शी, आत्मीय रुचि लेता था। वह व्यक्ति थे द्मीत्री शोस्ताकोविच। इन दोनों में सामान्यतया सोवियत संस्कृति के प्रति उत्तरदायित्व की गहन अनुभूति थी। वे केवल संवेदनशील कलाकार ही नहीं, अपितु देशभक्त भी थे। वे हमारी संस्कृति, उदाहरण के लिए, साहित्य के क्षेत्र में घटनाओं पर मौन या उदासीन नहीं रह सकते थे। वे उसके भविष्य की चिन्ता करते थे तथा उसकी उपलब्धियों पर हर्ष मनाते थे।

'विदा, गुलसारी!' पर आधारित फ़िल्म की शूटिंग की तैयारी

के दौरान हम लोग स्थान चुनने के लिए सुसामीर नामक एक ऊंचे पठार पर पहुंचे। निस्सन्देह, मेरा जाना ज़रूरी नहीं था: हमेशा की तरह बहुत-सारे काम पड़े थे, समय की कमी थी और जाने के लिए कोई विशेष कारण भी नहीं था। फिर भी मैं गया और मैं भाग्य का आभारी हूं कि मैं वहां पहुंचा। उन रमणीक पर्वतों, शक्तिदायी ताज़ा हवा ने जीवन के अर्थ, इतिहास, सृजन पर, उस सब पर, जो महत्वपूर्ण है, चिन्तन और बातचीत की प्रेरणा दी। हमारी बातचीत अपार हर्ष का स्रोत थी।

हम लोग सपरिवार सुसामीर पहुंचे। मैं अपने बेटों को साथ ले गया था। उरुसेव्स्की के खींचे हुए उस यात्रा के छायाचित्र, जो अब भी हमारे पास हैं, भव्य हैं, सच्चे अर्थों में बिनारंग चढ़ी पेंटिंगें हैं। आपको कलाकार की शैली की अनुभूति होती है। हमारे घर में और भी सैकड़ों छायाचित्र हैं, परन्तु उनमें इन जैसा कोई भी नहीं है। मुझे विश्वास है कि मेरे बच्चे इन्हें सदा संजोकर रखेंगे।

सुसामीर में कुछ गड़ेरियों ने हमें भोजन के लिए आमंत्रित किया। जैसा कि आम रिवाज है, वहां समोवार, कुमिस (घोड़ी का किण्वित दूध) रखा हुआ था और मैत्रीपूर्ण बातचीत चलती रही। जब हम विदा होनेवाले थे, एक मेज़बान बोला: "वह, शायद, आपके बहुत घनिष्ठ मित्र हैं, सच है न?" इन सीधे-सादे लोगों को उरुसेव्स्की के आत्मिक सौन्दर्य का बोध हो गया था।

सुसामीर गगनचुम्बी पर्वतों के बीच सबसे ऊंचा स्थान है। मैं उस यात्रा से पहले और बाद में भी कई बार वहां जा चुका हूं। परन्तु मेरे मन में वह स्थान सदैव उरुसेव्स्की की याद के साथ जुड़ी रहेगी। मैं उसे अपने जीवन की विशेष तथा अविस्मरणीय घटना के रूप में याद रखूंगा, हालांकि उस समय, शायद, मैंने यह अनुभव नहीं किया था। ऐसा अक्सर होता है: हमें इसके लिए समय नहीं मिलता कि हम रुकें और अपने बारे में सोचें और अपने इर्द-गिर्द के लोगों की पूरी क़द्र करें।

एक साल बाद मैं उसी स्थान में पहुंचा, जहां उरुसेव्स्की शूटिंग कर रहे थे। इस बार वह भिन्न, अपने काम में डूबे व्यक्ति थे। नाना लड़ाइयों के बीच से गुज़र चुके सैनिक की भांति वह फिर एक और लड़ाई में कूद पड़े थे। उनके लिए उस समय अपनी कला के अलावा और कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं था। वह अपनी कला के लिए जी सके।...

उरुसेव्स्की इस नयी फ़िल्म की शूटिंग के बारे में विशेष रूप

से संवेदनशील थे। उन पर पुस्तक का जादू छाया हुआ था और वह लोगों के हृदय तक पहुंच सकनेवाली फ़िल्म बनाना चाहते थे।

कुछ लोगों ने उरुसेव्स्की जैसे उत्कृष्ट कोटि के कैमरामैन द्वारा सहसा फ़िल्म निर्देशन का काम हाथ में लेने के बारे में अपनी आशंकाएं व्यक्त की थीं। मैं उनसे सहमत नहीं था। उनके लिए निर्देशन के क्षेत्र में पदार्पण सर्वथा स्वाभाविक था। शायद, उन्होंने यह पग उठाने में ज़रूरत से ज़्यादा देरी की थी। उन्हें यह पहले कर लेना चाहिए था।

उरुसेव्स्की अपने को सदैव नौजवान अनुभव करते थे। उन्हें इस बात से चिढ़ तक होती थी कि मैं मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में उनके प्रति सदा श्रद्धा-भाव से बात करता था। एक बार मैंने उन्हें बुज़ुर्ग कहा। इस पर वह बोले: "क्या मैं इतना बूढ़ा हूं?" मैंने उन्हें समझाने का प्रयत्न करते हुए कहा कि मैं उन्हें बूढ़ा नहीं मानता, कि वह मेरे लिए हमेशा नौजवान, लाजवाब, खुले दिल के व्यक्ति हैं, कि उन्हें बुज़ुर्ग कहकर मैं केवल एक महान कलाकार के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त कर रहा हूं। "ओह, यह तो मेरी प्रशंसा है," यह कहकर उन्होंने इस बारे में बात वहीं ख़त्म कर दी।

मैं उनके साथ सुसामीर की अपनी यात्रा स्मरण करता हूं, और मेरी दृष्टि के समक्ष उरुसेव्स्की की छवि प्रकट हो जाती है—ज़िन्दादिल, चमकती आंखें, जो पहली बार इन पर्वतों के सौन्दर्य का रसपान कर रही थीं। रात हो गयी थी, आकाश बड़े-बड़े देदीप्यमान तारों से जगमगा रहा था, मानो वे अभी-अभी रचे गये हों। यह सपना-सा प्रतीत हो रहा था। एकाएक न जाने कहां से एक अन्तरिक्षीय राकेट नभ में प्रकट हुआ और अपने पीछे एक प्रचंड, अग्निमय निशान छोड़ गया। हम हतप्रभ खड़े थे, उस दृश्य से अपनी दृष्टि हटाने में असमर्थ।

उरुसेव्स्की उन उज्ज्वलतम व्यक्तियों में से एक थे, जिनसे भाग्य ने मुझे मिलाया था और वह मेरे मानसपट पर सदैव इसी रूप में अक्षुण्ण रहेंगे।

# प्रेरणा का पक्षी तथा धरती *

मैं बहुत अर्से से यह अनुभव करता आया हूं और हमारी व्यवसायगत चेतना में यह एक तरह की अपरिहार्य धुन रही है कि हम संस्कृति में किसी भी ऐसी चीज़ को बिना किसी सन्देह के नूतन घोषित कर देते हैं, जो मानो शून्य से आरम्भ होकर एक तरह के रहस्योद्घाटन के साथ हमें मंत्रमुग्ध कर देती है।

यही साहित्यिक समालोचना में बहुत सारे विभिन्न "वादों" के, नये गढ़े गये पदों के प्रकट होने का कारण है, जिन्हें लोग इन चीज़ों की प्रभावशाली ढंग से व्याख्या करने, यही नहीं, उनकी प्रकृति तथा सार को समझाने के लिए उपयोग में लाते हैं। इनमें "जादूई यथार्थवाद", "मिथकीय यथार्थवाद", "अन्तरिक्षीय दृष्टि", आदि, आदि शामिल हैं।

मेरी राय में, कोई भी प्रेरणा, अन्ततः, कलाकार की धरती से, यथार्थ से, लोगों के इतिहास से और नियति से पैदा होती है, जिसे विश्व की छवि की रचना कर रहे कलाकार की सशक्त धुन रूपान्तरित कर देती है और इस ध्येय की सिद्धि के लिए वह कला के चुम्बकीय क्षेत्र में किसी भी आवश्यक तत्त्व को—लोककथा, मिथक, प्राचीन काव्य, नवीनतम वैज्ञानिक आविष्कारों को—खींच ले आता है, बशर्ते ये तत्त्व उस कलाकार का, स्वभावतः, अभिन्न भाग हों और मात्र फ़ैशन या नक़ल न हों।

आखिरकार, आज के उत्कृष्ट लैटिन अमरीकी गद्य का क्या अपना पूर्वगामी नहीं था? और यह पूर्वगामी केवल लोकसाहित्य ही नहीं था।

हमारे अपने लेखकों ने जगत के इस असामान्य तथा संश्लेषणकारी प्रत्यक्षबोध के इस क्षेत्र में प्रवेश किया था—गोगोल, ओदोयेव्स्की,** बुल्गाकोव।... इसमें अचरज की कोई बात नहीं है—गाब्रियल गार्सिया

* 'प्राव्दा', १८ सितम्बर १९८४।

** रूसी लेखक तथा संगीत-समीक्षक, रोमांटिक और दार्शनिक कल्पनाप्रधान उपन्यासों के रचयिता व्लादीमिर ओदोयेव्स्की (१८०३ या १८०४-१८६९)।

मार्क्वेज़ तोलस्तोय को गर्वपूर्वक अपना गुरु बताते हैं। और अपनी बारी में तोलस्तोय प्राचीन यूनानियों को अपना पूर्ववर्ती बताते थे।

इसका अर्थ क्या है? "विश्व साहित्य" के जन्म तथा विकास की प्रक्रिया स्मरणातीत काल से चल रही है, हालांकि स्वयं इस पद का जन्म बहुत बाद में हुआ। हम सब सर्वमानवजाति की अन्योन्यक्रिया में ऐक्यबद्ध हैं, चाहे हम इसे अनुभव करते हों या न करते हों।

साथ ही प्रत्येक बड़े लेखक का "अपना" युग, विकास-संवर्द्धन का अपना तत्त्व, अपनी अनुपम नियति होती है। और वही प्रेरणा का पक्षी है।

कभी-कभी सचमुच ऐसे प्रतीत होता है कि नियति कम्प्यूटर की भांति बहुसंख्य तथा बिखरे तुल्यरूपों में से त्रुटिरहित परिमाण की गणना करने में सक्षम है।

पहले विश्वयुद्ध से कुछ ही समय पूर्व एक किसान परिवार से आनेवाले एक रोमांटिक नौजवान ने एक छोटे-से उक्रइनी नगर में पढ़ाना शुरू किया। शायद, निचली श्रेणियों के रोमांटिक क़िस्म के ऐसे बहुत-से नौजवान थे, जिन्होंने युद्धपूर्व के यूरोप के शहरों और क़स्बों में अध्यापक का जीवन आरम्भ किया था। परन्तु भाग्य ने इस विशेष नौजवान के लिए, जो बिल्कुल भोला, स्फटिकवत शुद्ध, अथक, अपनी भरपूर भावनाओं के कारण और कुछ न कुछ कर दिखाने की इच्छा के कारण—पर उसे यह पता न था कि वह आत्माभिव्यक्ति के लिए अपनी शक्ति को कहां और कैसे निदेशित करे—उतावला था, एक नयी कला की, जिसे कोई भी गम्भीरता से नहीं लेता था, प्रभातवेला में महान भविष्य पूर्वनिर्धारित कर दिया था। यह कला थी सिनेमाटोग्राफ़ी। फ़िल्म-निर्माण कला को, जो इस शताब्दी के आरम्भ में चमत्कारी चलती-फिरती तस्वीरों के रूप में प्रकट हुई थी, निस्स्वार्थ, ध्येय को पूर्णत: समर्पित ऐसे सन्देशवाहकों तथा अग्रदूतों की आवश्यकता थी, जिन्हें टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होते हुए मनोरंजन के सबसे सर्वग्राही जनव्यापी रूप के शिखरों तक का मार्ग प्रशस्त करना था। नियति ने दोवझेंको को चुना। उसने इस व्यक्ति के असाधारण चरित्र का ठीक-ठीक अनुमान लगा लिया था, जिसे उसकी ज्वालामुखी जैसी उस सृजनात्मक क्षमता और जनसाधारण की क्रान्तिकारी शक्ति ने पुख़्ता बनाया था, जिसकी जड़ें नाना कलाकारों को पोषित करनेवाले उक्रइनी महाकाव्य में पहुंची हुई थीं। बात बिल्कुल ऐसी ही थी, इस तथ्य की कि एक ही परिघटना के दो आनुवंशिकीय स्रोत थे, पूर्ण पुष्टि समय तथा जीवन करेंगे।

यह नियति थी १९१७ की अक्तूबर क्रान्ति, जिसने एक नयी संस्कृति के अग्रदूतों की एक पूरी मंदाकिनी की, सोवियत बहुजातीय साहित्य तथा कला के भावी जनकों की प्रेरणा पोषित की।

दोवभेंको का विद्रोही स्वभाव मयाकोव्स्की के स्वभाव की भांति था और महान कवि की ही भांति कलाकार और व्यक्ति के रूप में उनका जन्म भी समाजवादी क्रान्ति के गर्भ में हुआ था। इस अर्थ में दोनों अपनी उदात्त आत्मा, गहन भावावेशों, क्रान्तिकारी उत्कटता के मामले में एक ही सेतु के दो बराबर-बराबर अवलम्ब थे, एक ही आन्दोलन की दो परिणामी शक्तियों की भांति थे। यहां भी भौतिकी की भांति परिणामी शक्तियां वेग की शक्ति निर्धारित करती हैं। और दोनों के दोनों, जिनका क्रान्ति ने आह्वान किया था, अतिद्रुत वेग में उसी भांति मिटते चले गये, जिस भांति देदीप्यमान धूमकेतु तारा जटित नभमंडल में मिटते जाते हैं।...

परन्तु गहरी सांस लेने और दोवभेंको की उपलब्धियों का विश्लेषण करने का समय आ गया है, जो समय के बीतने के साथ किंवदन्तियां बनती जा रही हैं।

आज हम दोवभेंको के जन्म की ९०वीं जयन्ती मना रहे हैं।...

समय का चक्र घूमता जाता है और सब कुछ बदलता चला जाता है, जबकि कला के शिखर मिटाये नहीं जा सकते, उनसे आगे नहीं निकला जा सकता, वे अपने स्थान पर बने रहते हैं। परन्तु विज्ञान में प्रत्येक नये परिणाम को कल नये, उच्चतर परिणाम पीछे छोड़ देते हैं, विज्ञान इसी प्रकार अनवरत रूप से प्रगति करता जाता है।

तोलस्तोय को एक किनारे छोड़कर दूसरा तोलस्तोय बनना असम्भव है। शायद, हममें से कुछ इसका प्रयास करते हैं, प्रयास करने में कोई हानि नहीं है। यदि आप उन शिखरों पर पहुंच सकते हैं, तो अवश्य आगे बढ़िये, प्रयास कीजिये।... परन्तु स्वयं तोलस्तोय को कोई पीछे नहीं छोड़ सकता, उसी तरह जिस तरह कोई पुश्किन, दोस्तोयेव्स्की या गोर्की से कभी आगे नहीं निकल सकता।... ये सब स्वायत्त महाद्वीप हैं, आत्मा के अनुपम जगत हैं।

यही बात फ़िल्म बनाने पर लागू होती है, हालांकि क्षणभंगुरता में इस कला का भी अपना काफ़ी हिस्सा है। परन्तु मैं रोज़मर्रा की नहीं, अपितु बड़ी फ़िल्मों के बारे में बात कर रहा हूं। इस क्षेत्र में भी दीर्घकालीन जगतों की बात कर सकते हैं, जो समय की कसौटी पर खरे उतरे हैं,

हमारे हाल के अतीत और वर्त्तमान, हमारे सामाजिक और आत्मिक अनुभव हमारी जनता के, जिसने मानवजाति के इतिहास में सबसे बड़ा तथा साहसपूर्ण पग उठाने—समाजवाद का निर्माण करने—की हिम्मत की, लक्षणों तथा गुणों को प्रतिबिम्बित करते हैं।

दोवभेंको उन प्रतिभाशाली मनीषियों और कलाकारों में से थे, जिन्होंने जीवन के बारे में अनश्वर, अडिग सत्य कहने के लिए अपनी मेधा का उपयोग किया था।

दोवभेंको के सृजन के महत्व को सोवियत फ़िल्म कला के चौखटे तक सीमित नहीं किया जा सकता, हालांकि उनके विषय सर्वथा सोवियत, अधिक सटीक शब्दों में, उक्रइनी थे, अथवा केवल वे थे, जिनकी उन्होंने स्वयं रचना की थी।...

जो कार्य उन्होंने किया, वह हिमशैल की भांति था, याने वह उससे कहीं बड़ा था, जो पहली नज़र में प्रतीत होता है।...

यही चीज़ सदैव सच्चे अर्थों में महान आचार्य का बहुमुखी सार हुआ करता है, वह चट्टान के बारे में कहता है, परन्तु, वस्तुत:, पर्वत के बारे में बात करता है, वह गांव के बारे में कहता है, परन्तु, दरअसल, पृथ्वी के बारे में बात करता है, वह एक दिन के बारे में कहता है, परन्तु, दरअसल, एक पूरे युग के बारे में बात करता है।

परन्तु वस्तुओं का सार इस तरह केवल बिम्ब और चिन्तन के क्रान्तिकारी चित्रण के रिएक्टर में ही अभिव्यक्त करना सम्भव है। दोवभेंको ठीक ऐसे ही चिन्तन-रिएक्टर थे। ज़बर्दस्त उथल-पुथलों के उस ज़माने का सिनेमा में महाकाव्यमय चित्रण करने के लिए हम उनके हार्दिक आभारी हैं। अन्य प्रमुख सोवियत फ़िल्म-निर्माताओं के साथ दोवभेंको विश्वव्यापी घटनाओं की पृष्ठभूमि में जनता के बौद्धिक स्तर को मापने का उच्चतम कलात्मक पैमाना थे।

यह उनके चिन्तन और वास्तविक जीवन से लिये गये बिम्बों की शक्ति थी। अपने समकालीनों में से सबके सब जीवन के चित्रण में द्वन्द्वात्मकता के विश्व को गहन बनाने की कलाकार की आकांक्षाओं और ऐसे बड़े सामान्यीकरण के स्वरूप को तत्काल नहीं पहिचान सकते। इसका कारण परिवेश का सशक्त जड़त्व है, जो सदैव सरलीकरण और मिठासभरे चित्रण की ओर आकृष्ट होता है। साथ ही महाकाव्यात्मक कृतियों तक में अस्तित्व की समस्त समस्याओं का विवेचन करना, न्याय की स्थापना करना और सौन्दर्य के संज्ञान की अनन्त पिपासा बुझाना

सदैव सम्भव नहीं हुआ करता। इसका कारण यह है कि एक समस्या, जिसका पर्याप्त गहनता के साथ विवेचन कर दिया जाता है, अपने पीछे दूसरी समस्या पैदा कर जाती है, क्योंकि जनता का जीवन अनन्त है और फिर सदैव ऐसे प्रतीत होता है मानो बहुत कुछ अनकहा रह गया है। हम यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकते कि क्षितिज के पार कहीं नया परिदृश्य प्रकट हो गया है, ऐसा परिदृश्य, जो और भी अधिक आकर्षक या चिन्ताजनक तक है, और जिसे अभी पहिचाना जा रहा है। इसलिए उसके बारे में बात करना, उसे पूरी तरह अनुभव करना आवश्यक है, चाहे वह मानव की त्रासदी हो अथवा कामदी। शायद, इसी कारण दोवभेंको ने अपनी शिकायत करते हुए कहा था: "स्पष्टतः, बुद्धिमत्ता के संज्ञान का कोई कण हमारे कानों में फुसफुसाता है—कितना कम कर पाये हो तुम, चित्रण में पूर्ण स्पष्टता हासिल कर सकने के लिए कितना कुछ करना और सीखना है तुम्हें, मात्र अनुभव करना ही नहीं।..."

परन्तु कड़ी अपेक्षाएं करने की दोवभेंको की प्रकृति के बावजूद उनकी समस्त योजनाओं, उनके समस्त सिनेमा कथानकों की शूटिंग के कार्य को मूर्त्त रूप नहीं दिया जा सका था। यह इतने वर्ष बीत जाने के बाद भी सचमुच खेद की बात है, हमारे लिए जीवन के इन पहलुओं पर विचार करने का समय आ गया है, क्योंकि हर चीज़ का वक़्त होता है, जीवित रहने का समय और जाने का समय: कलाकार को प्राप्त समय के अन्दर उसके उपयोगी सृजनशील समय का विस्तार करना—यह है वह कार्य, जिसके लिए हमें कला की सहायता करने तथा उसका निदेशन करने हेतु प्रयास करना चाहिए।

जहां तक दोवभेंको के सृजन-कार्यों में साहित्य तथा फ़िल्म के सह-सम्बन्ध और अन्योन्यक्रिया का सरोकार है, यह बातचीत का एक विशेष विषय है। चाहे कोई लेखक हो या डायरेक्टर अथवा अभिनेता, सिनेमा-जगत में पदार्पण करनेवाले हर व्यक्ति को, मेरी राय में, लेखक तथा निदेशक के रूप में दोवभेंको की शैली तथा अन्तर्दृष्टि को समझने का प्रयास करना चाहिए। कला के दो रूपों के बीच दोवभेंको का अनुपम साहित्य अत्यन्त उल्लेखनीय है। सम्भवतः, साहित्य तथा फ़िल्म का यह संयोजन आधुनिक फ़िल्म-कला के, ऐसी कला के विकास की भूमंडलीय प्रवृत्तियों में से एक है, जो चिन्तन की कला और साहित्य के साथ, उस द्वारा उठायी जानेवाली समस्याओं तथा जीवन की उस द्वारा चित्रित परिघटनाओं के साथ विलय और संश्लेषण की ओर अधिकाधिक झुकती

जा रही है। और परिपक्व दोवभेंको के दार्शनिक साहित्य के साथ संघबद्ध होने की यह अधिकाधिक हावी होती जाती प्रवृत्ति सस्ते ढंग की हालीवुड की फ़िल्मों के और आम तौर पर सारी बुर्जुआ भीड़-संस्कृति के मूलत: विपरीत है।

जब हम दोवभेंको की बात करते हैं, तो हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उन्होंने अपनी जातीय संस्कृति, जातीय काव्य, चिन्तन की जातीय शैली को ज्वलन्त रूप से प्रकट किया था। वह सच्चे उक्रइनी कलाकार बने रहे, परन्तु इसके साथ ही उनकी सृजनशीलता की सामाजिक अन्तर्वस्तु हर उस चीज़ की पैरवी करती थी, जो सोवियत थी, जो विश्व के प्रथम बहुजातीय समाजवादी समुदाय में हमें ऐक्यबद्ध करती तथा सुदृढ़ बनाती थी। वह अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे और हैं। वह सबके हैं, हर उस चीज़ के हैं, जो इस अनुपम तथा गौरवमय समुदाय में हमारे जनगण की शोभा बढ़ाती है।

मेरे पर्यवलोकनों के अनुसार, जिनमें काफ़ी हद तक विदेशों में मेरे पर्यवलोकन भी शामिल हैं, जातीय संस्कृति की आज की स्वयं अवधारणा, जो २०वीं शताब्दी की कला तथा साहित्य में अत्यन्त ज्वलन्त रूप में प्रकट हुई है, सर्वप्रथम सोवियत जातीय संस्कृतियों के साथ सम्बन्धित है।

इसे सब लोग—मित्र तथा शत्रु—स्वीकार करते हैं। इस मामले में विश्व का बुद्धिजीवी समुदाय विश्वव्यापी महत्व की परिघटना के रूप में हमारी ओर दृष्टिपात करता है। अतीत में व्यवसायगत कज़ाख़, अवार, यहां तक कि बलकार साहित्य की कौन कल्पना कर सकता था? आज आवेज़ोव, हमज़ातोव और कुलीयेव जैसे सर्वमान्य नामों को विश्व साहित्य में स्थान देने से कौन इन्कार कर सकता है?

विद्वानों और समालोचकों का सबसे तात्कालिक कार्यभार, मेरी राय में, यह है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय पाठकों के लिए हमारे नाट्य, सांगीतिक तथा दृष्टव्य कलाओं के, जो हमारी अनुपम जातीय संस्कृतियों को प्रतिबिम्बित करती हैं, अनुभव का ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी तथा सुबोध कृतियों में विश्लेषण करें।

मैं इस बारे में इसलिए बात कर रहा हूं कि हमारे घर में जो कुछ है, जिसके हम आदी हैं, उसका हम पूरा मूल्य नहीं समझते, हम इस बात की सदा क़द्र नहीं कर पाते कि हमारे देश में जातीय संस्कृतियों का आन्तरिक सम्बन्ध तथा पारस्परिक प्रभाव एक अनुपम ऐतिहासिक प्रक्रिया

है, उल्लेखनीय उपलब्धि है, सांस्कृतिक सम्पदा के विश्व भंडार में हमारा योगदान है।

प्रेरणा का पक्षी कलाकार की आत्मा को तभी बुलंदी पर पहुंचाता है, जब उसके पांव अपनी धरती पर, यथार्थ की धरती पर मज़बूती से खड़े होते हैं। सम्भवतः, यह क़िर्ग़िज़ कहावत क़तई संयोग की बात नहीं है: "ज़मीन पर पड़ा अंडा पक्षी के रूप में आकाश में उड़ता है, परन्तु वह पक्षी भी धरती को लौट आता है।"

३

# और कोई विकल्प नहीं है

# और धरती निर्मल हो गयी *

अब कुछ ही दिनों बाद अफ़्रीकी और एशियाई लेखकों का पांचवां सम्मेलन सोवियत संघ की धरती पर, अल्मा-अता ** में शुरू होनेवाला है। मैं यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता कि तुर्क भाषा में लिखनेवाले एक सोवियत साहित्यकार के नाते यह तथ्य मेरे लिए अर्थपूर्ण है।

अल्मा-अता आधुनिक एशियाई नगर है, जो अक्षरश: हमारी नज़रों के सामने बड़ा हुआ है। मेरी राय में, यह फलता-फूलता नगर आधुनिक पूर्वी संस्कृतियों की तरुण तथा तेज़ी से बढ़ती हुई शक्तियों का प्रतीक बन गया है।

स्वभावत:, ऐसे अवसर की पूर्ववेला में हममें से हरेक, जो अफ़्रीकी और एशियाई लेखक संघ के पांचवें सम्मेलन में भाग लेगा, संगठन के उद्देश्य, उसमें हमारी भूमिका और हमारे समक्ष खड़े कार्यभारों के विषय में सोच रहा है।

इस बात पर विचार किये बग़ैर नहीं रहा जा सकता कि संघ की स्थापना दूसरे विश्वयुद्ध में फ़ासिज़्म की पराजय से संबंधित थी। इस तथ्य को समझना अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि फ़ासिज़्म की पराजय समस्त जनगण की नियति में एक युगान्तरकारी मोड़ थी, पूंजीवादी औपनिवेशिक प्रणाली के धराशायी होने की प्रक्रिया का आरम्भ थी। एक के बाद दूसरी पीढ़ी का जन्म होता रहेगा, परन्तु इतिहासकार नाना प्रमुख घटनाओं का मूल मानवजाति के सबसे कट्टर शत्रु पर इस विजय में, विश्वव्यापी महत्व की इस विजय में देखेंगे, जिसमें समाजवाद की शक्तियों ने निर्णायक भूमिका अदा की।

सामाजिक संरचना की और उत्पादक शक्तियों के विकास की दृष्टि से हम अत्यन्त संजटिल काल में जी रहे हैं। एक ओर, इन्सानी नस्ल उस

---

* चंगेज़ आइत्मातोव के लेख का, जो 'लितेरातूर्नाया गज़ेता' में २२ अगस्त १९७३ को प्रकाशित हुआ था, संक्षिप्त रूप।

** सोवियत संघ के पन्द्रह जनतंत्रों में से एक, कज़ाख़स्तान, की राजधानी।

जगह पहुंच गयी है, जहां इस शाश्वत भय का कि "दो जून की रोटी कैसे कमायें", स्थान इन दार्शनिक समस्याओं ने ले लिया है: "किस लिए जीवित रहा जाये, किस ख़ातिर जीवित रहा जाये, जीवन किसे अर्पित किया जाये, जीवन का लक्ष्य तथा सार क्या है?" दूसरी ओर, एक ही धरती पर, हमारी बग़ल में ऐसे लाखों-लाख लोग जी रहे हैं, जिनकी सारी चिन्ता—यह हमारे लिए शर्म की बात है—बस यह बनकर रह जाती है कि जीने के लिए कम से कम रोटी के दो टुकड़े कैसे जुटाये जायें। एशिया, अफ़्रीका, प्रशांत महासागरीय क्षेत्र तथा लैटिन अमरीका में आबादी के काफ़ी बड़े भाग की इस स्थिति के लिए उपनिवेशवाद उत्तरदायी है। उसके अपराधों की सूची बहुत लंबी और अभी अपूर्ण है। उपनिवेशवाद का सब से बड़ा अपराध यह है कि उसने मानवजाति के अन्तर्निहित साधनों को ज़बर्दस्त नैतिक, संभाव्य नुक़सान पहुंचाया है, जिसका परिणाम सभ्यता की "टेढ़ी-मेढ़ी आकृति", जातियों के गठन, राज्यों की स्थापना तथा व्यक्तित्व के विकास में असन्तुलन है। और यहां हमारा सामना एक ऐसी परिघटना से होता है, जब हम यह नहीं कह सकते कि यह तो दूसरों की मुसीबत है।

आज दो विशाल महाद्वीपों—एशिया और अफ़्रीका—के बहुसंख्य जनगण को राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के लिए समाधान ही नहीं, अपितु अपने जनगण के जीवन के अधिक जटिल पहलुओं के विकास की, अपनी संस्कृतियों के विकास की विधियां भी चुननी पड़ेंगी। राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न रूपों को, जो नयी परिस्थितियों के अनुकूल हों, तात्कालिक रूप से आवश्यक बना देती है। अन्यथा राजनीतिक स्वतंत्रता निष्फल हो जाती है। यही व्यापक एशियाई-अफ़्रीकी सांस्कृतिक मोर्चे की आवश्यकता का कारण है, जो साम्राज्यवाद और नवउपनिवेशवाद का मुक़ाबला कर सके।

औपनिवेशिक प्रणाली एशिया और अफ़्रीका के देशों के लिए भयावह धरोहर छोड़ गयी। औपनिवेशिक विभाजन की नीति ने प्राचीन सभ्यताओं के परंपरागत संबंध-सूत्रों और संयुक्त मूलों को नग्नतापूर्वक विश्रृंखलित कर दिया और वहां नये सम्बन्ध अभी विकसित नहीं हुए हैं। इस स्थिति में एशिया और अफ़्रीका में नये जीवन और नयी संस्कृति के लिए संघर्ष के बुनियादी मसलों को लेकर ऐक्यबद्ध ढंग से कार्रवाई करने के कार्य ने जीवन्त महत्व धारण कर लिया था। एकजुटता का ऐसा

एक संगठन अफ़्रीकी और एशियाई लेखकों ने स्थापित किया। उसमें सोवियत लेखक शामिल हो गये, जो सक्रिय भूमिका अदा करते हैं। यह साहित्य की प्रगति के क्षेत्र में समस्त प्रगतिशील शक्तियों के साथ हमारी आत्मिक एकजुटता, अन्तर्राष्ट्रीयतावादी प्रतिबद्धता है।

एशिया और अफ़्रीका में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन २०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सर्वाधिक सशक्त सामाजिक प्रगति का द्योतक बन गया है। इतिहास इससे पहले कभी इतने सारे जनगण के एकसाथ जागरण का साक्षी नहीं रहा। साहित्य ने सबसे पहले ऐतिहासिक परिवर्तन अनुभव किये हैं और स्वभावतः एशिया तथा अफ़्रीका के लेखकों ने सामान्य साम्राज्यवादविरोधी कार्यभार सम्पन्न करने की ओर लक्षित अपनी कार्रवाइयों को पुख़्ता बनाने की आवश्यकता दूसरों से अधिक तीक्ष्णतापूर्वक अनुभव की। इन देशों के लेखकों के लिए आवश्यक है कि वे मानवजाति की आधुनिक उपलब्धियों की तुलना में अपनी सांस्कृतिक धरोहर का संजीदगी से मूल्यांकन करें और यह निर्धारित करें कि अतीत का कौन-सा भाग जीवन्त है तथा कौन-सा कालातीत हो चुका है, प्रगति में क्या सहायक होता है और क्या उसमें रुकावट डालता है, कौन-सी चीज़ नवस्वतंत्र जनगण को विश्वसम्बन्धों की बहुमुखी प्रणाली में अधिक तेज़ी से अपना स्थान ग्रहण करने से रोकती है, एकता और नये मानवतावादी दिशा-निर्धारण में कौन-सी चीज़ सहायता देती है और कौन-सी चीज़ जनगण को अलग-थलग करती है और इस तरह उपनिवेशवाद के हाथों में खेलती है, जिसने अपनी स्थितियों का अभी कदापि त्याग नहीं किया है।

आज कोई भी साहित्य सम्पर्कों के बिना प्रगति नहीं कर सकता, और साहित्य पर कोई भी बहस उसे विश्व संस्कृति का अंग माने बिना अपूर्ण है।

मैं बंगाली समालोचक सरवर मुर्शीद के इस विचार से पूर्णतः सहमत हूं कि आज हर किसी साहित्य को यह तय करना होगा कि वह अपने को विश्व साहित्य का अभिन्न अंग मानेगा अथवा केवल अपने घर में ही "महान" बना रहेगा। "निजी महानता" का प्रलोभन आत्म-संतोष और वहां से जड़सूत्रवाद की ओर ले जाता है।

इसलिए प्रगति की आकांक्षा रखनेवाले प्रत्येक साहित्य को आत्म-मूल्यांकन के लिए अधिकतम कसौटियों का उपयोग करना चाहिए। अलगाव और स्थानीयवाद को दूर करने का यही एकमात्र तरीक़ा है, व्यवसायगत पारंगतता का एकमात्र पैमाना विश्व साहित्य है।

भावनात्मक दृष्टि से मैं कुछ एशियाई और अफ़्रीकी लेखकों के मन में यूरोपकेन्द्रीयतावाद, यूरोपीय मानसिकता, यूरोपीय सभ्यता के प्रति, जिन्हें वे औपनिवेशिक प्रभुत्व और अपनी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के अपमान के साथ जोड़ते हैं, पूर्वाग्रहों के कारणों को समझ सकता हूं। परन्तु सबसे अधिक प्रगतिशील अफ़्रीकी और एशियाई बुद्धिजीवी अपनी जातीय संस्कृतियों को समृद्ध बनाने के लिए लंबे अर्से से यूरोपीय अनुभव का उपयोग करने का प्रयास करते आये हैं। उसे वे ऐसी चीज़ मानते हैं, जो पृथ्वी पर वास करनेवाले सब लोगों की है।

क्या सोवियत संघ के साहित्य अच्छा उदाहरण नहीं हैं? उनके विकास का मूलभूत सिद्धान्त है देश के अन्दर और साथ ही विश्वव्यापी पैमाने पर सतत पारस्परिक प्रभाव तथा एक-दूसरे को समृद्ध बनाने की प्रक्रिया। हम यह मानते हैं कि मानव की मेधा की समस्त उपलब्धियां हम सबकी सम्पत्ति हैं और इस भंडार में से उसे ग्रहण करते हुए हम अपने देश में साहित्य तथा संस्कृति के विकास में सहायता देते हैं और हम यह मान सकते हैं कि हम बौद्धिक संस्कृति की आम निधि में अपना योगदान कर रहे हैं।

साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रत्येक साहित्य के समक्ष अपने राष्ट्रीय कार्यभार होते हैं।

एशिया और अफ़्रीका के अपने सहयोगियों से बातचीत के दौरान मैं बहुधा यह सुनता हूं: "२०वीं शताब्दी राष्ट्रवाद की शताब्दी है।" यह तुरन्त वाद-विवाद को जन्म दे देता है। इस जटिल और व्यापक अवधारणा—राष्ट्रवाद—की स्पष्ट समझ होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अगर तात्पर्य राष्ट्रीय पार्थक्य के किसी भी मत से, एक जाति की दूसरी जाति पर श्रेष्ठता के किसी भी सिद्धान्त से अथवा संकीर्ण स्वार्थपूर्ण राष्ट्रीय-राज्यीय हितों से है, तो इनमें से कोई भी मुझे स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि ये सब अति प्रतिक्रियावादी हैं, जो आत्म-सन्तोष, अहंकार और फलस्वरूप बौद्धिक तुच्छता की ओर ले जाते हैं।

यदि तात्पर्य अनुपम जातीय तथा सांस्कृतिक लक्षणों से है, जो समस्त जनगण के युग-युगों के प्रयासों के फल हैं, तो यह दावा करने का कोई आधार नहीं है कि भाषाओं और संस्कृतियों के संरक्षण तथा विकास के प्रयास आम प्रगति के लिए नकारात्मक होते हैं। यही नहीं, ऐसे दावे अदूरदृष्टि के द्योतक हैं। विश्व संस्कृति की रंगपट्टिका में से एक भी रंग की क्षति अपूरणीय होती है। यह सर्वथा स्पष्ट है कि ये प्रश्न एशिया और

अफ़्रीका में क्यों इतने दर्दनाक ढंग से तीक्ष्ण हैं—उनके जनगण के लिए जातिसंहार के ख़तरे का लोप अभी-अभी आरम्भ हुआ है।

जिन समस्याओं पर हम अपनी बैठकों और अपनी पत्रिका 'लोटस'* में विचार करते हैं, वे बताती हैं कि हमारा संगठन परिपक्व हो चुका है। इसका कारण यह भी है कि राजनीतिक स्वतंत्रता के एक उद्देश्यीय संघर्ष का स्थान अब एशिया और अफ़्रीका के समस्त नवस्वतंत्र देशों में गहन सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों ने, ऐसे परिवर्तनों ने ले लिया है, जो इस बात का तक़ाज़ा करते हैं कि साहित्य और कला के माध्यम से उनका विश्लेषण किया जाये। कार्यसूची में कला से सम्बन्धित प्रश्न हैं, जिन्हें इस समय हो रहे विराट परिवर्तनों की भावना में साहित्य का, यथार्थवादी साहित्य का विकास करने की आवश्यकता ने जन्म दिया है।

मेरे विचार में, विश्व साहित्य की एक सबसे बड़ी समस्या यथार्थवाद या, अधिक सटीक शब्दों में, साहित्य में यथार्थवाद की समझ का स्तर थी और है। मेरा तात्पर्य किससे है?

यथार्थवाद अन्य विधियों के साथ जटिल पारस्परिक सम्बन्धों के बीच जीता और विकसित होता है। इस समय मेरी मुख्य चिन्ता का विषय यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद के बीच सम्बन्ध है। क्यों?

साहित्य में यथार्थवाद उसकी परिपक्वता का सूचक होता है। छायाचित्रीय यथार्थवाद, जो कलाकार को कोई चीज़ उसकी पूर्णता के साथ चित्रित नहीं करने देता, तथा मिथ्या स्वच्छन्दतावाद, जो साहित्य को धरती से अलग कर देता है—ये दोनों समान रूप में बचकानापन हैं। यथार्थवाद की विधि कलाकार के लिए यह सम्भव बनाती है कि वह किसी प्रवृत्ति के परिघटना बनने से पहले ही उसे देख ले और उसके प्रति अपना रुख़ प्रकट करे। यथार्थवादी कलाकार जीवन के एक भी पहलू को अपनी दृष्टि-परिधि से बाहर नहीं छोड़ सकता, अन्यथा वह यथार्थ का सच्चा चित्रण नहीं कर सकता, चाहे यह यथार्थ परिघटना सकारात्मक हो या नकारात्मक, चाहे वह वांछनीय हो या अवांछनीय। जीवन को पूर्ण रूप में न देख पाना कलाकार का दुर्भाग्य है, विश्व के प्रति अपने दृष्टिकोण को सचेत रूप से संकीर्ण करना उसका अपराध है, चाहे उसके कोई भी प्रयोजन हों।

---

* 'लोटस' (कमल)—एशियाई तथा अफ़्रीकी लेखक संघ की स्थायी परिषद की १९६८ से अंग्रेज़ी, अरबी और फ़्रांसीसी भाषाओं में प्रकाशित होनेवाली त्रैमासिक पत्रिका।

स्वच्छन्दतावाद भावुकतापूर्ण, घोषणात्मक होता है—वह यथार्थ के प्रति आदर्शीकृत दृष्टिकोण है, संकीर्ण झलक है, जो, निश्चय ही, यथार्थ को सजाने-संवारने की इच्छा से उत्पन्न होती है। इसमें, सामान्यतया, कुछ भी ग़लत नहीं है। समस्या तब पैदा होती है, जब विश्व की झलक को सत्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सुन्दर और "भोला" स्वच्छन्दतावाद विकासमान देशों के नवजात साहित्य तथा कलाओं के लिए और भी गम्भीर बन जाता है, क्योंकि इस तरह का कलात्मक चिन्तन सृजनशीलता की शुरूआती मंज़िलों की अभिलाक्षणिकता है। शायद, नये साहित्य का सबसे तात्कालिक कार्यभार यह है कि वह अधिक परिपक्व साहित्यों के अनुभव का सहारा लेते हुए सच्चे यथार्थवाद में संक्रमण की गति को तेज़ करे।

मैं इस बात का क़ायल हूं कि साहित्यिक कृतियों के मूल्य को सही तौर पर समझना ज़रूरी है। कोई भी विषय, वह विचारधारात्मक दृष्टि से चाहे कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, घटिया और मामूली क़िस्म के साहित्य को, दूसरे शब्दों में, प्रतिभाशून्य लेखन को उचित नहीं ठहरा सकता। और इसके विपरीत कोई भी नवाचारात्मक रूप या कुशलतायुक्त शैली तथा बिम्ब-विन्यास किसी साहित्यिक कृति को आत्मिक तथा कलात्मक दृष्टि से मूल्यवान नहीं बना सकते, यदि वह प्रेरणारहित हो, उसमें विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु और चिन्तन की गहराई का अभाव हो। हमें इसकी याद दिलानी पड़ती है, क्योंकि अपने दैनंदिन व्यवहार में हम साहित्यिक तथ्यों का मूल्यांकन करने में इस या उस छोर पर पहुंच जाते हैं। अपने प्रति कड़ाई बरतना—यह गुण कभी किसी की राह में बाधक नहीं बनता।

आम सृजनशील कार्यभारों के साथ मैं एक मंज़िल में अफ़्रीकी-एशियाई साहित्य के एक सबसे महत्वपूर्ण ध्येय की अलग से चर्चा करना चाहता हूं। यह है उपनिवेशवाद द्वारा अपने पीछे छोड़े गये प्रभावों से मनुष्य की नैतिक और मानसिक बंधनमुक्ति।

मनुष्य को उसके युग-युगों की हीन-भावना से मुक्त करने, मनुष्य में मनुष्य को जगाने, साथीपन और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की भावना को उसके लिए स्वाभाविक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उपनिवेशवाद के, जिसने मानवात्मा को अपार क्षति पहुंचायी, परिणामों का गहन विश्लेषण किया जाये। इन सबको लोगों के दिलोदिमाग़ से पूरी तरह

मिटाने के आवश्यक प्रयासों के बारे में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है।

कलाकार को उपनिवेशवाद के कुपरिणामों का "आत्म-दासत्वकरण" के भयावह अनुभव के रूप में, जिसे मानवजाति ने भोगा, सामाजिक तथा दार्शनिक विश्लेषण करना चाहिए। केवल तभी हम जातीय, राज्यीय अथवा नस्ली पार्थक्य की समस्त अवधारणाओं के बेतुकेपन और तर्कहीनता के बारे में अपने साहित्य में पूरी दृढ़ता के साथ बोल सकते हैं।

जीवन के समस्त क्षेत्रों में, मानवात्मा तथा आचरण-व्यवहार की समस्त अभिव्यक्तियों में सच्चे अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का विकास करना हम सबके हित में है। आधुनिक साहित्य तथा कला के लिए प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर अपने में विश्वास, जीवन में विश्वास को दृढ़ बनाने से अधिक तात्कालिक, अधिक बुनियादी, अधिक मानवीय कार्य और कोई नहीं है। इस कार्य की पूर्ति के लिए मनुष्य को उपनिवेशवाद के अपमानकारी अवशेषों से मुक्ति दिलाना आवश्यक है—यह मुक्ति विशेष रूप से उसकी मनोदशा में, उसके चिन्तन में, इस बात में निहित होनी चाहिए कि वह अपने को और अपने चारों ओर की दुनिया को किस तरह समझता है।

आधुनिक लेखक की भूमिका ने नया स्वरूप और नया सामाजिक महत्व ग्रहण कर लिया है। सोवियत साहित्य में हम इस परिस्थिति पर निरन्तर ज़ोर देते रहते हैं, उसे कला में पक्षधरता तथा जन-चरित्र से युक्त मानते हैं। यह केवल राजनीतिक आस्था ही नहीं है, अपितु हमारे साहित्य के मुख्य ठोस गुणों में से एक है।

इस समय वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति के दौरान, जब प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के विषयों का गहन विशेषीकरण हमें संसार को उसके समग्र रूप के बजाय अधिक तफ़सील में देखने में मदद देता है, केवल साहित्य और कला ही मनुष्य को अखंड प्रत्यक्षबोध प्राप्त करने में मदद देते हैं, जिसके बिना ऐसी आस्थाएं बनाना असम्भव है, जो परिघटनाओं और मानव-स्वभाव के गहन अर्थ को उजागर करती हैं। इसलिए आज लेखकों के कन्धों पर अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तरदायित्व है।

स्वयं अपने से प्रश्न करने की योग्यता के बिना, इन प्रश्नों के उत्तर की, जिन्हें उच्च नैतिकता से युक्त होना चाहिए, तलाश करने की योग्यता के बिना नैतिक प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती। उच्चतम कसौटियों

की तलाश में हम मानवजाति की समस्त आत्मिक उपलब्धियों पर दृष्टिपात करते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम आंखों पर पट्टी बांधकर उनसे उधार लें या उनकी नक़ल करें। इसका अर्थ यह है कि हम अपने युग-युगों की जातीय परम्पराओं को सार्विक मूल्यों से, जो मानवतावाद के विषय में हमारे विचारों, मनुष्य के सुख और स्वतंत्रता के विषय में हमारी धारणाओं के अनुरूप हों, सृजनात्मक ढंग से समृद्ध बनायें। तलाश व्यक्तिगत आधार पर की जाती है, परन्तु खोजें सबकी होती हैं।

एशिया और अफ़्रीका के लेखक, जिनके देश अभूतपूर्व परिवर्तनों से गुज़र रहे हैं, इस समय नये नैतिक मानक तैयार कर रहे हैं। इन मानकों की नींव परम्परागत प्रणालियों की जीर्ण पड़ चुकी और जीवन्त न रह गयी कसौटी अथवा "प्राचुर्य युक्त समाज" की अनैतिकता नहीं बन सकती। ऐसे समय, जब उपभोक्ता समाज नैतिक मानकों को नष्ट कर रहा है, उनके स्थान पर "सब चलता है" का आदर्श-वाक्य प्रतिष्ठापित कर रहा है, प्रगतिशील साहित्य मनुष्य में सच्ची मानवीय नैतिकता की रचना करने का प्रयास करते हैं। यह साहित्य तथा कला का सबसे मुख्य कार्यभार है। इसकी ख़ातिर जीना और सृजन करना चाहिए।

# हेलसिंकी की भावना का कोई विकल्प नहीं है*

हम सब समझते हैं कि हम सबकी राहें सोफ़िया में आकर मिल गयी हैं। और यह संयोग की बात नहीं है। संसार में इसके बहुत-से गम्भीर कारण हैं। हम लोग यदि चिन्ताजनक नहीं, तो अवश्य ही तनावभरी घड़ी में मिल रहे हैं, जब मनुष्य की आत्मा और उसके अपने अन्तर्विरोधों के बीच अनम्य संघर्ष विश्वव्यापी तथा तीक्ष्ण बन गया है। हम यहां अपने ऐसे अन्तरतम विचारों में एक-दूसरे को सहभागी बनाने आये हैं, जो हमारे मन में तब उठते हैं, जब हम अकेले होते हैं, जब हम जीवन, मनुष्य, आधुनिक समाज के भाग्य के बारे में सोचते हैं। विश्व पहले कभी इतना संजटिल नहीं था, मनुष्य ने इससे पहले कभी ऐसे आश्चर्यजनक परिवर्तन अनुभव नहीं किये थे, मनुष्य के सामने इससे पहले कभी विकास के ऐसे परिप्रेक्ष्य और उसके अस्तित्व के लिए ऐसे ख़तरे का जन्म नहीं हुआ था, जैसे कि आज मौजूद हैं।

यह सब अनिवार्यतः संस्कृति, हमारे कलात्मक अनुभव, हमारे चिन्तन के स्वरूप में प्रतिबिम्बित होता है। आख़िरकार पुस्तक के चौखटे के बाहर भी आम तौर पर ऐसा बहुत कुछ बचा रहता है, जो हमारे मन में विद्यमान होता है और अपने रूपों और आकारगत अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा करता है। मैं यहां आप से उस बारे में बात करना चाहता हूं, जो मुझे काफ़ी अर्से से चिन्तित किये हुए हैं। मुझे यहां उपस्थित सब लोगों के प्रति अपना गहन सम्मान प्रकट करने की अनुमति दी जाये।

यहां आधुनिक साहित्य के प्रतिनिधि जमा हैं, वे लोग हैं, जो उसकी नित्य रचना कर रहे हैं, उसमें अपने जीवन और भावावेगों का समावेश कर रहे हैं। समय बतायेगा कि सत्य तथा आत्मा के सौन्दर्य की तलाश में इस कठिन और अनिवार्य पथ पर निकल पड़ चुकने पर हम क्या-क्या

---

* 'लितेरातूर्नाया गज़ेता', २२ जून १९७७। यह लेख सोफ़िया में अन्तर्राष्ट्रीय लेखक फ़ोरम में, जिसका आदर्श वाक्य 'लेखक तथा शान्ति: हेलसिंकी की भावना तथा कलाचार्यों का कर्त्तव्य' था, चंगेज़ आइत्मातोव के भाषण पर आधारित है।

करने में समर्थ हैं, समय के साथ यह स्पष्ट हो जायेगा कि यथार्थ के अवबोध के इस क्षेत्र में, जिसमें हमसे पहले महान लेखकों की कई पीढ़ियों ने काम किया, क्या खोज हुई है, समय बतायेगा कि मनुष्य के बारे में मनुष्य की शाश्वत कहानी में हमने क्या जोड़ा है। तब हम यह भी देखेंगे कि हम क्या करने में सफल नहीं रहे, क्या हमारी शक्ति के बाहर था। दो शब्दों में, समय सब बातों का न्यायकर्ता है।

परन्तु कुछ चीज़ें ऐसी होती हैं, जिन्हें हम इतिहास के भावावेगरहित न्यायकर्त्ता पर नहीं छोड़ सकते। ये ऐसी वस्तुएं हैं, जो यह तक़ाज़ा करती हैं कि उन पर अभी बात की जाये और उनका मूल्यांकन किया जाये। ठीक यही है वह समय, यदि हम इस बारे में आश्वस्त होना चाहते हैं कि हमने अपने जीते जी यथाशक्ति सब कुछ किया — इसलिए अभिप्राय स्पष्टतः सबसे सारभूत वस्तु से, शान्ति के लिए संघर्ष से है। लेखक का, जो पृथ्वी पर जीवन के संरक्षण का आग्रह करता है, बिम्बसृजनकर्ता का शब्द बाद के लिए नहीं छोड़ा जा सकता, वह तुरन्त कार्रवाई की अपेक्षा करता है। यही है आज की स्थिति, यदि हम लेखक के रूप में अपने मन के आह्वान तथा कर्त्तव्य के प्रति अन्त तक निष्ठावान बने रहना चाहते हैं।

हम लोगों के लिए, अपने समकालीनों के लिए लिखते हैं, ताकि साहित्य के माध्यम से व्यक्तित्व के उन गुणों, उन विशेषताओं का समावेश किया जा सके, जो सब कालों के समग्र अनुभव से, प्रमुख मानव-आदर्शों से पूरी तरह मेल खाते हैं। यह साहित्य का सच्चा, शाश्वत ध्येय रहा और है। मैं अनुभव करता हूं कि हमारे युग के साहित्य के, जो अन्तर्विरोधपूर्ण तथा सामाजिक सांचे में अनुकूलित आत्मा और बुद्धि के जटिल विकास को प्रतिबिम्बित करता है, कार्यभारों के प्रति, ऐसा दृष्टिकोण पहली नज़र में कुछ सरलीकृत प्रतीत हो सकता है। लेकिन ठीक ये ही — शाश्वत, सार्विक आदर्श ही — तो साहित्य और कला की आधारभूत समस्याएं बनी हुई हैं। इसलिए कि साहित्य के कार्य बदल सकते हैं और बदलते रहते हैं, परन्तु उसका प्राथमिक ध्येय — मानव के सार का प्रतिबिम्बन — नहीं बदलता। इसी कारण यह बात आज पहले से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है कि साहित्य हमें दूसरों की भावना को समझने में सहायता दे, हममें से हरेक को दूसरों की वैसी ही चिन्ता करना सिखाये, जैसे कि हम अपनी चिन्ता करते हैं, हमें यह देखने के लिए बाध्य करे कि हमारी ही तरह दूसरे भी जीवन

से प्यार करते हैं, मृत्यु से डरते हैं, पीड़ा झेलते हैं, दुख उठाते हैं, धरती पर रहने के अपने अधिकार के लिए संघर्ष करते हैं।

परन्तु साहित्य के आधारभूत उद्देश्य के अपरिवर्तनीय रहने का अर्थ कदापि यह नहीं है कि उसके रूप भी अपरिवर्तनीय रहते हैं। इसके विपरीत, मनुष्य, समाज, सामान्य रूप से जगत और उसमें अपने स्थान के बारे में हमारी समझ का विकास साहित्य, यथार्थवादी साहित्य के विकास की अपेक्षा करता है, क्योंकि वास्तविकता के प्रतिबिम्बन के समस्त रूपों में यथार्थवाद हमारे कलात्मक चिन्तन का शिखर है। आधुनिक विश्व साहित्य का यथार्थवाद इतना परिष्कृत हो गया है कि वह अतीत के यथार्थवादी लेखन से उतना ही भिन्न है, जितना भिन्न लोबाचेव्स्की की ज्यामिती यूक्लिडीय ज्यामिती से है। साहित्य ने आज से पहले कभी मनुष्य के आत्मिक जीवन में इतना मुख्य स्थान नहीं पाया था। अकेली यही चीज़ हमें ज़बर्दस्त दायित्व सौंप देती है।

इस समय हम इस विवाद में नहीं पड़ेंगे कि साहित्य में क्या अस्थायी है और क्या शाश्वत, इस या उस आर्थिक अमल और राजनीतिक व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करनेवाले कौन-से विचारधारात्मक प्रवर्ग वास्तविकता का सर्वाधिक पूर्ण संज्ञान प्राप्त करने में सहायता देते हैं और कौन-से प्रवर्ग जड़त्व की शक्तियों की भूमिका में प्रकट होते हैं, जो हमारा रास्ता रोकती हैं। यह विशेष प्रश्न है। प्रत्येक चिन्तनशील मनुष्य यह जाने बिना नहीं रह सकता कि चिरन्तनता की परिघटना कला के विषय के अन्दर छुपी भावना और विचारों के सौन्दर्य में निहित होती है।

जहां तक विचारों के संघर्ष का सम्बन्ध है, हम सब जानते हैं कि वह शाश्वत तथा अपरिहार्य है, सामाजिक अस्तित्व की द्वन्द्वात्मकता तथा सार यही है। वह सामाजिक प्रगति की चालक शक्ति है।

मैं उस बारे में बात करने का सुझाव पेश करना चाहता हूं, जो २०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लेखकों के रूप में हम सबके लिए, हमारी नियति के लिए, हमारे सृजन के लिए एकसमान है, जिसने हमारे समक्ष विशेष सृजनात्मक कार्यभार विशेष तीक्ष्णता के साथ प्रस्तुत किये हैं। सम्भवतः, यही चीज़ हमें एक-दूसरे को सुनने के लिए और भी अधिक बाध्य करती है।

नाना ऐतिहासिक कारणों से हम साहित्य के क्षेत्र में अपने पूर्ववर्तियों से भिन्न हैं और मुझे आशा करनी चाहिए कि हमारे बाद आनेवालों की स्थिति भी भिन्न होगी। मेरा अभिप्राय क्या है? यह कि हम

यहां एक तात्कालिक आवश्यकतावश आये हैं, जिसके समक्ष हम सब ऐक्यबद्ध तथा समान रूप से उत्तरदायी हैं—इतिहास में जीवन तथा संस्कृति के लिए आज जितना सार्विक ख़तरा पहले कभी पैदा नहीं हुआ था, इसी सिलसिले में इतिहास में प्रकृति, हमारे पर्यावरण के प्राणवान प्रकार्यों के लिए आज जितना ख़तरा पहले कभी पैदा नहीं हुआ था। यह हम सब अच्छी तरह जानते हैं।

ठीक इसी कारण नाना देशों के लेखक, विभिन्न परम्पराओं, संस्कृतियों, राजनीतिक और सौन्दर्यात्मक आस्थाओंवाले लेखक यहां जमा हुए हैं।

परन्तु सबसे पहले मैं उसका विश्लेषण करने का प्रयत्न करना चाहूंगा, जो हमें दूसरे से भिन्न बनाता है और जो हमें आम ख़तरे के सामने ही नहीं, अपितु समकालीन जीवन के सबसे गहन सार के भी मामले में अनिवार्यतः ऐक्यबद्ध करता है।

स्वभावतः, हम यहां सबसे पहले मानव-संस्कृति के प्रति, हमारी धरती पर नैतिक वातावरण के प्रति संयुक्त उत्तरदायित्व की अनुभूति के कारण एकत्र हुए हैं। हम साहसपूर्वक कह सकते हैं कि मानव-आत्मा के विकास के लिए इस समय पथों का चयन किया जा रहा है और इस मामले में हमारा दायित्व विशेष रूप से बड़ा है, क्योंकि हम इन प्रश्नों का समाधान भविष्य के लिए नहीं छोड़ सकते, स्वयं भविष्य काफ़ी हद तक हम पर और उस पर निर्भर करता है, जो हम आज कर सकते हैं।

प्रश्न है: ऐसे समय में, जब बिल्कुल विपरीत छोरों पर खड़ी शक्तियों के अन्तर्विरोधों में कोई मेल नहीं हो सकता, जब विभिन्न विचारधाराओं में तीक्ष्ण टकराव हो रहा है, जब सर्वग्राही वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति हो रही है, विवेक, संस्कृति और कला क्या मनुष्य की प्रकृति का इस तरह पुनर्निर्माण कर सकते हैं कि उसमें शाश्वत रूप से महान और अमर भावावेग—मानव-नस्ल का सृजन, विस्तार तथा संरक्षण, अपना और जीवन में अपने ध्येय का संज्ञान—सतत रूप से हावी रहें? इसलिए कि केवल इसी सूरत में—अगर हम अमानवीयता और अनैतिकता की विनाशकारी शक्तियों का सामना करने, मानवता की भावना को संरक्षित रखने और उसे ऊपर उठाने में सफल हो जाते हैं—मनुष्य को सच्चे अर्थों में चिन्तनशील प्राणी कहा जा सकता है। केवल यही एक रास्ता है, दूसरा रास्ता नहीं हो सकता।

इतिहास ने हमारे समक्ष चयन की अत्यन्त कठोर शर्त रख दी — "या यह, या वह"।

मैं यहां किसी को यह क़ायल करने का क़तई प्रयास नहीं करूंगा कि शान्ति के लिए काम करना आवश्यक है — यह तो स्वयंसिद्ध बात है। इसका क्या कोई विकल्प है? क्या हमें इसमें कोई सन्देह होना चाहिए कि हममें से हरेक पृथ्वी पर जीवन के संरक्षण के लिए यथाशक्ति सब कुछ कर रहा है और करता रहेगा?! आज इस संघर्ष का ठोस रूप अन्तर्राष्ट्रीय तनाव-शैथिल्य को अपरिवर्त्य प्रक्रिया बना देने के लिए हेलसिंकी में स्वीकृत निर्णयों के वास्तविक कार्यान्वियन में निहित है। एक बार फिर, जैसा कि मैंने अभी-अभी कहा था, इसका कोई विकल्प नहीं है। हेलसिंकी की भावना का आज कोई विकल्प नहीं है। मानवजाति की सामूहिक बुद्धि ने अभी तक कोई भिन्न वस्तु नहीं गढ़ी है। एक बार फिर, हमारे समक्ष "या तो यह, या वह" में से कठोर चयन करने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है, क्योंकि शान्ति तथा मानवीयता, सारतः, परस्पर गहन रूप से जुड़ी हुई हैं। क्या यह लेखक के सबसे महत्वपूर्ण कार्यभारों में से एक नहीं है — जीवन को हेलसिंकी के प्रिज़्म के माध्यम से देखना?!

मैं इतिहास के मामले में नियतिवादी नहीं हूं और मैं यह अनुभव करता हूं कि यदि मानवजाति अथक प्रयासों और सर्वोपरि — मेरा ख़याल है कि मैं यहां आम राय प्रकट कर रहा हूं — सोवियत संघ की शान्तिप्रिय कार्रवाइयों की बदौलत अब तक नाभिकीय महाविपत्ति को टालने में सफल रही है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि हम तसल्ली से बैठ जायें और कम चिन्तित रहें। स्वयं उस सामाजिक बुराई पर, जो हिंसा, पाशविकता, मानवद्वेष को पोसती है, अंकुश लगाने, उससे अपनी निरापदता सुनिश्चित करने के लिए कहीं अधिक प्रयास करना आवश्यक है।

एक और कारक है, जो हमें इसे सीधा ख़तरा मानने के लिए बाध्य करता है। हम अपने को विश्व की नाज़ुक समस्याओं से अलग-थलग नहीं करते, पश्चिम आज जिन नकारात्मक परिघटनाओं का सामना कर रहा है, उनमें से प्रत्येक को हम पूरी मानवजाति के हिस्से में आनेवाली एक समान विपदा मानते हैं। वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति ने आज पृथ्वी पर बसनेवाले लोगों को जन-संचार साधनों के ज़रिये एक-दूसरे के साथ तत्क्षण संसर्ग स्थापित करने की सम्भावना दे दी है, वह परिवहन के द्रुतगामी साधनों के ज़रिये जनगण को शारीरिक दृष्टि से एक-दूसरे के समीप ले आयी है। इस चीज़ ने हमें एक-दूसरे पर पहले से कहीं

अधिक आश्रित बना दिया है। हम सभी आज एक नाव में हैं और उसके चारों ओर अन्तरिक्षीय अनन्तता है।

परन्तु इसी वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति ने, जिसकी भव्य तथा सार्विक सफलताएं अक्षरश: प्रत्येक मनुष्य के जीवन में समा गयी हैं, रहन-सहन के बदलते हुए ढंग के साथ-साथ व्यक्ति, जनगण, संस्कृतियों की अनुपमता का मूल्यांकन करने में भावावेगशून्य और कभी-कभी निर्मम तर्कबुद्धिवाद का प्रसार करने में सहायता दी। जिसे उपयोगी कार्यकलाप गुणांक कहा जाता है, उसका टेक्नालाजी से आत्मिक तथा नैतिक क्षेत्र में स्थानान्तरण उनका—हिंसा, मनुष्य के अपमान, अवमानना का—औचित्य-प्रतिपादन बन गया है। परन्तु इनका कभी औचित्य-प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। उपयोगी कार्यकलाप गुणांक के अनुसार, जो एक तरह का पैमाना, स्टीरियोटाइप बन गया है, कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसके स्थान पर दूसरे को न रखा जा सके, परन्तु मानवीय दृष्टिकोण से हममें से हरेक अमूल्य और अनुपम है। जुलियट के लिए रोमियो का स्थान कौन ले सकता था? मां के लिए बेटे का स्थान कौन ले सकता है, युद्ध में मारे गये सैनिकों का स्थान कौन ले सकता है?

केवल किसी स्टीरियोटाइप को ही आसानी से और सादे ढंग से बदला जा सकता है। उसके व्यापक रूपान्तरण के श्रव्य-दृष्टव्य तथा अन्य तकनीकी साधन उदासीनता को जन्म देते हैं और लोगों को यह विश्वास करने के लिए बाध्य करते हैं कि यह सब सामान्य बात है। यही आत्मा के मानकीकरण, किसी भी विधा को एक सांस्कृतिक जन-उपभोक्ता माल बनाने के मामले में इतना ख़तरनाक और विनाशकारी है। हमने शुरू में यह अनुभव नहीं किया कि तकनीकी प्रगति उतनी ही मात्रा में नैतिक प्रगति का द्योतक नहीं हुआ करती।

उपयोगी कार्यकलाप गुणांक से किसी मनुष्य का मूल्यांकन करने के परिणामस्वरूप उसके व्यक्तित्व और भावनात्मक जीवन की अपने-आप उपेक्षा हो जाती है, व्यक्ति के नैतिक परिष्करण के हमारे प्रयास व्यर्थ चले जाते हैं। फलस्वरूप, मनुष्य को उपभोक्ता मशीन मान लिया जाता है और संस्कृति को केवल उपभोग मूल्य प्राप्त होता है। यहां से हिंसा और पाशविकता को रोमांटिक रूप देने और काव्यमय बनाने की ओर बढ़ने के लिए केवल एक क़दम का फ़ासला रह जाता है। यह कहने में पीड़ा होती है कि बल और हिंसा की पूजा के विकराल उद्योग में, जो पश्चिमी

देशों की आधुनिक संस्कृति में इतने बड़े पैमाने पर फैल गया है, हम पूरी मानवजाति के लिए ख़तरा देखते हैं। ऐसा ही हुआ करता है, जब किसी समाज के पास आत्मिक निर्वात को भरने के लिए कुछ नहीं होता, फ़ासिज़्म का रोगाणु इसी तरह जन-चेतना में पैदा होता है।

हमसे जो सबसे ख़तरनाक काम हो सकता है, वह इसमें निहित है कि हम इस विचार का आदी बनने के ख़तरे का मूल्य घटाकर आंक सकते हैं कि संसार में हिंसा अवश्यंभावी है। और इससे भी अधिक भयानक बात है पाशविकता को वीरता के साथ गड्डमड्ड करना। मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूं कि हम सांस्कृतिक उपभोक्तावाद के प्रति तिरस्कार की जो भावना अनुभव करते हैं, वह बहुधा विवेकहीनता के प्रचार और युद्ध के असल ख़तरे के बीच ख़तरनाक सम्बन्ध को पूरी तरह समझने से रोकती है। यह चीज़ सबसे पहले हम लेखकों, संस्कृतिकर्मियों के लिए विशेष रूप से चिन्ताजनक होनी चाहिए।

इसलिए मेरा यह मत है कि आज साहित्य का प्राथमिक कार्यभार संसार में अधिक स्वस्थ नैतिक वातावरण को बढ़ावा देना है, जो आज प्राकृतिक पर्यावरण के लिए, जिसके बिना सामान्य, स्वस्थ जीवन सम्भव नहीं हो सकता, चिन्ता के समान ही महत्वपूर्ण है।

यह कार्यभार हमारे समक्ष एक समान समस्या उपस्थित करता है, जिसे मैं समकालीन चिन्तन के विकास की समस्या का नाम देना चाहता हूं। समकालीन केवल वे ही लोग नहीं हैं, जो शारीरिक दृष्टि से एक ही युग में रहते हैं, अपितु—और यह सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण है—वे लोग भी हैं, जिनके चिन्तन का ढंग भी एकसमान है। यह सबसे पहले उन्नत और प्रगतिशील विचारों के स्तर पर सोचने, भूमंडलीय पैमाने पर सोचने की योग्यता है। यह, सारतः, सच्चा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, समस्त जनगण की संस्कृतियों, जातीय भाषाओं तथा कलात्मक धरोहर का सच्चा सम्मान है। अन्ततः, यह भविष्य की बात सोचने, काल की प्रवृत्तियों को, जो आज विकसित हो रही हैं, पहिचानने की योग्यता है। हमारे काल का ठीक इसी तरह अवबोध अत्यन्त महत्वपूर्ण है, यदि उसे मनुष्य का द्वितीय स्वभाव बनना है। यह विश्व शांति की एक विश्वसनीय गारंटी है।

यह सबसे पहले साहित्य का कार्यभार है। मैं साहित्य को मसीहा की भूमिका नहीं सौंप रहा हूं। राजनीतिक हस्तियां शान्ति के लिए अपने ढंग से काम करती हैं, उन्हें ही निर्णायक भूमिका अदा करनी है। परन्तु जीवन का चित्रण करने और मानव-आत्मा पर प्रभाव डालने के साहित्य के अपने

ख़ास तरीक़े हैं। स्वभावत:, हम लेखकगण अपने प्रयासों, अपने सृजनशील कार्यों, अपनी कलात्मक दृष्टि को इतिहास के उस सबसे उदात्त ध्येय की ओर लक्षित प्रगतिशील राजनीतिक आकांक्षाओं के साथ जोड़ते हैं, जिसकी आधारशिला शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को, उसको संरक्षित रखने का विचार है, जो पृथ्वी पर सबसे अधिक मूल्यवान है। यह है मनुष्य का जीवन तथा संस्कृति।

मैं इस बात पर ज़ोर दिये बिना नहीं रह सकता (हम इस बारे में गर्व और आशा के साथ बात करते हैं) कि २०वीं शताब्दी का अनुभव हमें दर्शाता है कि विश्व चिन्तन की समस्त उपलब्धियों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के लेनिन के विचार, किसी अतिशयोक्ति के बिना, विवेक तथा मानवता के शिखर हैं। इस आस्था और आशा के साथ हम पूरे संसार को सम्बोधित करते हैं।

मित्रो, साथियो, हम लोग वेगपूर्ण परिवर्तनों के वातावरण में रह रहे हैं। प्राचीन काल के भारत में लोग कहते थे कि एकमात्र स्थिर वस्तु परिवर्तन है। यह बात आज जितनी वास्तविक पहले कभी नहीं थी। हम संसार को बदल रहे हैं और संसार हमें बदल रहा है।

आज की परिस्थितियों में, जब स्वत्व की संरचना अधिकाधिक संजटिल होती जा रही है, साहित्य के लिए केवल इतना पर्याप्त नहीं है कि वह अपने इर्द-गिर्द की सब चीज़ें प्रतिबिम्बित करनेवाला दर्पण बने, उसे बहुमुखी प्रिज़्म बनना चाहिए, जो अपने स्टीरिओस्फ़ेयरों में जीवन की गहराइयों और मानव-नियतियों का ईमानदारी से पुनर्सृजन करे। इसे हम अपना जीवन और श्रम अर्पित करते हैं।

# धरती रूपी ग्रह के ऊपर भेंट*

*न्यूयार्क में ईस्टर्न स्टैंडर्ड टाइम के अनुसार दोपहर बाद तीन बजे का समय था। अमरीकी अपने टीवी देख रहे थे। एक सोवियत अन्तरिक्षयात्री अमरीकी अन्तरिक्षयात्री से हाथ मिला रहा था।** टीवी के लोकप्रिय टीकाकार वाल्टर क्रोंकाइट कुछ समय बाद समाचारों में कहेंगे कि हाथ मिलाने की यह घटना अज्ञात क्षितिज पर मानवजाति के धावे के नूतन युग का आरम्भ बन सकती है।*

*और इस घटना के समय न्यूयार्क में अमरीकी लेखक कुर्ट वोन्नेगुट और सोवियत लेखक चंगेज़ आइत्मातोव की भेंट हुई। टीवी सेट के सामने बैठे हुए ये दो व्यक्ति अन्तरिक्ष में इस महान प्रयोग के बारे में अपने मन पर पड़ी पहली छापें एक-दूसरे को बता रहे थे।*

**चं० आ०:** हम लोग अन्तरिक्ष पर धावे से जुड़ी अविश्वसनीय घटनाओं के आदी बन चुके हैं। अब हम इस मामले में अनुभवी बन गये हैं। इन दिनों हम धरतीवासियों को शायद ही कोई बात विस्मित करे। फिर भी, मेरे ख़याल से, आज हम टीवी के पर्दे पर जो देख रहे हैं, वह हमारी पीढ़ी के जीवन में आश्चर्यजनक घटना है।

मैंने हाल से एक ऐसे समय के बारे में उपन्यासिका लिखी, जब चन्द लोग ब्रह्मांड की गहराइयों में प्रवेश करने के बारे में विचार कर रहे थे। वह दूसरे विश्वयुद्ध का समय था। लोग घोड़े जुते हलों से खेत जोत रहे थे। आज वे ही लोग राकेट टेक्नालाजी की सफलता के दर्शक बन गये हैं—और तब से अब तक कितना समय बीता है!

मेरी यह रचना कुछ हद तक आत्म-कथा है, मैंने तब जो देखा था,

---

* 'लितेरातूर्नाया गज़ेता', २३ जुलाई १९७५।

** जुलाई १९७५ में अमरीकी अन्तरिक्षयान 'अपोलो' (टामस स्टेफ़ोर्ड, डोनाल्ड स्लेटन, वांस ब्रांड) तथा सोवियत अन्तरिक्षयान 'सोयूज़' (अलेक्सेई लेओनोव, वालेरी कुबासोव) की प्रायोगिक संयुक्त उड़ान हुई, दोनों यान दो बार जुड़े, अन्तरिक्ष यात्रियों ने संयुक्त अनुसंधान तथा प्रयोग किये और वे दूसरे के कक्षों में गये।

अनुभव किया था, उसे लिखने का प्रयास किया। जब मेरे छोटे बेटे अस्कर ने पांडुलिपि पढ़ ली, तो उसने कुछ हैरान होकर पूछा — क्या उस ज़माने में ट्रैक्टर थे ही नहीं? मैंने उसे उत्तर दिया कि ट्रैक्टर थे, पर वे अपर्याप्त थे, क्योंकि युद्ध चल रहा था। आज वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति ने हमें एक युग से दूसरे युग में धकेल दिया है। आज ट्रैक्टर का महत्व क्या है? यहां टीवी के पास बैठे हुए हम लोग केवल यही नहीं देख रहे हैं कि अन्तरिक्ष में क्या हो रहा है, अपितु व्यक्तियों के रूप से हम अपने दो महान देशों के बीच सम्पर्क-बिन्दु, एक-दूसरे के साथ शान्तिपूर्ण सहयोग की तलाश कर रहे हैं।

यह मुझे उद्वेलित करता है। यहीं शान्ति से बैठे हुए हम अन्तरिक्ष के दसवें या बीसवें कार्यक्रम को देख रहे हैं। परन्तु यह मनुष्य की तर्क-बुद्धि की विराट शक्ति के बारे में सोचने के लिए बाध्य करता है। यहां बैठे हुए मैं सोच रहा हूं — कहीं नज़र न लग जाये — कि आगे भी सदा ऐसा ही रहे: हां, अन्तरिक्ष में कोई लड़ाइयां न हों। धरती पर कभी लड़ाइयां न हों।

**कु० वो०:** जो हम देख रहे हैं, वह कल्पनातीत है। प्रसंगत:, मेरी राय में, यही सादा तथ्य सचमुच महत्वपूर्ण है कि हम यहां बैठे मित्रता से परिपूर्ण भावना में बातचीत कर रहे हैं। हम एक-दूसरे को बहुत अच्छी तरह समझते हैं। यह बात हमारी इस भेंट से भी पहले सच थी। मेरे लिए आइत्मातोव को समझना कठिन नहीं था, क्योंकि वह मेरी तरह लेखक हैं और दोनों के एकसमान हित, एकसमान चिन्ताएं, व्यवसायगत रहस्य हैं। आप कह रहे हैं कि दो भिन्न देश ठीक इस वक़्त अन्तरिक्ष में मिल रहे हैं। परन्तु हम पहले भी तो मिल चुके हैं। आप हमारे साहित्य को अच्छी तरह और हम आपके साहित्य को कुछ हद तक जानते हैं। और हम एल्ब नदी के तट पर भी तो मिले थे। यह यूरोप के रक्तरंजित रणक्षेत्रों में युद्ध के अंत में अत्यन्त महत्वपूर्ण मिलन था। मुझे लाल सेना ने आज़ाद किया था। जब हमारी सेनाएं मिलीं और उन्होंने हाथ मिलाये, तो यह औपचारिक समारोह नहीं था — हमारे चारों ओर मौत और तबाही का राज था। युद्ध भयंकर विपदा थी, उसे रोमांटिक स्वरूप नहीं दिया जाना चाहिए। परन्तु यह पहला मौक़ा था, जब एकसमान लक्ष्य से सूत्रबद्ध हमारे दो जनगण का मिलन हुआ था। और अब हम एक नये मिलन के दर्शक हैं — और मिलन भी कितना अभूतपूर्व है!

जहां तक मैं जानता हूं, हमारे जनगण के बीच शत्रुता की भावना

कभी विद्यमान नहीं रही। आप रास्ते में किसी अमरीकी को रोककर उससे पूछें कि वह क्या रूसियों से नफ़रत करता है, तो उसे अचरज होगा — वह रूसियों से क्यों नफ़रत करे?

निस्सन्देह, हमारे यहां कुछ पागलों की आवाज़ अब भी सुनायी देती है, परन्तु, जैसा कि कहते हैं, हर परिवार में एक न एक कुलकलंक होता ही है।

**चं० आ० :** संसार में इस समय ऐतिहासिक पैमाने का कोई टकराव नहीं है, इन तीस वर्षों के दौरान हम नये विश्वयुद्ध से बचने में सफल रहे हैं। फिर भी बहुत-सी चीज़ें हमें बहुत-से कारणों से विभक्त करती हैं — ये कारण हैं ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा सामाजिक। कोई यह दावा नहीं करता कि हमें इन अन्तर्विरोधों से चिपके रहना चाहिए, उन्हें बरक़रार रखना चाहिए। जीवन का अर्थ यह है कि हमें समस्याओं का समाधान ढूंढ़ते रहना चाहिए। यह हम कई क्षेत्रों में कर रहे हैं। मैं और आप, उदाहरण के लिए, यह साहित्य, संस्कृति में कर रहे हैं, जब हम जनगण को बौद्धिक स्तर पर एक-दूसरे के पास लाने का प्रयास करते हैं, जब हम सांस्कृतिक आदान-प्रदान की पैरवी करने का प्रयत्न करते हैं, जो विश्व के सर्वोत्तम हितों की सिद्धि करनेवाले सद्भावनापूर्ण चिन्तन को बढ़ावा दे सकता है और जिसे ऐसा करना चाहिए।

समाधान ढूंढ़ने का हम एक और रास्ता देख रहे हैं — जब हमारे और आपके अन्तरिक्षयात्री एक परिवार के सदस्यों के रूप से काम कर रहे हैं, एक महान संयुक्त ध्येय की पूर्ति में जुटे हुए हैं।

क्या यह मिलन महत्वपूर्ण प्रतीक, सम्भावनाओं से भरपूर आरम्भ नहीं है? क्या इसे हमारे लिए नये परिप्रेक्ष्यों के द्वार नहीं खोलने चाहिए? क्या हमें इसे जीवन के अन्तर्विरोधों के समक्ष कार्रवाई का एक-तरह का आम उदाहरण नहीं मानना चाहिए? आख़िर, हम आज जो देख रहे हैं, वह तकनीकी उपलब्धि मात्र नहीं है। मैं इसे अपने दो देशों के बीच नैतिक तथा आचार-व्यवहार सम्बन्धी पारस्परिक सम्बन्धों का बहुत महत्वपूर्ण पहलू मानता हूं। आपको स्मरण है कि युद्धोत्तर वर्षों में सम्बन्ध कैसे थे। ... और हमने मिलकर अन्तरिक्ष की खिड़की से उसमें प्रवेश किया है। अन्तरिक्ष की इस खिड़की से हम एक-दूसरे को मानो सर्वथा भिन्न अवस्था में, भिन्न विमा में देख रहे हैं।

**कु० वो० :** मेरे ख़याल से, हमारे दोनों देशों ने अनुभव किया कि विरोधी के मुक़ाबले में उनके पास अधिक शक्ति होगी। ...

**चं० आ० :** यदि हम केवल मुक़ाबलेबाज़ी में शक्ति की तलाश करेंगे, तो हमें घूंसेबाज़ की तरह अपना घूंसा हमेशा तानकर रखना होगा। शायद यह चीज़ किसी को हमले का जवाब देने के लिए हमेशा तैयार रखती है, परन्तु यह जीवन तो नहीं है। हमें इस बारे में सोचना होगा कि लाखों-लाख लोग इस रूप से ऐसी मुक़ाबलेबाज़ी की लपेट में आ गये हैं और इस या उस रूप में तनाव के शिकार हैं। हम ज़िन्दगी केवल एक बार जीते हैं। वह दिन आता है, जब मनुष्य शारीरिक और आत्मिक दृष्टि से परिपक्व हो जाता है, उसे स्वयं सोचना पड़ता है, संसार को आत्मसात करना पड़ता है, अपने को प्रतिष्ठापित करना पड़ता है, अपने जीवन का प्रयोजन पूर्ण करना पड़ता है। यक़ीनन, उसे घूंसेबाज़ की तरह अनुभव नहीं करना चाहिए, जिसे किसी को पीटने या अपनी रक्षा करने के लिए हमेशा तैयार रहना पड़ता है।

**कु० वो० :** हमारी सभ्यता को इतना परिपक्व होना चाहिए कि वह कहे : जी हां, हमारे पास शुक्र ग्रह तक पहुंचने के लिए इस समय पर्याप्त ज्ञान है। वक़्त आने पर यह करके रहेंगे। कोई जल्दी नहीं है। शुक्र ग्रह लुप्त नहीं हो जायेगा। आइये, हम बुद्धिमान बनें, उन बच्चों की तरह अधीर न हों, जो बच्चों के दूसरे ग्रुप पर हावी होना चाहते हैं। आइये, अपने लक्ष्य की ओर सतत और संयुक्त रूप से काम करते रहें।

मैं दूसरे विश्वयुद्ध के उपरान्त द्रुत गति से पुनर्निर्माण, शानदार टेक्नालाजी, वैज्ञानिक साहस के लिए सोवियत संघ की प्रशंसा करता हूं। अमरीकी फ़ुटबाल में कभी-कभी खिलाड़ी खेल के दौरान मारा जाता है। अमरीकी विद्वान नोर्बेर्ट वाइनेर ने लिखा था कि अमरीकियों में समस्याओं को ऐसे खेल के रूप से देखने का झुकाव है, जिसे जीता ही जाना चाहिए। लेकिन अगर बात ऐसी ही है, तो इस दम्भ का कारण शायद यह है कि उसका कभी शक्तिशाली विरोधी से साबिक़ा नहीं पड़ा।

हम सतत रूप से बदलते जा रहे हैं। अन्तरिक्ष में सहयोग अच्छी चीज़ है। परन्तु मैं एक अन्य क्षेत्र से उदाहरण पेश करना चाहूंगा। आज अपने देश में हमें ऐसा मनुष्य आकर्षित नहीं करता, जो शारीरिक दृष्टि से बलिष्ठ हो, अपने विरोधी को पटक सके। यदि कोई मेरी पत्नी का अपमान करता है, तो मेरे लिए उसे द्वन्द्व के लिए ललकारकर मौत के घाट उतारना अब ज़रूरी नहीं रह गया है। और अगर कोई व्यक्ति भावनाओं के वशीभूत हो ज़ाता है, तो उस द्वारा एक-दो आंसू बहाये जाने में कोई हज नहीं है। इंडियानापोलिस में अपने बाल्यकाल में मुझे दोस्त

लोग सिखाते थे कि सड़कों पर कैसे रौद्र रूप धारण कर चलना चाहिए। तब यह फ़ैशन था, तब अमरीका में ऐसे ही हालात थे। अब हमारे लिए दूसरों को डराने की मुद्रा में चलना ज़रूरी नहीं रह गया है। मेरे ख़याल से, हमारे नेता राष्ट्रीय चरित्र में ऐसे परिवर्तनों को ध्यान में रखने लगे हैं। मैं सोवियत संघ से किसी भी तरह श्रेष्ठ नहीं होना चाहता। शायद अगली उपलब्धि होगी कैंसर की औषधि की खोज। मुझे इसकी परवाह नहीं है कि यह खोज कहां होती है: सोवियत संघ में या अमरीका में।

निस्सन्देह, एक ऐसा क्षेत्र है, जहां हमें सख़्त होना चाहिए और वह है व्यापार। यदि मुझे सोवियत प्रतिनिधियों के साथ कारोबारी बातचीत करनी है, तो मुझे इसके लिए पूरी तरह तैयारी करनी होगी। हम बैठकर आपस में बातचीत करते हैं, एक-दूसरे से स्नेह करते हैं। परन्तु जब यह प्रश्न तय करना होता है कि एक पक्ष से दूसरे पक्ष को धन कितना और किन शर्तों पर पहुंचेगा, तब हमें कम सौम्यता बरतनी होगी।

**चं० आ० :** मैं यह सुझाव देना चाहता हूं कि हम अपने विचारों को एकत्र करें, वरना वे पहाड़ों पर भेड़ों के रेवड़ की तरह बिखर जायेंगे। मैं फिर से अन्तरिक्षीय मुलाक़ात और उसकी चर्चा करना चाहता हूं, जो सारी दुनिया की नज़रों के सामने हो रही है। हम इसे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों—ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा दैनंदिन दृष्टिकोण—से देख सकते हैं, परन्तु वास्तविकता यही है कि सारे अख़बारों के पन्ने उसके समाचारों से रंगे रहते हैं, रेडियो प्रसारणों और जन सूचना के अन्य साधनों में उनका प्राधान्य है। प्रत्येक मनुष्य इस घटना को समझने और अपने ढंग से उसका मूल्यांकन करने का प्रयत्न करता है, ताकि यह पूर्वानुमान कर सके कि भविष्य के लिए उसके गर्भ में क्या है।

जहां तक खेलों का सम्बन्ध है, मैं व्यक्तिशः उससे ज़रा भी विचलित नहीं होता। मैं नहीं मानता कि मानवजाति के जीवन के इस पहलू का अन्तर्राष्ट्रीय मामले में कोई विशिष्ट महत्व है। मैं ऐसे लोगों को जानता हूं, जो खेलकूद में विजय के पीछे पागल रहते हैं और अगर उनकी प्रिय टीम हार जाती है और दूसरा स्थान पाती है, तो उन्हें लगता है मानो विपत्ति का पहाड़ टूट गया है। मैं मानता हूं कि खेलकूद, खेलों की भावना मनुष्य की प्रकृति का अन्तरंग भाग है। हममें किसी चीज़ पर क़ाबू पाने, कुछ हासिल करने, आगे निकल जाने, बराबरी पर पहुंचने की कामना होती है। निस्सन्देह, खेलकूद उत्तेजना लाता है, लोगों को जीवन की तीक्ष्ण अनुभूति होती है। परन्तु इस मामले में मैं कुछ अधिक महत्वपूर्ण वस्तु

से चिन्तित हूं, क्योंकि संसार में कहीं अधिक समस्याएं, कहीं अधिक अन्तर्विरोध हैं, जो खेलकूद विषयक अवधारणाओं से कहीं अधिक व्यापक हैं।

पृथ्वी पर शान्ति नहीं है, पृथ्वी सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्य टकरावों तथा भावावेगों से आक्रान्त है। इतिहास अथक संघर्ष में रचा जा रहा है और इसी उलट-पुलट में से कुछ नया उग रहा है, जो मानवजाति को उसकी अपनी नज़रों में ऊपर उठा रहा है। मैं यह मानता हूं कि जो इस समय अन्तरिक्ष में हो रहा है, वह हम सबको अपनी नज़रों में ऊपर उठा रहा है, बता रहा है कि हम क्या कर दिखाने में समर्थ हैं। यह एक उदाहरण है, जिसका हम भविष्य में हवाला दिया करेंगे। हम कहेंगे कि सहसा प्रकाश बिखेरती हुई ऐसी घड़ी आयी थी, जब मानव-आत्मा की बलवती शक्तियों ने विनाश के नहीं, अपितु एकता के हेतु एक-दूसरे की तलाश की। मैं पूरी आशा करता हूं कि यह घटना संस्कृति के विकास, मानवजाति के चिन्तन, निजी तौर पर तथा विश्वव्यापी पैमाने पर सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के बारे में हमारे प्रत्यक्ष अवबोध समेत विभिन्न क्षेत्रों पर प्रभाव डालेगी। जहां तक मैं सोवियत जनता की मनोदशा को जानता हूं, यही चीज़ हमारे लिए बाक़ी सबकी तुलना में अधिक दिलचस्प है। हम सब जानते हैं कि अन्तरिक्षयान सैनिक उद्देश्यों के लिए भी उपयोग में लाये जा सकते हैं। परन्तु हम नहीं चाहते कि उनका इस तरह उपयोग हो। ज़ाहिर है, सामूहिक मानव-मानस में भी कुछ सकारात्मक परिवर्तन हो रहे हैं। मैं इस पर विश्वास करना चाहता हूं।

कल शाम हम सान फ़्रांसिस्को से लौटे। जब हम शहर में घूम रहे थे और लोगों ने हमें रूसी में बोलते हुए सुना, तो उन्होंने हमारी ओर नज़र घुमायी और कुछ हमारे पास आये, हमसे दुआ-सलाम की, अपना अंगूठा ऊपर उठाया, मानो कहना चाहते हों: वहां अन्तरिक्ष में कितनी बड़ी घटनाएं हो रही हैं। शब्दों का आदान-प्रदान किये बिना ही हम एक-दूसरे को समझ गये। परन्तु कुछ ऐसे लोग भी थे, जिन्हें सन्देह था कि यह सब क्या इतने डालर ख़र्च करने लायक़ है।

मैं उन लोगों की भर्त्सना करना या उन्हें दोषी ठहराना नहीं चाहता, जो हर चीज़ पर पैसे की भाषा में विचार करते हैं। वे चाहते हैं कि धन किसी ठोस वस्तु में अभिव्यक्ति पाये—वह चाहे लिपस्टिक हो, या कार, गगनचुम्बी अट्टालिका हो या कुछ और, जब उनके पास दिखाने के लिए

धन रूपी कोई वस्तु नहीं होती, तो उन्हें लगता है कि उनका धन नाली में बह गया है।

यह अविवादास्पद है कि अन्तरिक्ष का अन्वेषण भारी ख़र्चों का तक़ाज़ा करता है। यह प्रश्न किसी भी मनुष्य को चिन्तित किये बिना नहीं रह सकता। यह मैंने वाशिंगटन में पहले ही दिन अनुभव किया, जब काल्ताई मुहम्मदजानोव और मैं अपने नाटक 'फ़ुज़ी पर्वत पर आरोहण' का 'आरेना स्टेज' थियेटर में प्रथम मंचन देख रहे थे। दर्शकों में उस समय कुछ हलचल, कुछ उत्तेजना पैदा हुई, जब एक पात्र, कृषिविशारद दोस्बेर्गेन अन्तरिक्ष अनुसन्धान की आवश्यकता नकारने का प्रयास कर रहा था। गरमागरम बहस के दौरान वह ज़ोर से बोला: "तू मुझे बारिश दे, जब मुझे उसकी ज़रूरत हो, उसे रोक दे, जब मुझे उसकी ज़रूरत न हो। अन्यथा मेरे लिए जहन्नुम में जाये यह अन्तरिक्ष! मुझे वहां जोताई नहीं करनी है, फ़सल नहीं उगानी है!" सारी रंगशाला के अन्दर फुसफुसाहट हो रही थी। परन्तु दर्शकों में उस समय अनुकूल प्रतिक्रिया भी उत्पन्न हुई, जब कृषिविशारद की अध्यापिका पत्नी ने लक्षित किया कि मौसम को क़ाबू में करने के लिए यह समझना ज़रूरी है कि पृथ्वी के चारों ओर क्या हो रहा है। मुझे याद है कि मास्को के 'सोव्रेमेन्निक' थियेटर में भी दर्शकों की ऐसी ही प्रतिक्रियाएं देखने को मिलती हैं।

निस्सन्देह, अन्तरिक्ष अनुसन्धान पर व्यय का दूसरे कार्यों के लिए उपयोग हो सकता है। परन्तु मेरा विचार है कि समाज के पास कुछ अनिवार्य, और भी ऊंचे कार्यभार हैं, जिनके समाधान के बिना प्रगति करना बहुत कठिन होगा।

जी हां, हम चाहे जो कहें या सोचें, पर जो अनिवार्य है, वह हो रहा है—विज्ञान और टेक्नालाजी प्रगति कर रहे हैं, मानवजाति आगे बढ़ रही है। और परिणाम? हमारा सबसे महत्वपूर्ण कार्यभार यह सुनिश्चित करना है कि यह प्रक्रिया सही दिशा में, सच्ची प्रगति की, मानव-सुख की दिशा में बढ़ती रहे।

# सह-अस्तित्व नहीं, तो अस्तित्व नहीं *

## राजनीतिक टीकाकार वीताली कोबिश के साथ बातचीत

**वी० को० :** एक वर्ष बीत चुका है और दूसरा शुरू हो रहा है। सबसे अधिक शुष्क स्वभाव के लोगों तक के लिए यह समय हमेशा एक भावनात्मक सीमा-रेखा हुआ करता है: जो बीत चुका है, उसकी कभी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती, और जो राह जोहता है, वह अज्ञात होता है।

**चं० आ० :** जी हां, यह नववर्ष के संवाद के समारम्भ का आम तरीक़ा जैसा प्रतीत होता है, परन्तु यह सच है कि बात ऐसी ही है, जब हम सचमुच अनुभव करते हैं कि समय-चक्र कितनी द्रुत गति से घूमता है, यही वह क्षण होता है, जब हमें क्षणभर के लिए रुकना और सोचना चाहिए। तो क्यों न कुछ सिंहावलोकन कर लिया जाये और उन कतिपय चिन्ताओं पर बात कर ली जाये, जो हमारे मन में व्याप्त हैं?

**वी० को० :** मुझे यक़ीन है कि जो चीज़ हमें सबसे ज़्यादा चिन्तित करती है, वही बहुत-से लोगों को बेचैन करती है—यह, निस्सन्देह, सर्वप्रथम यह विचार है कि हमारे संसार के लिए आनेवाला कल का दिन कैसा होगा?

**चं० आ० :** बिल्कुल सही बात है, यह पहली चीज़ है, जिसके बारे में हम सोचते हैं, और, दुर्भाग्यवश, इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मैं सच कहता हूं कि मुझे उन लोगों से ईर्ष्या होती है, जो "पुराने, उत्तम", प्राक-नाभिकीय काल में रहते थे। तब मनुष्य, जैसा कि मुझे प्रतीत होता है, अधिक सुगमतापूर्वक रहते और चैन से सांस लेते थे। नववर्ष की पूर्ववेला में वे अपने और अपने नज़दीकी लोगों के लिए बस परम्परागत शुभकामनाएं प्रकट किया करते थे। उनके लिए नववर्ष का अवसर पारिवारिक दिवस हुआ करता था। आज जब मनुष्य अपने बारे में सोचता है, तो उसे बहुत-सी दूसरी बातों के बारे में भी सोचना पड़ता है। यह बीसवीं शताब्दी जो है। बात यह है कि संसार में सारी मुख्य

* 'लितेरातूर्नाया गज़ेता', १३ जनवरी १६८२।

समस्याएं कसी हुई एक गांठ में, इतनी कसी हुई गांठ में बंधी हुई हैं कि कभी-कभी मैं सोचता हूं (इस तरह की तुलना के लिए क्षमा करें) कि मौजूदा पीढ़ी के आगे एक ऊंची दीवाल है। ऐसी भी समस्याएं हैं, जिन्हें दूसरों के हितों को ध्यान में रखे बिना हल करने का ही नहीं, अपितु जिनकी व्याख्या तक करने का प्रयत्न करना अयथार्थवादी है (स्वभावतः, बराबर-बराबर सुरक्षा का पालन करते हुए)।

**वी० को०:** मैं इससे सहमत हूं। जो लोग कल तक विरोधी मत रखते थे, वे वस्तुगत घटनाओं के दबाव में आज वार्ताओं में सहभागी तक बन सकते हैं। स्वभावतः, इस समय हमारा अभिप्राय निरस्त्रीकरण की समस्या से है—यह सबसे बड़ी भूमंडलीय समस्याओं में से एक है, जिसकी लपेट में अनिवार्य रूप से सब आ जायेंगे: क्या यही वह वर्ष हो सकता है, जब सबसे भयंकर बात मूर्त्त रूप ग्रहण कर लेगी, याने युद्ध, जो किसी को नहीं बख़्शेगा, जिसमें कोई भी अलग एक किनारे खड़ा नहीं रह पायेगा। इस अर्थ में गत वर्ष अन्य सब वर्षों से भिन्न था, जब धरती के लोगों की आंखें खुल गयीं।

**चं० आ०:** क्या आपका तात्पर्य असामान्य शान्ति आन्दोलन से है, जो पश्चिमी यूरोप में फैल गया था? निस्सन्देह, यह इतिहास की सशक्त कार्रवाई है। परन्तु क्या आप यह समझते हैं कि जनसाधारण के दबाव में आकर मुक़ाबलेबाज़ी की शक्तियों ने अपना झंडा झुका दिया है?

**वी० को०:** जी नहीं, मैं यह नहीं मानता। परन्तु आप इससे सहमत होंगे कि विशाल शान्ति आन्दोलन की उपेक्षा करना अब असम्भव हो चुका है। आपको याद होगा कि गत नवम्बर में राष्ट्रपति रीगन ने अपने भाषण में ऐसी बातें कहीं, जिनसे बहुत-से लोगों को आश्चर्य हुआ, शायद स्वयं उन्हें भी आश्चर्य हुआ होगा। उन्होंने शान्ति, शस्त्रास्त्रों में कटौती, वार्ताओं की बात की। मैं सबकी ओर से नहीं बोल सकता—मैं कूपमंडूकों को सचमुच कभी नहीं समझ पाता—परन्तु संजीदे ढंग से विचार करनेवाले लोगों ने तुरन्त अनुभव किया: यह चाल, सबसे अधिक परिष्कृत तिकड़म तक नहीं है, इसके पीछे कुछ अधिक गम्भीर बात छुपी हुई है। ज़ाहिर है, आज के हालात में युद्धप्रिय शब्दाडंबर वांछित फल कदापि नहीं दिया करता।

**चं० आ०:** जी हां, शायद यही बात है। मुझे लगता है कि यह, बहरसूरत, बहुत महत्वपूर्ण है। मैं शान्ति की प्राथमिकता को जनगण की मान्यता के बारे में बात कर रहा हूं। और दूसरे, इससे प्राप्त होनेवाले

अल्प-से-अल्प अंश तक का विश्व तनाव-शैथिल्य के संयुक्त हित में उपयोग करना आवश्यक है।

मैं राजनीतिज्ञ नहीं हूं, परन्तु, मेरी राय में, इसका अर्थ यह है कि वातावरण में गर्मी कुछ हल्की पड़ गयी है: आख़िरकार, इससे पहले अमरीकी कूपमंडूक हथियारों के ज़ख़ीरे बनाने की अपीलों पर हर्षध्वनि किया करते थे। मैं मानता हूं कि लेखक के रूप में मुझे इस तरह से हर्षध्वनि प्राप्त करने से सदा घिन रही है, क्योंकि किसी भी तरह की सामाजिक लफ़्फ़ाज़ी, मेरी राय में, द्वयार्थक, यही नहीं, ख़तरनाक तक होती है। अन्ततः, वह फ़ासिज़्म को पोसती है। इसलिए मैं सोच रहा हूं—शायद, वहां, महासागर पार संजीदे ढंग से सोचनेवाले लोग इन भावावेगों को नियन्त्रण में रखेंगे।

**वी० को० :** आप जो कहते हैं, वह तात्कालिक बात है। अधिक संजीदे और ईमानदार अमरीकी विश्लेषणकार इस चिन्ताभरे निष्कर्ष पर पहुंच रहे हैं कि अमरीका अपने वर्त्तमान रूप में ऐसे ख़तरनाक बिन्दु की ओर सरक रहा है, जिसके पार अभी से अमरीकी नमूने का फ़ासिस्टपरस्त तेवर दृष्टिगोचर होने लगा है।

**चं० आ० :** यदि बात ऐसी है, तो यह बुरा है। फिर भी मैं आशा करता हूं कि इस महान देश में ऐसे विवेकशील और प्रभावशाली लोग हैं, जो समझते हैं कि यह चीज़ किस ओर ले जायेगी।

**वी० को० :** मुझे डर है कि जिन्हें आपने विवेकशील और प्रभावशाली कहा है, वे अक्षम सिद्ध होते हैं।

**चं० आ० :** आपका तात्पर्य?

**वी० को० :** यह कि इस मामले में अमरीकियों का कटु अनुभव है। मैक्कार्थिज़्म प्राक्-फ़ासिज़्म था।

**चं० आ० :** परन्तु फ़ासिज़्म के पूर्वगामी के रूप में मैक्कार्थिज़्म को कुचल दिया गया था, उसकी बाहरी दुनिया में ही नहीं, अपितु स्वयं अमरीकियों ने भर्त्सना की थी।

**वी० को० :** मेरे ख़याल से, उसे केवल कुचल दिया गया था, नष्ट नहीं किया गया था, ये दो अलग-अलग चीज़ें हैं। अमरीका में आज जो कुछ हो रहा है, जिस जोश के साथ अमरीकी कूपमंडूक बाक़ी पूरी दुनिया के साथ भिड़ने के लिए तैयार है, यदि उसे देखा जाये, यदि यह दुनिया उसकी इस अवधारणा से मेल न खाती हो कि पृथ्वी पर किस तरह रहना चाहिए, तो यह मैक्कार्थिज़्म से ज़्यादा ख़तरनाक है। प्रसंगतः,

मैक्कार्थिज़्म के ज़माने में जो कुछ हुआ था, उसमें से बहुत-कुछ आज भी सक्रियपूर्वक फैल रहा है: नग्न अन्धराष्ट्रवाद, जासूसी का उन्माद, सन्दिग्ध व्यक्तियों की खोज।

**चं० आ०:** तो क्या आदिम ढंग के कूपमंडूक और वे लोग, जो आज अमरीका को गहरे खड्ड की ओर ले जा रहे हैं, उन विवेकशील लोगों से अधिक शक्तिशाली हैं, जो सामान्य बुद्धि और अमरीका में सबसे प्रगतिशील प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करते हैं?

**वी० को०:** आप बहुत ही ज़्यादा जटिल और, दुर्भाग्यवश, अब भी कुछ अस्पष्ट समस्या के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। इस मामले में मैं अर्थविधान के चक्कर में नहीं पड़ूंगा। परन्तु प्रश्न उठता है: कूपमंडूक क्या होता है और कौन है?

**चं० आ०:** जी हां, आप ठीक कहते हैं, यह सादा प्रश्न नहीं है। मैं कूपमंडूक मुख्यतया उसे मानता हूं, जो केवल अपनी चिन्ता करता है। उसके लिए अपना मंगल-कल्याण सबसे बड़ा ध्येय है, और किसी भी सामाजिक-परिवेशीय परिस्थिति में वह इस ध्येय की पूर्ति के लिए प्रचंड रूप से काम करेगा। जब ऐतिहासिक प्रवर्गों का मसला होता है, तो कूपमंडूक की अपनी कोई राय नहीं होती, वह अपने ऊपर थोपे गये सारे घिसे-पिटे विचारों का सदा अनुसरण करता रहता है।

**वी० को०:** सही बात है। कूपमंडूकों के रुख़ और कार्रवाइयों के लिए राजनीतिक नेताओं और जन सूचना साधनों की ज़िम्मेवारी और भी ज़्यादा बढ़ जाती है। और केवल राजनीतिक नेता ही ज़िम्मेवार नहीं हैं। मेरे ख़याल से, उन लोगों पर और भी ज़्यादा ज़िम्मेवारी है, जो राजनीतिज्ञों के साथ-साथ जनता की मन:स्थिति, संस्कृति का गठन करते हैं, उन्हें बौद्धिक और विचारधारात्मक चिन्तन सामग्री देते हैं, जो उपभोक्तावाद के हमारे युग में मानवजाति के एक बहुत बड़े भाग के लिए रोज़मर्रा की रोटी से ज़्यादा महत्वपूर्ण है।

**चं० आ०:** मुझे बहुत प्रसन्नता है कि आपने समस्या की इतनी स्पष्ट व्याख्या की है। पर छुपाना ही क्या, इस प्रश्न पर, जो मुझे बहुत उद्विग्न करता है, लोग मुझे सदा समझ नहीं पाते। कुछ लोग ऐसे हैं, जो उद्धततापूर्वक दावा करते हैं कि साहित्य और दूसरी कलाएं केवल उनके मनोरंजन के लिए हैं। वे सच्चे हृदय से सोचते हैं कि अपने मिज़ाज और आत्म-दम्भ पर निर्भर करते हुए वे या तो आपकी पीठ थपथपा सकते हैं या पांव पटक सकते हैं।

**वी० को० :** मैं आपके कहने का मतलब समझ गया हूं, मेरा केवल यह तात्पर्य है कि सब कुछ उतना सरल नहीं है, जितना कोई सोचता है। ऐसे भी लोग हैं, जो पूरी तरह समझते हैं कि साहित्य तथा कला किस तरह लोगों पर प्रभाव डालते हैं, अन्तर केवल यह है कि वे उन्हें अपने वर्गमूलक, कभी-कभी सैन्यवादी और साम्राज्यवादी ध्येयों के लिए उपयोग में लाते हैं।

**चं० आ० :** तब तत्काल साहित्य और कला की विचारधारात्मक दिशा का, इस या उस समाज में साहित्यिक प्रक्रिया में विद्यमान प्रवृत्तियों का प्रश्न उठता है। चूंकि हम विभक्त, एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ी दुनियाओं में रहते हैं, इसलिए समस्त प्रगतिशील सांस्कृतिक हस्तियों के लिए कलात्मक सृजनशीलता की एक आम अवधारणा की खोज करने की आवश्यकता उत्पन्न होती है।

**वी० को० :** क्या आपके विचार में यह सम्भव है?

**चं० आ० :** मुझे यक़ीन है कि यह सम्भव, यही नहीं, आवश्यक भी है। इसलिए कि हम पूरी समकालीन सभ्यता के आम संकट के समक्ष खड़े हैं। मानवजाति के सिर के ऊपर मंडरा रहे इस भयावह ख़तरे को सटीक रूप से पूर्वविधान के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है: "...पानी मेरी आत्मा तक पहुंच गया है।..." चेतावनी का "पानी" आज निरन्तर ऊपर उठता जा रहा है, बाढ़ की तरह हमारी गर्दन तक पहुंच रहा है। इन परिस्थितियों में हमें लोगों के लिए एक संयुक्त भाषा की तलाश करनी होगी, चाहे वे किसी भी दुनिया के हों। वह भाषा आज मानवतावाद के विचार प्रतिबिम्बित करती है।

**वी० को० :** यह बहुत अच्छा है। परन्तु जब मिसाइल आपकी ओर लक्षित हों, जब समाजवादी पोलैंड के विरुद्ध जेहाद का ऐलान कर दिया गया हो, तब क्या शुद्ध मानवतावाद की बात अमूर्त्त नहीं है? मेरे विचार में यह बात ठोस होनी चाहिए, क्योंकि मानवतावाद एक वर्गगत प्रवर्ग है।

**चं० आ० :** मैं सहमत हूं। "मानवतावाद" की यह अवधारणा स्वयं में अमूर्त्त प्रतीत हो सकती है। परन्तु इस बारे में यदि आप सोचें, तो मानवतावाद के विचारों को यथार्थ में परिणत करके ही हम संसार की रक्षा कर सकते हैं। और कोई रास्ता नहीं है। अब तक मानवजाति किसी ऐसे अधिक सार्विक वस्तु के पास नहीं पहुंच पायी है, जो पूरी मानव नस्ल को ऐक्यबद्ध कर सके।

**वी० को० :** परन्तु इसका मतलब यह तो नहीं है कि वर्ग संघर्ष की

अवश्यम्भाविता, क्रान्तिकारी प्रक्रियाएं और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन अपनी तीक्ष्णता, तात्कालिकता खो बैठते हैं और विश्व ख़तरे के मुक़ाबले में दूसरे स्थान पर पहुंच जाते हैं।

**चं० आ०:** निस्सन्देह, वर्ग, सामाजिक तथा राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की सारी समस्याएं मौजूद हैं और, ज़ाहिर है, वे समकालीन मानवजाति के जीवन में दीर्घ काल तक प्राथमिक महत्व के कारक बनी रहेंगी। जब हम शान्ति की बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य यक़ीनन ऐसी स्थिति बरक़रार रखने से नहीं है, जिसमें कुछ तो ऐश्वर्य के सागर में गोते लगाते रहें (जैसा कि डोमिनिकन गणराज्य में ट्रूजिल्लो के मामले में था, जिसने अपने शौचालय शुद्ध सोने से बनवाये थे), और दूसरे भूख, रोगों, सामाजिक अभावों के कारण काल के ग्रास बन रहें। इसके अलावा, यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि जब आज के घावों—घोर सामाजिक विषमताओं—का इलाज हो जायेगा, तो नयी समस्याएं सामाजिक विकास के नये स्तर पर प्रकट होंगी।

**वी० को०:** सम्भव है। परन्तु मुझे लगता है कि आज कुछ लोग उनमें मेल बिठाने का प्रयत्न कर रहे हैं, जिनमें मेल नहीं बिठाया जा सकता, और आम विनाश के ख़तरे की घंटी के बजने की पृष्ठभूमि में वे वर्गगत तथा राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष से सम्बन्धित प्रश्नों का यदि गला घोंटने का नहीं, तो उन्हें कम-से-कम कार्यसूची से हटाने का प्रयत्न अवश्य कर रहे हैं। बहाना यह है कि हमारे पास इन समस्याओं के लिए समय नहीं है, क्योंकि प्रलय का दिन हमारे समीप आता जा रहा है। इन समस्याओं और अवधारणाओं को सचेत ढंग से, कुत्सित इरादों के साथ गड्डमड्ड कर दिया जाता है।

**चं० आ०:** मैं इन्कार नहीं करता। परन्तु ये प्रश्न पहले कभी इतने जटिल ढंग से परस्पर सम्बन्धित नहीं हुए थे।

**वी० को०:** शायद, यही बात है। जैसा कि आप जानते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, ख़ास तौर पर, साल्वाडोर की घटनाओं के कारण बढ़ रहा है। दुनिया में बहुत-से लोगों का ख़याल है कि इस देश और सामान्यतया इस क्षेत्र के मामले में वाशिंगटन की नीति से युद्ध का एक और सरगर्म केन्द्र पैदा हो सकता है। क्या इसका मतलब यह है कि साल्वाडोर की दीर्घकाल से पीड़ित जनता को अपने जीवन के पुनर्गठन के लिए संघर्ष छोड़ देना चाहिए? और संसार के दूसरे प्रदेशों में, जहां अमरीकी सैन्यवाद की बैसाखियों के सहारे खड़ी कालातीत,

पुराकालीन हुकूमतें हैं? यक़ीनन, किसी को यह मांग करने का अधिकार नहीं है कि ये जनगण, यों कहें, आम अमन-चैन की खातिर अपने जीवन्त हितों की बलि दे दें?

**चं० आ०:** इससे कोई असहमत नहीं हो सकता, परन्तु इस बहुत ही पेचीदे मामले का एक और भी पहलू है: उकसावों का खतरा, जो आम सर्वनाश के लिए विस्फोटक सामग्री का काम दे सकते हैं। इन परिस्थितियों में मानवतावाद के विचार ठोस वर्गगत अर्थ ग्रहण कर लेते हैं और एक प्रकार के क़ुतुबनुमा का काम देते हैं, जिसे मानवजाति तूफ़ानों और संकटों के समुद्रों से बचकर सामान्य जीवन के महासागर में पहुंचने के लिए इस्तेमाल कर सकती है। तब पृथ्वी पर हर नर-नारी उतनी ज़िन्दगी जी सकेगा, जितनी उसे प्रकृति से मिली है, और वह इस तरह जी सकेगा, जिसके होमो सेपियन्स पात्र हैं।

**वी० को०:** आइये, अपनी बातचीत के मूल विषय की ओर लौटा जाये—इस विक्षोभपूर्ण, कुछ के लिए चिन्ताजनक काल में सांस्कृतिक क्षेत्र की हस्तियों का महत्व और भूमिका। वे क्या कर सकते हैं और उनसे क्या अपेक्षा की जा सकती है? मैं यह कहना चाहूंगा—वे बहुत कुछ कर सकते हैं और यह यक़ीनन उनका दायित्व है।

**चं० आ०:** यहां मैं बिना चालू शब्दों के उपयोग से नहीं बच सकता। प्रश्न उठता है: संस्कृति का, विशेष रूप से साहित्य का उदात्ततम उद्देश्य क्या है? भले ही लेखक भिन्न-भिन्न देशों तथा परस्पर विरोधी सामाजिक प्रणालियों के अन्तर्गत रहते हों, यह उद्देश्य इसमें निहित है कि हमें अपने समस्त सृजनात्मक प्रयास विवेक के विकास में लगा देने चाहिए। यह विवेक लोगों को पूर्वाग्रहों के उन तमाम रूपों और क़िस्मों से मुक्त कर देता है, जो उन्हें विभक्त करते हैं और उनके बीच टकराव पैदा करते हैं।

**वी० को०:** विवेक... क्या आज यह नितान्त भावशून्य विवेक नहीं है? और अपने नज़दीकी के प्रति सहानुभूति-सद्भावना, उसके लिए करुणा?

**चं० आ०:** क्या एक चीज़ दूसरे को वर्जित करती है? जीवन के अर्थ के बारे में मेरी समझ यह है कि विवेक सबके ऊपर है, कि वह दया से अविच्छेद्य है और अपरिहार्य रूप से बुराई का मुक़ाबला करता है। इसी कारण मैं यह मानता हूं कि साहित्य का उदात्ततम उद्देश्य लोगों के विवेक को जाग्रत करके उनमें मानवतावाद का समावेश करना है।

यही है वह चीज़, जिसे विश्व साहित्य में हमें, आज के लेखकों को ऐक्यबद्ध करना चाहिए। जी हां, हम समाजवादी यथार्थवाद की स्थिति अपनाते हैं, परन्तु यह चीज़ हमारे कलात्मक चिन्तन की सार्विकता को कदापि वर्जित नहीं करती, इसके विपरीत उसकी ही पूर्वकल्पना करती है। यदि गुज़रे ज़माने में तोलस्तोय, दोस्तोयेव्स्की, चेख़ोव हरेक से सरोकार रखनेवाले विचार व्यक्त करते थे, तो आज ऐसी गहन, नाटकीय सार्विक समस्याएं विद्यमान हैं, जिनकी ओर हम अभी तक नहीं बढ़े हैं, जो अपने कलात्मक विवेचन की प्रतीक्षा कर रही हैं। यह महत्वपूर्ण नहीं है कि वह कलाकार कहां, संसार के किस भाग में पैदा होता है, जिसे २०वीं शताब्दी की उथल-पुथल को इस तरह अनुभव करने का और उसका इस तरह वर्णन करने का वरदान प्राप्त होगा कि वह लोगों के लिए रहस्योद्घाटन हो, चाहे वे एक-दूसरे से कितनी ही दूर क्यों न रहते हों, चाहे उन्हें कोई भी चीज़ विभक्त करती हो।

**वी० को०:** क्या आपके कहने का तात्पर्य यह है कि हमें अन्य तोलस्तोयों, दोस्तोयेव्स्कियों और चेख़ोवों के प्रकट होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए?

**चं० आ०:** यह बात पूरी तरह ठीक नहीं है। शायद वे प्रकट होंगे और शायद, डरिये मत, वे पहले ही यहां मौजूद हों।

**वी० को०:** मैं डरता नहीं, परन्तु मुझे इसके लक्षण नहीं दिखायी देते, हालांकि ठीक-ठीक जानता हूं कि आज क़लम के बड़े-बड़े धनी विद्यमान हैं।

**चं० आ०:** आइये, सटीक शब्दों में बात की जाये। याद है, गाब्रियल गार्सिया मार्क्वेज़ सुदूर कोलम्बिया से कैसे हमारे जीवन में प्रकाश-पुंज की भांति प्रकट हुए? हमारी कलात्मक चेतना पर उनका कितना गहन प्रभाव पड़ा? परन्तु वह उस जीवन के विषय में लिखते हैं, जो हमसे अविश्वसनीय रूप से दूर है, जिसका पहली नज़र में हमारे यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरे विचार से, हमारे देश में भी ऐसे लेखक हैं, जिन्हें अन्य देशों में, दुर्भाग्यवश, अभी तक पूर्ण मान्यता नहीं मिली है। उनके सृजन-कार्यों का सार्विक महत्व है। समय सब कुछ तय करेगा।

**चं० आ०:** आपको तो यह शिकायत नहीं हो सकती कि हमारे देश से बाहर आपको मान्यता नहीं मिली है। आपकी कृतियां तो पूरे संसार में पढ़ी जाती हैं।

**चं० आ० :** पहली बात तो यह है कि अकेले मेरी ही पुस्तकें ही नहीं पढ़ी जातीं, ख़ैर बात इस बारे में नहीं है। संसार में आज जासूसी पुस्तकें सबसे ज़्यादा पढ़ी जाती हैं। परन्तु हमारा सोवियत साहित्य आधुनिक पाठक को जो पेश करता है, वह किसी भी अन्य साहित्य में उपलब्ध नहीं है। हमारे अपने विचार, अपना चेहरा है और आधुनिक साहित्यिक प्रक्रिया हमारी शिरकत के बिना नहीं चल रही है।

**वी० को० :** आप ठीक कह रहे हैं। हमारे बहुत-से लेखक यह दर्शाते हैं कि शब्द कैसे काल को, युग को प्रभावित कर सकता है, चाहे किसी भी तरह के पूर्वाग्रह, आपसी नासमझी, मतभेद बाधक बनते हों। मेरी बड़ी इच्छा है कि अधिक-से-अधिक लोग हमारी सर्वोत्तम कृतियों को पढ़ें।

**चं० आ० :** आपने बहुत ही पवित्र विषय को स्पर्श कर लिया है। इस बात का आज से पहले कभी इतना महत्व नहीं था कि पारस्परिक समझ की प्रक्रिया सक्रियतापूर्वक, फलप्रद ढंग से विकसित हो। तब वह बहुत कुछ लुप्त हो जायेगा, जो लोगों को विभक्त करता है, उन्हें एक-दूसरे के लिए पराया बनाता है। अधिक अनुवाद, अधिक प्रकाशन, एक-दूसरे की पुस्तकों को अधिक पढ़ना—यह है पारस्परिक समझ का मार्ग।

**वी० को० :** इस सिलसिले में मैं एक और महत्वपूर्ण पहलू पर ज़ोर देना चाहता हूं। पश्चिम में प्रलय, मानवजाति के पूर्ण सर्वनाश की अवश्यम्भाविता की बातें महज़ नाभिकीय स्फोटक-शीर्षों की गिनती का परिणाम नहीं हैं, अपितु वे दरअसल एक तरह का फ़ैशन बन गयी हैं। इस बारे में आपका क्या विचार है?

**चं० आ० :** हमारा अभिप्राय, निस्सन्देह, महज़ फ़ैशन से नहीं है, अपितु उससे भी कुछ बड़ी चीज़ से है। पश्चिम में ऐसे लेखक हैं, जो इस बात पर ज़ोर देते हैं कि युद्ध अवश्यम्भावी हैं। उनका दावा है कि दो परस्पर विरोधी प्रणालियां कभी एकसमान भाषा नहीं ढूंढ़ पायेंगी, कि मनुष्य के स्वभाव में आक्रामकता के ऐसे तत्त्व होते हैं, जो युद्ध को अवश्यम्भावी ही नहीं, अपितु कतिपय कारकों के कारण, विशेष रूप से जनसंख्या में वृद्धि के कारण आवश्यक बना देते हैं। वे युद्ध को एक तरह से शरीर की सफ़ाई-धुलाई मानते हैं। दरअसल वे इसका लगभग परपीड़ामय कामुकता के लहज़े में वर्णन करते हैं। वे लोगों को युद्ध के अवश्यम्भावी होने के विचार का आदी बना देते हैं, उन्हें डराते हैं, इस विभीषिका के सामने उन्हें अपने को बेबस और तुच्छ अनुभव करने

के लिए बाध्य करते हैं। मैं यह मानता हूं कि ऐसा साहित्य आज जीवित लोगों और आनेवाली पीढ़ियों के प्रति अपराध है।

**वी० को०:** जी हां, यह पश्चिमी यूरोप में अमरीकी पेर्शिंग-२ और क्रूज़ मिसाइल बिठाये जाने जितना ही ख़तरनाक है। यह मानव-आत्मा के प्रति उसी तरह की हिंसा है, मानव-आत्मा में उसी तरह की घुसपैठ है। वे केवल सैनिक श्रेष्ठता प्राप्त करने का ही यत्न नहीं कर रहे हैं, अपितु ज़िन्दा रहने की लोगों की इच्छा को, मानव नस्ल को जारी रखने की सहजवृत्ति को कुचलने का प्रयास कर रहे हैं।

**चं० आ०:** यह घिनौनी चीज़ है। हमारी मुक्ति तो इसमें निहित है कि जीने की इच्छा मनुष्य में व्याप्त है, जिसे नष्ट करने की शक्ति किसी में भी, किसी भी चीज़ में नहीं है।

**वी० को०:** अन्ततः, मनुष्य की रक्षात्मक प्रणालियां किसी भी तरह की शस्त्रास्त्र प्रणाली से, शस्त्रास्त्रों की सबसे अधिक घातक प्रणाली तक से अधिक शक्तिशाली हैं। धनुष-वाण के आविष्कार से लेकर गोला-बारूद के युग तक नयी क़िस्म के शस्त्रास्त्रों ने सदैव आम भय पैदा किया है। फिर भी लोग ज़िन्दा रहे, उन्होंने अपने को भय से मुक्त किया। निस्सन्देह, आज के नाभिकीय शस्त्रास्त्रों की किसी से कोई तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि वे समस्त जीवधारियों के लिए ख़तरा हैं।

**चं० आ०:** यही तो सारी बात है। परन्तु, दूसरी ओर, जहां ये हथियार भांजे जा रहे हैं, वहीं लोग बहुत अच्छी तरह समझते हैं कि उनके उपयोग का अर्थ आत्म-हत्या करना होगा। कुछ भी हो, सामान्यतया हथियार अपने में इतने ख़तरनाक नहीं होते, मुख्य समस्या है मानव-सम्बन्धों की अवस्था। इस मामले में हम पृथ्वीवासियों को अत्यधिक सावधानी, आत्म-नियन्त्रण, विवेक से काम लेना होगा। इतिहास में वह समय आ गया है, जब ग़लती बस एक ही बार होगी—सुरंग पर एक ही बार पांव पड़ता है, बस! मुझे यक़ीन है कि इसे सर्वत्र समझा जा रहा है। तब प्रश्न उठता है: आगे कैसे ज़िन्दा रहा जाये? हमें पूर्वाग्रहों के जूए से अपने को मुक्त करना होगा, मतभेदों के ऊपर उठने का प्रयत्न करना होगा, विवेक-बुद्धि का परिचय देना होगा और इस बात पर सहमति प्राप्त करनी होगी कि इस बारे में सोचने के बजाय कि हम कितनी बार मानवजाति को नष्ट कर सकते हैं, इस बारे में सोचना होगा कि अपने ग्रह की एक ही छत के नीचे कैसे जीवन-यापन किया जाये।

**वी० को० :** तो पृथ्वी पर एक साथ सह-अस्तित्व अपरिहार्य ही नहीं है, अपितु सह-अस्तित्व के साधन—सद्भावना—से, सच्चे और यथार्थवादी संवाद से कई गुना वृद्धि होगी। आइये, अपने इस संवाद का शीर्षक रखें—सह-अस्तित्व नहीं, तो अस्तित्व नहीं। और कोई रास्ता नहीं है।

**चं० आ० :** पता नहीं, इस वर्ष सफल संवाद—सबके लिए अद्भुत उपहार—सम्भव होगा या नहीं। हम इस आशा के सहारे जीते हैं कि शस्त्रास्त्र लोगों का संहार नहीं करेंगे, अपितु लोग शस्त्रास्त्रों का संहार कर देंगे और प्रत्येक दिवस ख़तरा नहीं, अपितु सुख लायेगा।

**वी० को० :** आइये, सबके लिए, अपने देश और पूरे संसार के लोगों के लिए नववर्ष के उपलक्ष्य में सुख की कामना करें। और उनके लिए सहृदयता और विवेक-बुद्धि की भी कामना करें, जिनके बिना सुख असम्भव है।

# पूर्वाग्रहों का निराकरण*

**न्यूयार्क में डबल्यू० बी० आई० सी० रेडियो स्टेशन में अमरीकी श्रोताओं के साथ बातचीत**

**अनाउंसर:** सुप्रभात! मेरा नाम जान फ़िस्कर है।

हम अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं।

मेरे साथ स्टुडिओ में चंगेज़ आइत्मातोव हैं। वह यहां संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मानित अतिथि और पृथग्वासन पर संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में सोवियत जनता के प्रतिनिधि के रूप में पधारे हैं। आज वह पृथग्वासन विषयक नाना प्रश्नों के बारे में बोलेंगे और साथ ही सोवियत संघ के विषय में भी बतायेंगे।

श्री आइत्मातोव रूसी में बोलेंगे और उनके शब्दों का अंग्रेज़ी भाषा में साथ-साथ अनुवाद दिया जायेगा।

तो श्री आइत्मातोव, क्या आप हमें विशेष अधिवेशन के काम के बारे में कुछ बताने का कष्ट करेंगे?

**चं० आ०:** प्रयत्न करूंगा। परन्तु सबसे पहले मैं श्रोताओं का अभिवादन करना चाहता हूं। मेरे ख़याल से, आपको अमरीकी रेडियो पर सोवियत लोगों की वाणी अक्सर सुनने को नहीं मिलती होगी, ख़ास तौर पर ऐसे समय, जब हमारे दो देशों के आपसी सम्बन्ध बहुत तीक्ष्ण हो गये हैं। मुझे यह अवसर मिलने पर प्रसन्नता है। सचमुच, सम्मानित अतिथि के रूप में मैंने पृथग्वासन पर संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के विशेष अधिवेशन में भाग लिया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने विभिन्न देशों से साहित्य और कला के क्षेत्र के जाने-माने लोगों और संस्कृतियों के प्रतिनिधि निमंत्रित किये थे। मुझे भी यह सम्मान प्राप्त हुआ।

**जा० फ़ि०:** क्या अधिवेशन में अमरीका की सांस्कृतिक हस्तियों के प्रतिनिधि थे?

**चं० आ०:** दुर्भाग्यवश, नहीं।

---

* 'सोवेत्स्काया कुल्तूरा', २१ मई १९८२ (संक्षिप्त)।

**जा० फ़ि० :** जब मैं इस बातचीत की तैयारी कर रहा था, मेरा ध्यान इस ओर गया कि आप सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत के सदस्य और साथ ही देश की जातियों की सोवियत के वैदेशिक मामलों के आयोग के भी सदस्य हैं। क्या सोवियत संघ में किसी सांस्कृतिक हस्ती का, इस मामले में, लेखक का सत्ता के निकायों में होना आम बात है?

**चं० आ० :** बिल्कुल आम बात है। हम इस बात की कल्पना ही नहीं कर सकते कि हमारी संसद में सृजनशील बुद्धिजीवी समुदाय के निर्वाचित प्रतिनिधि न हों। मैं नाना लेखकों, चित्रकारों, मूर्तिकारों, संगीतकारों, फ़िल्म डायरेक्टरों के नाम ले सकता हूं, जो संसद में हैं। बहुत-से प्रमुख विद्वान भी सोवियत संसद के सदस्य हैं।

**जा० फ़ि० :** इस मामले में, निस्सन्देह, सोवियत संघ तथा अमरीका में असाधारण अन्तर है।

**चं० आ० :** जी हां, अन्तर बहुत बड़ा है। अमरीका में सीनेटर या कांग्रेसमैन, जहां तक मुझे पता है, आम तौर पर पेशेवर राजनीतिज्ञ होता है। हमारे लिए संसद की सदस्यता अतिरिक्त सामाजिक कार्य है, जो मुख्य व्यवसायगत कार्यकलाप के साथ-साथ सम्पन्न किया जाता है। उदाहरण के लिए, चित्रकार चित्रकारिता करता रहता है, परन्तु कुछ समय संसद के सदस्य के दायित्व की पूर्ति में लगाता है।

**जा० फ़ि० :** जब आप पुन: अपने लेखन-कार्य की ओर लौटेंगे, तो क्या आप पृथग्वासन पर कुछ लिखेंगे?

**चं० आ० :** मैं पृथग्वासन के प्रश्नों से सम्बन्धित अपनी वर्त्तमान यात्रा के विषय में बताना चाहूंगा। मुझे आशा है कि श्रोता मुझे ठीक तरह समझेंगे। ऐसे लग सकता है कि हम लोग अफ़्रीका से, संसार के उन अन्य भागों से बहुत दूर रहते हैं, जहां नस्ली भेदभाव और पृथग्वासन विद्यमान हैं। ऐसे लग सकता है कि हमें इन समस्याओं से परेशान होने की ज़रूरत नहीं है। परन्तु हमारी नीतियों, हमारी विचारधारा, हमारी संस्कृति का सार इसमें निहित है कि हम उसके प्रति, जो पृथ्वी पर हो रहा है, कुछ द्वारा दूसरों के साथ ऐतिहासिक, आदिम अन्याय के प्रति उदासीन नहीं रह सकते। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम इस अन्याय को, अगर ऐसा कहा जा सके, "अपने हाथों से" दूर करने के लिए तैयार हैं। परन्तु हमारा विश्वास है कि इन समस्याओं के बारे में बोलना, उनके बारे में सोचना, उन्हें बेनक़ाब करना, सबको उनसे अवगत कराने

के लिए यथाशक्ति सब कुछ करना, उनकी व्यापकतम भर्त्सना सुनिश्चित करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है।

**जा० फ़ि०:** क्या विशेष अधिवेशन का यह मुख्य ध्येय है? दूसरे शब्दों में, उसका अन्तिम परिणाम क्या होगा?

**चं० आ०:** मेरे विचार से, उसके कार्य के परिणाम निकलेंगे। यह बहुत लम्बा काम है। मेरी राय में, राजनीतिक, आर्थिक तथा क़ानूनी प्रश्नों के अलावा यह प्रश्न भी पैदा होता है कि इस समस्या के वास्तविक अर्थ की लोगों की समझ कितनी गहरी है, आधुनिक समाज नस्लवाद के अमल से कितना चिन्तित है। यदि हम इसके बारे में बात न करें, यदि हम नस्ली भेदभाव के विरुद्ध जनगण की आत्मा को उत्तेजित न करें, तो यह शर्मनाक परिघटना दीर्घकाल तक जीवित रहेगी। इस बात की आवश्यकता है कि यथाशक्ति काम किया जाये, ताकि लोग अन्ततः एक ही निष्कर्ष पर पहुंचे: इस तरह की स्थिति असह्य है, मानवजाति के विकास में, उसके इतिहास में ऐसा समय आ गया है, जब इस परिघटना को लाज़िमी तौर पर जड़ से मिटा देना होगा। नस्लवाद पृथ्वी पर सामान्य जीवन में बाधक बनता है, नस्ली भेदभाव लाखों-लाख लोगों को दुख-कष्ट पहुंचाता है। इस समस्या के प्रति हम उदासीन कैसे रह सकते हैं? अपने अख़बारों, अपने सामाजिक जीवन में हम इसके प्रति तीक्ष्ण प्रतिक्रिया प्रकट करते हैं।

**जा० फ़ि०:** दक्षिण अफ़्रीका में स्थिति से सोवियत जन कितनी अच्छी तरह अवगत हैं? अमरीका में हम इस बारे में नियमित रूप में सूचना पाते रहते हैं कि वहां क्या हो रहा है। अधिकांश अमरीकी वहां हो रही घटनाओं से अच्छी तरह परिचित हैं। वहां जो हो रहा है, वह नैतिक दृष्टि से घृणास्पद है। क्या सोवियत संघ में इस प्रश्न पर व्यापक रूप में विचार किया जाता है?

**चं० आ०:** हम इस पर केवल व्यापक रूप में ही विचार नहीं करते, अपितु इससे बहुत चिन्तित भी रहते हैं। लोगों के प्रदर्शनों पर गोलियां चलायी जाती हैं, जो दूसरों के साथ समानता के अपने न्यायसंगत अधिकार की मांग करते हैं। बाईस साल पहले जोहान्सबर्ग के उपनगर शार्पेविल में और उसके बाद सोवेटो में जो घटनाएं हुईं, उन्हें हम कभी नहीं भूल सकते। सात साल के बच्चों तक पर गोलियां चलायी गयीं। क्या यह क्रूरतम हिंसा नहीं है? हमारे दृष्टिकोण से, इसकी केवल भर्त्सना ही नहीं की जानी चाहिए, अपितु उसके विरुद्ध दैनंदिन संघर्ष, नैतिक

संघर्ष, राजनीतिक संघर्ष किया जाना चाहिए, कम-से-कम इसलिए कि हम अपने को ऐसे इन्सान अनुभव कर सकें, जो २०वीं शताब्दी के योग्य हैं।

हम स्वयं सुन्दर ढंग से जीवन-यापन करते हैं और इन समस्याओं से अछूते हैं। पर क्या यह महत्वपूर्ण है? हम सभी एक ग्रह पर तो रहते हैं। क्या हम तसल्ली से रह सकते हैं, जब दूसरे दुख-कष्ट भोग रहे हों? यह बात आज २०वीं शताब्दी के अन्त में विशेष रूप से स्पष्ट हो गयी है। यदि कोई जनता या एक भी इन्सान तक मुसीबत में हो, तो कोई भी उदासीन नहीं रह सकता। मानवजाति के समक्ष कार्यभार, मेरी राय में, यह है कि एक तरह की विश्वव्यापी चेतना तैयार की जाये। शायद इसमें अभी बहुत समय लगेगा, यह अत्यधिक ऐतिहासिक विकास की अपेक्षा करती है। परन्तु समय आयेगा, जब हरेक दूसरों के बारे में उसी तरह सोचेगा, जिस तरह वह अपने बारे में सोचता है, दूसरों की आवश्यकता को उसी तरह अनुभव करेगा, जिस तरह वह अपनी आवश्यकता को अनुभव करता है। यही अवधारणा जनगण के मध्य विद्यमान होनी चाहिए।

**जा० फ़ि०:** आपने कहा था कि अमरीका और सोवियत संघ के आपसी सम्बन्ध बहुत तीक्ष्ण हो गये हैं। साथ ही दक्षिण अफ़्रीका में पृथग्वासनमूलक शासन के साथ अमरीका के सम्बन्धों में काफ़ी मृदुता आ गयी है। विशेष रूप से, हाल में यह घोषणा की गयी थी कि हम दक्षिण अफ़्रीका को विमान तथा ऐसी टेक्नालाजी बेचने का इरादा रखते हैं, जिन्हें सैनिक उद्देश्य के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। क्या इस तथ्य का विशेष अधिवेशन के साथ कोई सम्बन्ध है?

**चं० आ०:** मैं यह नहीं कह सकता कि इस तथ्य का विशेष अधिवेशन के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध है या नहीं। आखिरकार, यह वर्ष, १९८२, दक्षिण अफ़्रीका के विरुद्ध अनुशासनात्मक पग उठाने के याने संयुक्त राष्ट्र संघ के दायरे में अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाई करने के समर्थन में एकजुटता का अन्तर्राष्ट्रीय वर्ष घोषित किया गया था। हम सब चाहते हैं कि बड़ी शक्तियों के बीच सम्बन्ध सामान्य रहें और निरन्तर सुधरते जायें। मुझे इस समाचार से बहुत चिन्ता हुई कि नवीनतम विमानन टेक्नालाजी नस्लवादी हुकूमत को बेची गयी है।

**जा० फ़ि०:** एक और पहलू है, जिस पर आम तौर पर अमरीकी प्रेस में प्रकाश नहीं डाला जाता: पृथग्वासन अपने वर्त्तमान रूप में, जिसे हम

"तीक्ष्ण नस्लवाद" मानते हैं, दक्षिण अफ़्रीका में कम्युनिस्टविरोधी प्रवृत्तियों से उत्पन्न होता है। जिस समय अमरीका में मैक्कार्थिज़्म का बोलबाला था, उस समय दक्षिण अफ़्रीका में विधि-निर्माण कार्य में बुनियादी परिवर्तन किये गये। अत: पृथग्वासन का अमरीका द्वारा समर्थन किये जाने का एक कारण — उसकी अपनी नस्लवादी परम्पराओं के अलावा — कम्युनिज़्म-विरोध है। क्या इस प्रश्न पर आप कुछ कहना चाहेंगे?

**चं० आ० :** यह हमारे लिए कोई नयी जानकारी नहीं है। अपनी प्रतिक्रियावादी गतिविधियों को "कम्युनिस्ट ख़तरे" के नाम पर न्यायोचित ठहराने से आसान काम कुछ और नहीं हो सकता। यह मसलों को गड्डमड्ड करना है। सत्य को तोड़ने-मरोड़ने के लिए तिकड़में की जाती हैं। और सत्य यह है कि दक्षिण अफ़्रीका की मूल आबादी में विशाल बहुसंख्या आज अमानवीय अवस्थाओं में रहती है, बेरोज़गारों की तादाद बेहद ज़्यादा है, चिकित्सा सेवाओं की स्थिति दयनीय है, शिक्षा का अभाव है। इस बीच गोरी अल्पसंख्य आबादी को उस समृद्ध देश के तमाम लाभ उपलब्ध हैं। लोगों को शिक्षा के अधिकार से, विश्व संस्कृति की महती उपलब्धियों तक पहुंच से कैसे वंचित किया जा सकता है? मैं दक्षिण अफ़्रीका की मूल आबादी के घोर शोषण की तो बात ही नहीं करता। परन्तु क्या इसे बरक़रार रहने की इजाज़त दी जा सकती है!

इतिहास महज़ नेक इरादों से नहीं बनता। विकास के उसके अपने नियम हैं। ऐसी हुकूमत का समर्थन नहीं किया जाना चाहिए, जो अपनी जनता को दुख-कष्ट के मुंह में पहुंचाती है, जो जनता को सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन से वंचित करती है। क्या इस तरह के अन्याय को महज़ इस कारण सहन किया जा सकता है कि दक्षिण अफ़्रीका के शासक वर्ग का शीर्ष भाग कम्युनिस्टविरोधी है? इस नीति को सहायता देते रहना जुर्म है। यदि सारे राजनीतिक पहलुओं को एक किनारे तक रख दिया जाये, तब भी यह सीधे-सीधे अमानवीय है। आपकी प्रतिक्रियावादी शक्तियां समस्या के समाधान में मदद देना तो रहा दूर, उलटे उसे और भी तीक्ष्ण बना रही हैं।

**जा० फ़ि० :** मुझे अपनी बात जारी रखने की अनुमति दें। क्या आपकी चिन्ता का कारण अंशत: यह है कि आप क़िर्गिज़ हैं और आप अपनी जाति की संस्कृति को संरक्षित रखना चाहते हैं? क्या आप सोवियत संघ में अल्पसंख्य जातियों के बारे में अधिक विस्तारपूर्वक बतायेंगे?

**चं० आ० :** सहर्ष ऐसा करूंगा। पहली चीज़, नस्ली समस्याओं के बारे में मेरी चिन्ता का कारण शायद यह है कि १९१७ की समाजवादी क्रान्ति से पहले हमारे यहां भी ऐसी ही समस्याएं थीं। परन्तु अब वह अतीत की बात हो चुकी है। हम उस कठिन युग को भूलने लगे हैं। हमारी नयी पीढ़ी उसके बारे में केवल इतिहास की पुस्तकों से जानकारी पाती है। हम क़िर्ग़िज़ जाति के लोग पन्द्रह समानाधिकारप्राप्त संघीय जनतंत्रों में से एक हैं। अल्पसंख्य जाति के रूप में हम हीन भावना से पीड़ित नहीं हैं। हमारे लिए "अल्पसंख्य जाति" शब्द गुण का नहीं, अपितु परिमाण का द्योतक है।

**जा० फ़ि० :** और सांस्कृतिक अर्थ में?

**चं० आ० :** सांस्कृतिक अर्थ में हमारा अनुभव, मेरे विचार में, बहुत दिलचस्प है। मेरे ख़याल से, वक़्त आने पर बहुत-से देश तथा जनगण हमारे अनुभव से सीखेंगे। सभी प्रमुख शक्तियां बहुजातीय राज्य हैं। और इन देशों की आन्तरिक समस्याएं—विभिन्न जातीय ग्रुपों की पारस्परिक अन्तर्क्रिया और पारस्परिक सहयोग—कोई कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

**जा० फ़ि० :** आपकी कुछ पुस्तकें अंग्रेज़ी में भी तो प्रकाशित हुई हैं?

**चं० आ० :** जी हां, बेशक; कई ब्रिटेन और अंग्रेज़ी भाषाभाषी अफ़्रीकी देशों में छपी हैं। हाल में मुझे एक सरकारी सूचना दी गयी, जिसमें बताया गया कि पिछले पांच वर्षों में लगभग ९० विदेशी प्रकाशनगृहों ने भिन्न-भिन्न भाषाओं में मेरी पुस्तकें प्रकाशित की हैं। उनमें से सबसे अधिक यूरोप में छपीं। मैं इस सुअवसर का लाभ उठाते हुए यह कहना चाहता हूं कि अमरीका के साथ हमारे सांस्कृतिक सम्बन्धों में बहुत ज़्यादा सुधार की गुंजाइश है। इनकी यूरोपीय संस्कृतियों के साथ हमारे सांस्कृतिक सम्पर्कों से तुलना नहीं की जा सकती।

प्रसंगत:, संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिवेशन के उपरान्त फ़िनलैंड, स्वीडन, हंगरी, इटली, मंगोलिया तथा अन्य देशों के प्रतिनिधि मेरे पास आये और मुझसे पुस्तकों के बारे में पूछने लगे। हमने साहित्य के विषय में बातचीत की। परन्तु कोई अमरीकी मेरे पास नहीं आया। मैं झिड़की नहीं दे रहा हूं। मैं केवल यह कहना चाहता हूं कि हम एक-दूसरे को जितना अच्छा जानेंगे, भूमंडलीय समस्याएं हल करने में उससे उतनी ही अधिक सहायता मिलेगी।

**जा० फ़ि० :** मेरे ख़याल से, कुछ लेखक शायद इस समय हमें

सुन रहे हैं। जब आप यहां अमरीका आते हैं, तो क्या आप अपने अमरीकी सहयोगियों के साथ मुलाक़ात की पहले से योजना बना सकते हैं?

**चं० आ०:** सिद्धान्ततः—हां। परन्तु इस बार यह मेरा ध्येय नहीं था। मैंने तय किया था कि जब मैं अमरीका जाऊंगा, तो पहले देखूंगा कि यहां स्थिति कैसी रहती है, मेरे पास वक़्त रहता है या नहीं।

*स्टुडियो में कार्यक्रम के दौरान कई फ़ोन आये। श्रोताओं के प्रश्न विविध प्रकार के थे। उदाहरण के लिए, उन्होंने सोवियत संघ से यहूदियों के प्रवास के बारे में पूछा, इस बारे में सर्वथा परस्पर विरोधी विचार व्यक्त किये। कुछ लोगों के मूल्यांकन में अमरीका के बुर्जुआ प्रचार की ध्वनि थी। कुछ ने समस्या के बारे में वस्तुपरकता और समझदारी का परिचय दिया। लोगों ने "बर्लिन दीवाल", अमरीकी-सोवियत सांस्कृतिक सम्बन्धों के क्षेत्र में अप्रिय स्थिति के बारे में पूछा, जिसके लिए अमरीकी प्रशासन दोषी था। दक्षिण अफ़्रीका में, ऐसे राज्य में, जो आधुनिक विश्व में नस्ली भेदभाव का प्रतीक है, पृथग्वासन के विरुद्ध संघर्ष में विशेष दिलचस्पी प्रकट की गयी थी।*

**श्रोता:** दूसरे देश दक्षिण अफ़्रीका में इस स्थिति का अन्त करने के लिए क्या कर सकते हैं?

**चं० आ०:** सबसे पहले, मेरी राय में, व्यापक पैमाने पर नैतिक भर्त्सना आवश्यक है। इसके अलावा राज्य आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में प्रतिबंधात्मक पग उठा सकते हैं।

बहुत पहले से यह बात सर्वविदित है कि केवल वे ही दास नहीं होते, जो उत्पीड़ित हैं, अपितु जो दूसरों का उत्पीड़न करते हैं, वे भी दास होते हैं। जो दूसरों को स्वतन्त्रता से वंचित करते हैं, वे अपने को भी स्वतन्त्रता से वंचित करते हैं। उनके पास आन्तरिक स्वतन्त्रता नहीं होती। वे स्वयं अपनी हिंसा के दास बन जाते हैं। पृथग्वासन की हुकूमत के अन्तर्गत उत्पीड़क अपने को दूसरों से अलग-थलग कर देते हैं। अन्त में वे अपने को सार्विक संस्कृति से अलग-थलग कर बैठते हैं। इसलिए यदि जनमत पृथग्वासन को पारस्परिक सम्बन्धों का अमानवीय रूप मानते

हुए उसके प्रति अपना नकारात्मक रुख़ व्यक्त करे, तो अकेले यही चीज़ आगे बढ़ने में मदद दे सकती है।

**जा० फ़ि०:** इसका तात्पर्य उन तमाम राज्यों की नैतिक भर्त्सना है, जो पृथग्वासन का समर्थन करते हैं, यही बात है न?

**चं० आ०:** निस्सन्देह। राज्य पृथग्वासन का समर्थन कर सकता है, परन्तु जनता इस समर्थन की निन्दा कर सकती है।

**जा० फ़ि०:** आइये, आशा करें कि अमरीका में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जायेगी।

**श्रोता:** और अगर दक्षिण अफ़्रीका विश्व दबाव के आगे न झुके, तो? तब क्या किया जाना चाहिए?

**चं० आ०:** पहली चीज़, यह मेरी सिफ़ारिशों पर निर्भर नहीं करता। आप जानते ही हैं, मूल आबादी संघर्ष का रास्ता अपनाने के लिए विवश होती है। इसकी कई मिसालें हैं।

**जा० फ़ि०:** हम देख रहे हैं कि दक्षिण अफ़्रीका में संघर्ष बढ़ रहा है।

**चं० आ०:** निस्सन्देह, बढ़ रहा है। वह छापामार संघर्ष का रूप ग्रहण कर रहा है। ख़ास तौर पर नमीबिया में। आप जानते ही हैं कि स्वापो* के पास पर्याप्त सैनिक शक्ति है और यह शक्ति बढ़ती जा रही है। बेशक, बेहतर होता, अगर यह समस्या शान्तिपूर्ण तरीक़े से हल की जा सकती।

**जा० फ़ि०:** मैं श्रोताओं को याद दिलाना चाहता हूं कि इस सप्ताह के आरम्भ में दक्षिण अफ़्रीकी सैनिकों ने अंगोला पर आक्रमण किया और २०० से अधिक अंगोलावासियों की हत्या की।

*कुछ श्रोताओं के प्रश्न सोवियत संघ द्वारा रासायनिक हथियारों के कथित उपयोग के बारे में वाशिंगटन के कुत्सापूर्ण प्रचारात्मक अभियान से प्रेरित थे। स्टुडियो में सोवियत लेखक से बात करनेवाले साधारण अमरीकियों की टीकाओं से इस मिथक की आधारहीनता स्पष्ट थी। एक श्रोता ने कहा कि अमरीका जब कभी कहीं रासायनिक वस्तुएं पाता है, वह रूसियों पर रासायनिक युद्ध चलाने का आरोप लगाना शुरू कर देता है। हम, भूतपूर्व सैनिक, उस श्रोता ने कहा, जानते हैं कि हम*

---

* दक्षिण-पश्चिमी अफ़्रीकी जन संगठन।

*स्वयं वियतनामियों के विरुद्ध चलाये गये अमरीकी रासायनिक युद्ध के शिकार हुए थे।*

*अनाउंसर जान फ़िस्कर ने लक्षित किया कि सोवियत संघ द्वारा रासायनिक युद्ध चलाये जाने के बारे में अमरीकी दावों की पुष्टि करनेवाले कोई प्रमाण नहीं हैं। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि अमरीका को जब कभी कुछ करना होता है, वह सोवियत संघ पर कुछ वैसा ही या उससे भी ख़राब काम करने का आरोप लगाना शुरू कर देता है।*

**श्रोता :** सोवियत संघ में "अल्पसंख्य जाति" का अर्थ किस तरह समझा जाता है, क्या इस पद में कुछ अपमान का भाव है?

**चं० आ० :** इस पद में हम कोई बुरा अर्थ नहीं देखते, हालांकि इसका हम विरले ही उपयोग करते हैं। इसकी हमें ज़रूरत भी नहीं पड़ती। हम अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, विज्ञान का विकास कर रहे हैं। हम दूसरे देशों की यात्रा करते हैं, जहां सोवियत उत्सव इस या उस सोवियत जनतंत्र की शिरकत के साथ आयोजित होते हैं। उदाहरण के लिए, क़िर्ग़िज़िया ने स्वीडन, फ़्रांस और अन्य देशों में ऐसे उत्सवों में भाग लिया है। हम अपने यहां विदेशों के भिन्न-भिन्न ग्रुपों, कलामंडलियों की आवभगत करते हैं। वे हमारे देश के बारे में जानकारी पाते हैं और हम दूसरे जनगण की संस्कृतियों के बारे में जानकारी पाना चाहते हैं। हमारी अल्पसंख्यक जातियां अपने क्षेत्रों में बसनेवाली मूल आबादी हैं। परन्तु आपके यहां भी आदिवासी हैं—रेड इंडियन। मेरी ऐसी धारणा है कि वे किसी भी प्रकार की सुविधाओं का उपभोग नहीं करते।

**जा० फ़ि० :** आम तौर पर हमारे यहां रेड इंडियनों के बारे में पर्याप्त जानकारी है, हालांकि प्रेस में उनके बारे में कुछ ख़ास नहीं लिखा जाता। रिज़र्वेशन प्रणाली (आरक्षण क्षेत्र की प्रणाली—सं०) सांस्कृतिक संहार की प्रणाली है। यह, बेशक, एक तरह का जनसंहार है।

**चं० आ० :** मैं क़िर्ग़िज़ फ़िल्म-निर्माता संघ का अध्यक्ष हूं। थियेटर तथा विज्ञान अकादमी के साथ भी मेरा सम्बन्ध है। शायद हमारे श्रोताओं की इन विषयों में भी दिलचस्पी होगी। मैं उनके प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करूंगा। साहित्य और कला समाज की अवस्था का एक पैमाना होता है।

**श्रोता :** मैंने सोवियत संघ के यूरोपीय भाग की यात्रा की थी। जहां तक मैंने देखा और सुना, आप केवल अपनी जातीय पहचान का परित्याग करने की सूरत में ही किसी स्कूल में भर्ती हो सकते हैं या कहीं काम पर जा सकते हैं। सोवियत सरकार अफ़्रीका में काले लोगों के लिए जो कर रही है, उसकी प्रेरणा के पीछे संसार में अपना प्रभाव फैलाने की इच्छा अधिक है।

**चं० आ० :** अगर मैं आपकी बात ठीक तरह समझा हूं, तो आप यह कह रहे हैं कि सोवियत संघ में अपनी जातीय पहचान का परित्याग करके ही शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। मैं आपसे किसी भी तरह सहमत नहीं हो सकता। हमारे यहां तीस हज़ार से लेकर चालीस हज़ार तक की आबादीवाली अल्पसंख्य जातियां हैं, परन्तु उनके अपने स्कूल हैं। आप इन जातियों के नाम जानना चाहते हैं। दुंगान जाति हमारे जनतंत्र में बसी हुई है, उसके अपने स्कूल और अपने अध्यापक हैं। काकेशस में भी कई अल्पसंख्य जातियां हैं। उदाहरण के लिए, बाल्करों के जीवन के बारे में मेरी बहुत अच्छी जानकारी है। इस जाति की आबादी भी बहुत कम है, परन्तु उसकी अपनी शिक्षा-पद्धति, अपना साहित्य, अपने मिथक, अपना इतिहास, अपनी जीवनी हैं। मैं बड़ी संख्यावाली जातियों की बात नहीं कर रहा हूं, जो सोवियत जनतंत्रों की आबादी की बहुसंख्या हैं। मैं यह नहीं कहता कि हमारे यहां सर्वथा निश्चिंत जीवन है। ऐसा कहना सच नहीं होगा। यदि हमें बाधाओं पर क़ाबू न पाना पड़े, संस्कृतियों और जातीय आत्म-चेतना के विकास के कार्यभारों का समाधान न करना पड़े, तो जीवन रोचक नहीं रहेगा।

प्रसंगतः, अपने जनतंत्र की राजधानी फ़्रूंज़े में, जिसका पुराना नाम पिश्पेक था, हमने हाल में अपने महाकाव्य मनास के नायक का एक स्मारक स्थापित किया। इस प्राचीन लोकगाथा को अपना भौतिक मूर्त्त रूप प्राप्त हुआ। क्या जातीय गौरव की यह अभिव्यक्ति नहीं है?

आप यह न सोच बैठें कि मैं केवल सरकारी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूं। विभिन्न मसलों पर मेरे अपने विचार हैं। परन्तु यह सोचना सरासर ग़लत है कि सोवियत संघ की विदेश नीति का उद्देश्य भिन्न-भिन्न महाद्वीपों में अपना प्रभाव फैलाना है और इसीलिए सोवियत संघ मानो उत्पीड़ितों की पैरवी करता है। हम दक्षिण अफ़्रीका से बहुत दूर हैं। वहां हमारा दूतावास तक नहीं है। और अपने घर में हमारी अपनी काफ़ी चिन्ताएं हैं।

यदि जनगण संघर्ष के लिए उठ खड़े होते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि वे अधिक सहन नहीं कर सकते। क्या बात ऐसी नहीं है? क्या हमें इस बारे में इस भय के कारण नहीं बोलना चाहिए कि वे पश्चिम में यह न सोच बैठें कि हम अपना प्रभाव फैलाना चाहते हैं?

**जा० फ़ि०:** मेरे ख़याल से, २०वीं शताब्दी में प्रत्येक देश के समक्ष उपस्थित समस्याओं में से एक है संस्कृति के विकास पर टेक्नालाजी और उद्योग का प्रभाव और साथ ही सांस्कृतिक परम्पराओं का संरक्षण। यह समस्या सर्वत्र तीक्ष्ण बनी हुई है।

**चं० आ०:** निस्सन्देह। हम सब वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति को एक साथ अनुभव कर रहे हैं। अपनी सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा का अर्थ सर्वप्रथम यह है कि हमें इसके प्रति, इस कार्यभार के प्रति सचेत रुख़ अपनाना चाहिए। हमारे देश में इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न माना जा रहा है। सब कुछ संरक्षित रख पाना सम्भव नहीं है, परन्तु हम अतीत से भी आसानी से अलग नहीं होते।

**श्रोता:** मैं सम्मानित अतिथि से पूछना चाहता हूं: सोवियत संघ और अमरीका के बीच सांस्कृतिक विनिमय के क्षेत्र में स्थिति क्या है? बेजोड़ बोल्शोई थियेटर तथा वायलिनवादक हमारे यहां आया करते थे। आपके कलाकारों, आपके नाटकों को हम अपने यहां अब नहीं देख पा रहे हैं, इस बात को हम बुरी तरह महसूस कर रहे हैं। क्या, आपकी राय में, यह सब निकट भविष्य में फिर शुरू हो जायेगा?

**चं० आ०:** आपने जो प्रश्न किया है, वह मुझे भी उतना ही चिन्तित करता है, जितना कि आपको। बेहतर यही हो कि यह प्रश्न आप श्री रीगन से करें। मैंने अमरीका की पहली बार १९७५ में यात्रा की थी। अब मैं उसे इस तरह याद करता हूं, मानो वह सपना था। मैं वाशिंगटन के 'आरेना स्टेज' थियेटर में अपने नाटक का मंचन देखने आया था। उसी वर्ष बोल्शोई थियेटर भी न्यूयार्क पहुंचा था। दूसरी कलाकार मंडलियां भी यहां आयी थीं। आपके थियेटर हमारे यहां आया करते थे। बहुत अच्छा था वह सब! हम तब अनुभव करते थे कि हम ऐसे लोग हैं, जो अपने को दो महान शक्तियों के योग्य मान सकते हैं।

अगर आज यह नहीं हो रहा है, तो हम दोषी नहीं हैं। हम आपके यहां आना चाहते हैं, आपकी सांस्कृतिक हस्तियों को अपने यहां देखना चाहते हैं। इस मामले में, मेरी राय में, आपस के तीक्ष्ण राजनीतिक सम्बन्ध

दोषी हैं। वे आपकी सरकार की कार्रवाइयों के परिणाम हैं, जो आर्थिक ही नहीं, अपितु सांस्कृतिक बाधाएं भी खड़ी कर रही है। कुछ भी हो, यह कहना होगा कि यह, मेरी राय में, सामान्य स्थिति नहीं है। इसे अनन्त रूप से जारी नहीं रहने दिया जा सकता। दो महाशक्तियां सांस्कृतिक अलगाव में नहीं रह सकतीं। समय आयेगा, जब हम आपके पास अपने सर्वोत्तम कलाकार लायेंगे और अपने यहां आपके सर्वोत्तम कलाकारों को देखेंगे।

**श्रोता:** पृथग्वासन समेत बहुत-सारे प्रश्न किये जा चुके हैं। परन्तु अफ़ग़ानिस्तान का प्रश्न स्पर्श नहीं किया गया। अफ़ग़ानिस्तान किसी कारणवश पार्श्वभूमि में रह गया है, हालांकि वह आपके पड़ोस में है। परन्तु इस बारे में कुछ भी नहीं कहा गया।

**चं० आ०:** आपने बिल्कुल सही कहा कि अफ़ग़ानिस्तान बिल्कुल हमारे पड़ोस में है। जी हां, मेरी जनता अज्ञात काल से अफ़ग़ान जनता की बग़ल में रहती आयी है। कुछ क़िर्ग़िज़ लोग अफ़ग़ानिस्तान के पर्वतों में रहते हैं। हमारे बहुत-से सजातीय लोग—ताजिक, उज़्बेक, तुर्कमेन, कज़ाख़—अफ़ग़ानिस्तान की आबादी का काफ़ी बड़ा भाग हैं।

पहले, जब अफ़ग़ान लेखक और संस्कृति के क्षेत्र के दूसरे कार्यकर्त्ता सोवियत संघ आते थे, तो वे हमारी उपलब्धियों पर विस्मित होकर लौटते थे: वे देखते थे कि हमारे मध्य एशियाई जनतंत्रों में जीवन का कितना कायाकल्प हो चुका है। इसे डींग हांकना न मानें। क्या आप यह सोचते हैं कि अफ़ग़ान अपने जीवन को बेहतर बनाने की इच्छा नहीं रखते? अफ़ग़ानिस्तान प्रगतिशील सामाजिक-सांस्कृतिक विकास की आम धारा में अग्रसर होगा। जनता ने अपने जीवन के रूपान्तरण का संघर्ष शुरू कर दिया है।

अन्त में मैं यह कहना चाहता हूं कि मुझे इस स्टुडियो में आने से और आपके प्रश्नों का उत्तर देने से बहुत प्रसन्नता हुई है, हालांकि मुझे यक़ीन है कि मैं उनका तफ़सील से उत्तर नहीं दे पाया। मैं आपको धन्यवाद देता हूं कि आपने मुझे सुना। हमें राज्यों के बीच और लोगों के बीच यथासम्भव अच्छे सम्बन्धों का समर्थन करना चाहिए। यह हमारे दोनों जनगण के हित में है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हममें से हरेक ऐसे वातावरण के निर्माण के लिए प्रयास करे, जो हमारे युग में मानव-जीवन के लिए उपयुक्त हो।

# लोगों के हृदय में प्रवेश*

## फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के साथ संवाद

**चं० आ० :** जब एशिया और अफ़्रीका के लेखक पहली बार ताशक़ंद में मिले थे, तब से २५ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। वे ख़ास तौर पर इसलिए सचेत रूप से ऐक्यबद्ध हुए थे कि अपने महाद्वीपों के जनगण के विकास में औपनिवेशिक प्रभुत्व के परिणामस्वरूप उत्पन्न असन्तुलनों का अन्त करने के तरीक़े ढूंढ़ सकें। यह बात कि १९५८ में ताशक़ंद में आयोजित सम्मेलन सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक था, आज जितनी स्पष्ट है, उतनी पहले कभी नहीं थी। फ़ैज़, एशियाई और अफ़्रीकी लेखकों के आन्दोलन के संस्थापकों में आप एक थे। इसलिए हम शायद इस बात का विश्लेषण करने का प्रयत्न कर सकते हैं कि हमने किस चीज़ से शुरूआत की थी और आज हम कहां पहुंचे हैं?

**फ़ै० :** ठीक है, चलिये, कोशिश करते हैं। मेरे ख़्याल से हम इस पर सहमत हैं कि पिछली चौथाई सदी ऐसी अत्यन्त महत्वपूर्ण घटनाओं से भरपूर रही है, जिन्होंने संसार को और उसमें रहनेवाले हममें से हरेक को बदल डाला है। जैसा कि आपने अभी-अभी कहा, हमारे आन्दोलन ने औपनिवेशिक साम्राज्यों के ढहने के परिणामस्वरूप उस समय जन्म लिया, जब साम्राज्यवाद ने एक मिनट भी न गंवाते हुए बाज़ू से—नवउपनिवेशवाद की स्थिति से—काम करना शुरू कर दिया। वह अधिकृत रूप से तो इन उपनिवेशों से हट गया, परन्तु आर्थिक और सांस्कृतिक उत्पीड़न के क्षेत्र निर्मित करके वह अपनी जड़ें पीछे छोड़ गया। इसकी प्रतिक्रिया हुई—साम्राज्यवाद की नयी पैंतरेबाज़ी के मुक़ाबले में प्रगतिशील शक्तियों का सुदृढ़ीकरण हुआ।

भूतपूर्व उपनिवेशों के लेखकों के ऐक्यबद्ध होने की आवश्यकता को

* 'लितेरातूर्नाया गज़ेता', २१ सितम्बर १९८३ (संक्षिप्त)।

जन्म देनेवाले समस्त कारकों में सबसे महत्वपूर्ण, मेरी राय में, नयी चेतना का, लोगों की चेतना का विकास था, जिसका स्रोत दीर्घकाल तक उत्पीड़ित रहने के बाद इन द्वारा स्वतंत्र रूप से जीवन-यापन करने के अधिकार की प्राप्ति था। आवश्यकता थी शीघ्र से शीघ्र आत्मिक निऔपनिवेशिकीकरण की; यह सारे निऔपनिवेशिकीकरण का एक सबसे महत्वपूर्ण और सबसे जटिल पहलू है। इसलिए समय ने एकीकृत प्रयासों और अनुभव के विनिमय का तक़ाज़ा किया।

**चं० आ०:** मैं यहां इतना और कहना चाहूंगा कि उसी ज़माने में लोगों ने सम्पर्कों के, सर्वप्रथम, सांस्कृतिक क्षेत्रों में सम्पर्कों के विस्तार की आवश्यकता अनुभव की थी। एक नये प्रकार के सम्पर्कों की—स्वत:स्फूर्त नहीं, अपितु संगठित सम्पर्कों की—नींव रखना आरम्भ कर दिया गया। नवस्वतंत्र देशों के जनगण ने इसकी विशेष रूप से आवश्यकता अनुभव की—आख़िर, उन्हें पार्थक्य की युग-युगों की दीवालों को नीचे गिराना था। संसार भर में ऐसी ही प्रक्रियाएं चल रही थीं, ऐसे सम्पर्कों की स्थापना के लिए नयी तकनीकी सम्भावनाएं पैदा हुईं: सर्वग्राही जन सूचना साधन, परिवहन के साधन, पूरी आधारिक संरचना, जिसका प्रयोजन व्यक्तियों और जनगण को एक-दूसरे के साथ संसर्ग स्थापित करने में सहायता देना है। मुख्य बात यह थी: लोग यह समझ गये कि मानव-विकास का इतिहास उस दौर में पहुंच गया, जहां जनगण का अलग-थलग अस्तित्व असम्भव हो गया था।

**फ़ै०:** इसका मतलब यह है कि एशियाई और अफ़्रीकी लेखक संघ समय की भावना के अनुकूल है। आप जानते हैं कि बहुत पुराने ज़माने में भी दो महाद्वीपों के विभिन्न भौगोलिक प्रदेशों के बीच अच्छे व्यापार-मार्ग थे, माल लाने, ले जानेवाली नावें, क़ाफ़िले सांस्कृतिक मूल्यों के विनिमय में सहायक होते थे। आज इस बारे में अटकलें लगाने से कोई फ़ायदा नहीं है कि यदि एशिया और अफ़्रीका में आन्तरिक परम्परागत सम्बन्धों तथा पूर्व और पश्चिम के बीच स्वाभाविक सम्बन्धों को उपनिवेशवाद ने नष्ट न किया होता और सारे सम्पर्कों को उपनिवेश-स्वामी देश तथा उपनिवेश, याने विजेता और विजित के बीच सम्पर्कों तक सीमित न कर दिया होता, तो विश्व संस्कृति किस तरह विकसित होती। इस चीज़ ने परम्परागत संस्कृतियों के विकास को उस स्तर पर अवरुद्ध कर दिया, जिस स्तर पर वे उपनिवेशवाद की घुसपैठ से पहले पहुंची थीं। इसके परिणामस्वरूप देशी संभ्रांत श्रेणी का उदय

हुआ, जिसे पश्चिमी प्रतिमानों के अनुसार शिक्षा प्राप्त हुई और जो अपने जातीय मूल से अलग-थलग और कभी-कभी तो अपनी मातृभाषा तक से अनभिज्ञ होती थी। लेखक अलगाव के दुहरे घेरे में फंसा होता था—स्वयं अपने से अलगाव, क्योंकि कोई भी जैविक चमत्कार उसे यूरोपीय नहीं बना सकता था, और अपनी जनता से अलगाव, जो अपनी परम्परागत संस्कृति से चिपकी रहती थी।

**चं० आ० :** इसी तरह सीमांत मनुष्य बना, ऐसा मनुष्य, जो बीच का है।

**फ़ै० :** निस्सन्देह, और अगर विश्व कलात्मक चिन्तन से लेखक के अत्यधिक अलगाव को भी ध्यान में रखा जाये—वह विश्व कलात्मक चिन्तन तक केवल उपनिवेशकों के माध्यम से ही पहुंच सकता था—तो स्पष्ट हो जाता है कि एशिया और अफ़्रीका के लेखकों के लिए परस्पर सम्पर्क स्थापित करना कितना महत्वपूर्ण था। यह काम आसान और सादा नहीं था, और इसमें आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि पहली बार इतना कुछ किया जा रहा था। उत्कट घोषणाओं से जीवन का गहन अध्ययन करनेवाले साहित्य में संक्रमण करना भी आसान नहीं था। मेरे ख़्याल से, आज अफ़्रीकी और एशियाई लेखकों की सर्वोत्तम कृतियों को विश्व साहित्य की आधुनिक क्लासिकल कृतियों की बराबरी पर रखा जा सकता है। यदि हमें दूसरों के साथ अपनी तुलना करने और अपने से पहले निर्मित प्ररूपों का उपयोग करने की सम्भावना उपलब्ध न होती, तो हम जो कुछ दशकों के अन्दर उपलब्ध कर पाये हैं, उसमें कई शताब्दियां लग जातीं।

**चं० आ० :** अपना भिन्न स्वरूप बनाये रखते हुए विभिन्न जातियां एक-दूसरे के इतने समीप आ गयी हैं कि यह चीज़ इतिहास का कारक बन गयी है—हम सब संस्कृतियों के पारस्परिक प्रभाव को अनुभव कर रहे हैं। यह हमारे युग का, हमारे जीवन का अभिलाक्षणिक गुण है। इसके अलावा यह दीर्घकालीन प्रभाव डालनेवाला कारक है, जिसके आगे प्रवाह की, भावी परिणामों की भविष्यवाणी करना कठिन है। ग्रहीय अथवा, सम्भवत:, मंदाकिनीय संस्कृति के प्ररूप बनाने का काम भविष्यविज्ञानवेत्ताओं का है। परन्तु इस समय चल रही प्रक्रियाओं को समझने की आवश्यकता हमारे दैनंदिन व्यवहार से, हमारे जीवन-यापन के ढंग से उत्पन्न होती है। मेरे लिए वे अत्यधिक, यही नहीं, जीवन्त रूप से महत्वपूर्ण हैं। मैं स्वयं संस्कृतियों के संगम का मनुष्य हूं। मैं एक

एशियाई जाति का हूं, जिसकी आबादी संसार की अधिकांश जातियों की भांति बहुत कम है, और नियतिवश मैं दो भाषाओं — मातृभाषा क़िर्ग़िज़ और रूसी — के परिवेश में रहता हूं। रूसी भाषा महान साहित्यिक परम्पराओं की स्वामी है और हमारे बहुजातीय देश में उसे सरकारी भाषा होने के नाते सोवियत जनगण के बीच न्यायोचित रूप से प्रमुख स्थान प्राप्त है। इसलिए, जैसा कि मैं कह चुका हूं, यह अत्यन्त और बुनियादी रूप से महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक प्रदेश में स्थानीय भाषाओं तथा रूसी भाषा का सह-अस्तित्व हो और वे सामंजस्यपूर्ण और न्यायोचित रूप से एक दूसरे को प्रभावित करें। यह है हमारी भाषाई नीति का सार — रूसी भाषा विश्व संस्कृति का ज्ञानार्जन करने में सहायता देती है, जबकि स्थानीय भाषाओं का विकास और पोषण किया जाता है और इस तरह उनके लिए वास्तविक सुअवसर तथा परिप्रेक्ष्य सुनिश्चित किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में, हम उन बहुत-सी जटिलताओं से भली-भांति परिचित हैं, जिन्हें आज विकासमान देशों के बुद्धिजीवी अनुभव कर रहे हैं। निस्सन्देह, एक सारभूत अन्तर यह है कि हमने समाजवादी मार्ग अपनाया था और ऐसा करनेवाले दुनिया में हम पहले लोग थे।

**फ़ै० :** अक्तूबर क्रांति समस्त औपनिवेशिक और पराधीन जनगण की चेतना में क्रांति की शुरूआत थी। इसी कारण हम सोवियत साहित्य की ओर इतना ध्यान देते हैं: हमारे लिए वह और सब बातों के अलावा नूतन विश्व में मनुष्य की आत्मा का दर्पण है। आप जानते ही हैं कि सोवियत साहित्य संसार में कितनी अधिक प्रतिष्ठा का उपभोग करता है और विशेष रूप से एशिया और अफ़्रीका में उसका कितना प्रभाव है। स्वतंत्र हो जाने के बाद ही हमारे देशों को सोवियत साहित्य सच्चे अर्थों में सुलभ हुआ। जब हम स्वतंत्र हो गये, तो हम नवउपनिवेशवाद की सांस्कृतिक आक्रामकता के विरुद्ध ऐक्यबद्ध हुए; यह संघर्ष एशियाई और अफ़्रीकी लेखकों की एकता के लिए सशक्त उत्प्रेरक बन गया।

**चं० आ० :** अगोस्तिनो नेटो ने बिल्कुल सही कहा था: हम स्वयं अपनी संस्कृतियां हैं। एशिया और अफ़्रीका की अनुपम संस्कृति का पश्चिमी संस्कृति के साथ टकराव — इस शब्द के व्यापक अर्थ में — औपनिवेशिक धावे के साथ शुरू हुआ था, परन्तु वह स्वतंत्रता की प्राप्ति पर ख़त्म नहीं हुआ। जनसाधारण के बीच पश्चिमी संस्कृति की जड़ें कभी मज़बूत नहीं बनी थीं। एक कारण उनके प्रसार के तकनीकी साधनों का अभाव था। दूसरा कारण यह था कि इसमें उपनिवेशकारियों की कोई

दिलचस्पी नहीं थी। क्यों? मिशनरियों के लिए देशी लोगों को ईसाई धर्मावलंबी बनाना और उपनिवेशी प्रशासकों के लिए स्थानीय संभ्रान्त श्रेणी में से, उन ग़द्दारों के बीच से कुछ को अपने सहायक के रूप में तैयार करना पर्याप्त होता था, जो, जैसा कि इतिहास में सदैव होता आया है, अपने अस्थायी लाभों की ख़ातिर राष्ट्रीय हितों को आंच पहुंचाने और सत्ताधारी शक्तियों के मददगार बनने के लिए तैयार थे। आज के नवउपनिवेशवादी भिन्न हैं। उनके पास जनसाधारण पर दैनंदिन प्रभाव डालने के शक्तिशाली, सर्वग्राही साधन हैं, जिन्हें जनता की चेतना को जोड़ने-तोड़ने और पश्चिमी मूल्य-प्रणाली को अभिपुष्ट करने के लिए सोच-समझकर इस्तेमाल किया जाता है। इन परिस्थितियों में सांस्कृतिक मौलिकता की रक्षा करने (परन्तु बिना उसकी जड़पूजा के) की समस्या अधिक कठिन हो गयी है। समग्र और सच्ची आत्मिक प्रभुसत्ता के लिए एशिया और अफ़्रीका के संघर्ष का महत्वपूर्ण पहलू बने रहने के साथ ही इस मौलिकता की रक्षा ने कुछ भिन्न ढंग से सार्विक अभिलाक्षणिकता का रूप ग्रहण कर लिया है।

मैं यह मानता हूं कि संसर्ग के आधुनिक साधनों की रोशनी में सांस्कृतिक जीवन की विविध अभिव्यक्तियों को आन्तरिक स्वतंत्रता की रूढ़ प्ररूपों, पूर्वाग्रहों से रक्षा करनी चाहिए, स्वतंत्र चिन्तन की आदत डालने में सहायता देनी चाहिए। पता नहीं, मैं सही हूं या ग़लत, पर मुझे लगता है कि इसमें पुस्तकों की भूमिका महत्वपूर्ण है।

हम लेखकों को यह चाहे पसंद हो या न हो, पुस्तकें जन सूचना साधनों का भाग हैं, हालांकि उनमें श्रव्य-दृष्टव्य तकनीकों का स्थान पहला है। दर्शक होने से पाठक होना अधिक कठिन है, केवल इसी कारण नहीं कि पाठक के लिए पढ़ना जानना आवश्यक है, बल्कि इसलिए भी कि पढ़ने के लिए सक्रिय प्रयास की आवश्यकता होती है। फ़िल्मों, टीवी, यहां तक कि वीडियो फ़िल्मों के विपरीत पुस्तक पाठक को पीछे जाने और पाठ की सूक्ष्मताओं को अनुभव करने का मौक़ा देती है, अन्ततः वह स्वयं पुस्तक पढ़ने की रफ़्तार तय कर सकता है, उसका अवबोध प्राप्त कर सकता है, लेखक के साथ बहस कर सकता है। पढ़ना सदैव संवाद, पाठक और पुस्तक के बीच मौन संवाद हुआ करता है। मैं यह मानता हूं कि साहित्य की यह विशेषता पहले की तरह मुझे यह मानने का अधिकार देती है कि वह संज्ञान का सबसे अधिक परिष्कृत उपस्कर और कलात्मक संस्कृति का सर्वाधिक सार्विक साधन है।

**फ़ै० :** देखिये, मैं स्वभाव से सर्वप्रथम पाठक हूं। इसके अतिरिक्त लिखा करता हूं। पुस्तकों से बेहतर और क्या हो सकता है? परन्तु साहित्य तो भाषा का हाड़-मांस है। आप जातीय भाषाओं की समस्या की चर्चा कर चुके हैं। आपके और मेरे जैसे बहुजातीय देशों में बच्चे को पढ़ाना शुरू करने से पहले यह तय करना पड़ता है कि उसे किस भाषा में पढ़ाया जाये। सोवियत संघ को आम तौर पर ऐसे देश के उदाहरण के रूप में पेश किया जाता है, जिसने भाषा-समस्या दूसरों की तुलना में बेहतर ढंग से हल की है। यद्यपि बहुत-से देश, ख़ास तौर पर, अफ़्रीका और एशिया के देश आपके अनुभव का अध्ययन कर रहे हैं और उसे कम से कम आंशिक रूप से ग्रहण करने का प्रयास कर रहे हैं, उसके वास्तविक फलों की तो केवल समाजवादी राज्य में ही अपेक्षा की जा सकती है। कोई न कोई समाधान ढूंढ़ना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि निरक्षरता का उन्मूलन स्थगित नहीं किया जा सकता। इसलिए प्रश्न उठता है : किस भाषा को देश के अन्दर सम्पर्क-संचार का मुख्य साधन बनना चाहिए? उपनिवेशकारियों की भाषा को? अथवा किसी एक स्थानीय भाषा को, जिसके चयन से जातीय-राष्ट्रीय भावनाएं भड़ककर विस्फोटित हो जायेंगी? आख़िरकार, अपनी भाषा के प्रति भावुक बने बिना नहीं रहा जा सकता, वह मातृभाषा जो है! इस बारे में दो दृष्टिकोण हैं : भूतपूर्व उपनिवेशकारियों की भाषा हमारे लिए भावना की दृष्टि से परायी है, वह गुलाम बनानेवाली भाषा है और जब तक हम उसका त्याग नहीं करेंगे, तब तक हम अपनी भाषाओं का विकास नहीं कर पायेंगे और इस तरह हम अपनी पहचान को ध्वस्त कर देंगे। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि हम नियति से धरोहर में मिली भाषा को स्वीकार कर लेते हैं और उसे संशोधित करने का प्रयास करते हैं ताकि वह हमारे जातीय स्वभाव और संस्कृति के विशिष्ट लक्षणों के साथ मेल खा सके। यह भाषा हमारी भाषाओं के साथ संश्लेषित हो जायेगी और मिश्रित विवाह की संतान अपने मां-बाप से अलग होकर रहने लगेगी। आप समझ रहे हैं न, मैं दो दृष्टिकोणों का सरलीकरण कर रहा हूं, परन्तु उनका सार बिल्कुल यही है।

**चं० आ० :** यह समस्या मेरे लिए बहुत चिन्ता का विषय है, यह आप देख ही रहे होंगे। मैं इस बात की चर्चा करना चाहता हूं कि संसार भर में भाषा का प्रश्न सांस्कृतिक नीति के मुख्य प्रश्नों में से एक है और इस समय वह ख़ास तौर पर तीक्ष्ण बन गया है। मानवजाति दूर भविष्य में किस तरह आपस में संसर्ग करेगी, यह ढेर-सारे जनसांख्यिकीय,

सामाजिक-आर्थिक, वैज्ञानिक-तकनीकी कारकों पर निर्भर करेगा। इस बीच, मेरी राय में, उन सबके मामले में असाधारण व्यवहार-कुशलता और सावधानी से काम लेना होगा, जिनका भाषा के प्रश्न से सरोकार होता है। समाज की सामाजिक-ऐतिहासिक परिपक्वता दूसरी चीज़ों की अपेक्षा अपनी भाषा या भाषाओं के प्रति उसके रुख़ में अधिक अच्छी तरह प्रकट होती है। मैं शायद बात को दुहरा रहा हूं, फिर भी मैं ज़ोर देकर कहना चाहता हूं: मैं यह मानता हूं कि २०वीं शताब्दी की परिस्थितियों के अन्तर्गत प्राचीन और दमघोंटू अलगाववाद से बचने के अलावा भाषाओं को बरक़रार रखने और उनका विकास करने का साधन द्विभाषिता है—यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया, दुतरफ़ा प्रक्रिया है। दूसरा रास्ता मुझे नज़र नहीं आता। इस मामले में सोवियत संघ में हमारे अनुभव का, असंदिग्ध रूप से, बहुत ध्यानपूर्वक विवेचन और, संभवत:, अनुसरण किया जाना चाहिए। इसका अर्थ कदापि यह नहीं है कि हम सारी समस्याएं हल करने में सफल हो गये हैं। विश्व भाषा में, सामान्य भाषा में "पारंगति" और मूल जाति की भाषा के "संरक्षण" के बीच कोई सुसन्तुलन हासिल करना आसान काम नहीं है। इस सन्तुलन की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम प्रशासनिक कार्रवाइयों की अनुमति नहीं दी जा सकती। भाषाई नीति सुनम्य तथा द्वन्द्वात्मक रुख़ और सामान्यतया सामाजिक संरचनाओं के विकास पर आधारित होनी चाहिए। चरम छोर के दृष्टिकोणों को सीधे-सीधे अस्तित्वमान होने का कोई अधिकार नहीं है: न तो भाषाई अलगाववाद को और न "परख नलियों" में भाषाई संकरण करने के प्रयासों को। यह सरासर असंभव है! भाषा प्राणवान होती है और वह अपने नियमों के अनुसार जीती है!

**फ़ै०:** दो या तीन तक भाषाएं सिखाना सम्भव है। काम कठिन है, समय और परिश्रम का तक़ाज़ा करता है, लेकिन सम्भव है!

**चं० आ०:** यही सारी बात है! और अगर आप दूसरी भाषा को संसर्ग का औज़ार, ऐसा बहुउद्देश्यीय औज़ार मान लें, जो इस्तेमाल करनेवाले का हितसाधन करता हो, तो अनावश्यक भावावेशों से बचा जा सकता है।

**फ़ै०:** मैं इसमें एक बात और जोड़ना चाहता हूं—भाषा नीति वस्तुत: विद्यमान कारकों के आधार पर यह बात ध्यान में रखते हुए तैयार की जानी चाहिए—और इस विषय की ओर हम अपनी बातचीत में बार-बार लौटे हैं—कि दुनिया बदल गयी है और लोग अब

अलग-थलग नहीं रह सकते। इसका अर्थ यह हुआ कि भाषा नीति संसर्ग की नयी और अधिक व्यापक सम्भावनाओं के विकास की ओर लक्षित होनी चाहिए।

**चं० आ० :** देखा आपने, हम चाहे किसी भी विषय की बात करें, हम रह-रहकर पूरी दुनिया में हो रहे परिवर्तनों और उनका विवेकसम्मत ढंग से विश्लेषण करने की आवश्यकता की समस्या की ओर लौट आते हैं। विशेष, कुछ भी हो, सामान्य के अधीन बना रहता है। और, बेशक, वर्त्तमान युग समस्त पूर्ववर्ती युगों से इसलिए मूलभूत रूप से भिन्न है कि अब मानवजाति अपने को नष्ट कर सकती है, यह एक भयावह परन्तु अकाट्य तथ्य है।

**फ़ै० :** और हमारी समस्त गतिविधियां सबसे मुख्य वस्तु के अधीन होनी चाहिए—मानवजाति को नष्ट न होने देना। हर समय यह याद रखना होगा कि हम सबको एक साथ ज़िंदा रहना है, कि हमारे राजनीतिक, विचारधारात्मक, धार्मिक विचारों में चाहे कितने ही अन्तर क्यों न हों, कोई भी समस्या डंडे के ज़ोर से हल नहीं की जा सकती।

**चं० आ० :** अंतर्विरोधों, नाना रंगों से बंटी, वर्गों, राजनीतिक प्रणालियों, गुटों में विभक्त और इसकी साथ-साथ भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक अवधियों में अस्तित्वमान मानवजाति—यह मानवजाति एकसमान ख़तरे के सामने खड़ी है। विश्वव्यापी नाभिकीय नरसंहार किसी भी दिन छिड़ सकता है और हम सब उसके शिकार हो सकते हैं, जिस पर हम चाहे कितना ही विचार क्यों न करें, परन्तु जो कल्पना के बाहर है—याने पृथ्वी पर जीवन का विनाश। इसका अर्थ यह है कि हमसे पूर्व विद्यमान सब कुछ हमारे साथ नष्ट हो जायेगा और यह कि भविष्य का कभी जन्म नहीं होगा। इसलिए अब शायद कलात्मक चिन्तन को हृदय तथा मस्तिष्क की इस अपूर्व चिन्ता की ओर लक्षित किया जाना चाहिए, जिसे यह आसन्न ख़तरा, संयुक्त उत्तरदायित्व की अनुभूति, यह समझ जन्म देती है कि इस ख़तरे से तुरन्त छुटकारा पाना असम्भव है, परन्तु इसकी आवश्यकता तात्कालिक है—शायद ऐसा कलात्मक चिन्तन मन की ऐसी अवस्था में गहरे पैठकर अत्यधिक प्रबुद्ध होकर उभरेगा।

**फ़ै० :** यह सच है, परन्तु एक विचार मुझे चैन नहीं लेने देता। आप, चंगेज़, उम्र में मुझसे कहीं छोटे हैं, परंतु मुझे चौथा दशक अच्छी तरह याद है, जब फ़ासिज़्म ने पहली बार सिर उठाया था और मानवजाति का प्रगतिशील भाग समझ गया था कि संसार के लिए यह

कितना बड़ा ख़तरा है। मैं केवल फ़ासिस्टविरोधी मोर्चे की नहीं, अपितु उन वर्षों में विद्यमान आम भावात्मक वातावरण और उस आवश्यकता की बात कर रहा हूं, जो उस घिनौने प्लेग से लड़ने के लिए प्रत्येक विवेकपूर्ण मनुष्य अनुभव कर रहा था।

आज हमारे सामने मुंह बाये खड़ा ख़तरा फ़ासिज़्म के ख़तरे से कहीं ज़्यादा बड़ा है। कोई तुलना ही नहीं है। परन्तु मैं अपने से पूछता रहता हूं: क्या हम सामूहिक आत्म-हत्या के विरुद्ध संघर्ष में उतने ही भावावेगों का समावेश कर पायेंगे, मानवविरोधी मनसूबों का प्रचंड रूप से प्रतिरोध करने के वैसे ही भावावेशपूर्ण वातावरण का निर्माण कर पायेंगे? मुझे कटु भावना के साथ कहना पड़ता है कि अब तक उत्तर नहीं है। क्या हम ऐसी साहित्यिक कृतियां तैयार कर सके हैं, जो भावनात्मक दृष्टि से उतनी ही कारगर हों, जितना कि गुज़रे वर्षों का फ़ासिस्टविरोधी साहित्य था?

**चं० आ०:** यह प्रश्न टेढ़ा है। परन्तु इस पर विवाद नहीं कर सकता कि उसके लिए आधार है। आइये, इस पर विचार करने का प्रयास करते हैं। भयावह और घिनौना होते हुए भी फ़ासिज़्म बुराई की अवधारणाओं के चौखटे तक सीमित था। वह ठोस था, उसे देखा जा सकता था और उससे घृणा की जा सकती थी। अपने से यह कहा जा सकता था — मैं इससे कभी मेल नहीं कर सकता। परन्तु मानवजाति ने अब संज्ञान की नयी देहरी में प्रवेश किया है, वह स्पष्टत: इसके लिए न तो सामाजिक दृष्टि से और न नैतिक दृष्टि से तैयार है। अब हमारे पास अन्तरिक्षीय शक्ति की ऊर्जा है और हम उसे अपने लिए ख़तरा पैदा करने के वास्ते उपयोग में ला रहे हैं। कितनी भयावह है ऐसी स्थिति, जब पश्चिम में कुछ शक्तियां "भिन्न मतावलंबी" समाजों को नष्ट करने के लिए नाभिकीय शक्ति के उपयोग की खुलेआम बात करती हैं। वे अपनी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को बनाये रखने की ख़ातिर यह करने के लिए तैयार हैं, हालांकि जब स्वयं जीवन ही दांव पर हो, तब कोई भी प्रणाली औचित्य ठहराने के काम नहीं आ सकती।... ऐसे महाविनाश की सम्भाव्यता पर अमूर्त्त रूप से विचार करना अकल्पनीय है — शुष्क तथ्यगत सूचना तक से भावनाओं का ज्वार उठ जाता है। शायद इन भावनाओं का स्वरूप ऐसा है कि उन्हें कला के बिम्ब-विधान में रूपान्तरित करना कठिन है। शान्ति-प्रदर्शनों की बढ़ती शक्ति इस बात का प्रमाण बन चुकी है कि लोग ख़तरे को समझते हैं। जहां तक हम



22—907

लेखकों का सम्बन्ध है, हमें इस भयावह समय में लोगों के हृदय तक पहुंचने का रास्ता सचमुच खोजना पड़ेगा, ताकि उन्हें पृथ्वी पर जीवन के विनाश की सम्भावना को शिरोधार्य न करने के लिए मना सकें।

**फ़ै० :** शरद-ऋतु में ताशक़ंद में हमारी बैठक का विषय है 'लेखक और आधुनिक संसार', और, निस्सन्देह, युद्ध तथा शान्ति के विषय को इस सम्मेलन में प्रमुख स्थान प्राप्त होगा, जो हमारी पृथ्वी पर ख़तरे को दूर करने के तरीक़ों की लेखकों की सृजनात्मक खोज को प्रतिबिम्बित करता है।

# विजय की महागाथा *

महागाथा जनता के लिए सदैव पुनीत शब्द रही है, अपने भाग्य-पथ के विषय में उसकी वाणी रही है। यही बात हमारे युग में, सृजनशील व्यक्तित्व के युग में भी है। २०वीं शताब्दी की महागाथा गहन नैतिक, दार्शनिक तथा कलात्मक परिघटनाओं का कुल योग है, जिनकी जड़ें जीवन, इतिहास, संस्कृति, वास्तविकता द्वारा प्रस्तुत तात्कालिक चिन्ताओं में पहुंची हुई हैं। आज की महागाथा दूसरे विश्वयुद्ध के वर्षों में उन ज़बर्दस्त घटनाओं से जुड़ी हुई है, जिन्हें सोवियत जनता ने भुगता था। इस महागाथा का प्रेरक भाव है विजय। विजय हमारी नियति है, यह वह सब है, जिसे हमने फ़ासिज़्म के विरुद्ध रक्तपातपूर्ण तथा कठोरतम लड़ाई में झेला, समझा, हासिल किया। ... 'इलियड' में होमर ने जिस ट्रॉजन युद्ध का वर्णन किया, वह इसकी तुलना में सर्वथा तुच्छ प्रतीत होता है, हालांकि वह युद्ध हज़ारों वर्षों तक मानवजाति के लिए चिन्तन-मनन करने का कारण बना रहा।

आधुनिक सार्विक महागाथा के भारी महत्व का विचार मेरे दिमाग़ में मेरे जनतंत्र की राजधानी फ़्रूंज़े में नये जेनिश-जायन्त (विजय चौक) में उठा। वहां मैंने एक नयी लोक महागाथा की अभिव्यक्ति पायी और मैं उस असाधारण घटना के सार का विश्लेषण करने का प्रयत्न करूंगा। ...

पर पहले कुछ अपने बारे में और उस ज़माने के बारे में, जिसे मैं अपने सचेतन जीवन का आरम्भ मानता हूं। आख़िरकार, महाकाव्यों को मनुष्य तत्काल नहीं समझ पाता; इसमें वर्षों का समय लगता है। मैं अपने को युद्धकालीन पीढ़ी का मानता हूं, हालांकि मैं लड़ा नहीं था, अलबत्ता युद्ध अगर एक साल और जारी रहता, तो मुझे भी मोर्चे पर जाना पड़ता। परन्तु युद्ध मुझे अपने निजी अनुभव से अच्छी तरह याद

* 'इज़्वेस्तिया', ६ मई १९८५।

है—पहले दिन से लेकर, जब हमारे बड़े शेकेर गांव में गांव सोवियत के संदेशवाहक से इसका पता चला था (उसने घोड़े पर सवार होकर घर-घर यह ख़बर पहुंचायी थी), अन्तिम दिन, याने ९ मई १९४५ तक। विजय की अन्तिम घड़ी के आगमन की प्रतीक्षा में हम दिन ही नहीं, वरन घंटे तक गिना करते थे। विजय का समाचार दावानल की भांति फैला। सब हर्षविभोर थे और आशंकित भी, इसके सच होने पर विश्वास करना कठिन हो रहा था। लोग असल प्रमाण की मांग कर रहे थे। हमारे सारी-कुबी ज़िला-केन्द्र में सारे सामूहिक फ़ार्मों के सन्देशवाहक जमा हुए, जो सबसे तेज़ दौड़नेवाले घोड़ों पर बैठकर लम्बे अर्से से यातना भोग रही जनता को ख़बर देने के लिए तैयार थे—बस सरकारी घोषणा का इन्तज़ार था। उन दिनों हमारे गांवों में न तो रेडियो हुआ करते थे और न टेलीफ़ोन (यह सूचना आज के तरुणों के लिए है, जिन्हें पता नहीं होगा)। जो गांव ज़िला-केन्द्र के सबसे निकट थे, उन्हें पहले, और जो दूर थे, उन्हें कुछ बाद में पता चला। हमारा शेकेर गांव सबसे दूर था; उसके पीछे थे केवल पर्वत और उनके बर्फ़ से ढंके शिखर। हर सैनिक ने, जो युद्ध से लौटा, हमें बताया कि उसने जब इन पर्वतों को देखा, तो उनकी आंखों से हर्षमिश्रित अश्रुधारा बहने लगी थी।

उस दिन एक ऊंचे टीले पर भारी भीड़ जमा हो गयी—हमारा गांव ऊंची जगह पर है। उसमें छोटे-बड़े सब थे। इन्तज़ार हो रहा था अपने सन्देशवाहक के आगमन का। ज़ाहिर है, हम लोग ज़रूरत से ज़्यादा पहले आ गये थे—कुछ स्त्रियां, जिनकी गायें अभी-अभी ब्यायी थीं, उन्हें दुहने के लिए गयीं और फिर वापस लौट आयीं। जब हमने दौड़ते घोड़े के पांवों से उठती धूल देखी, तो सबने हर्षध्वनि की, भीड़ घुड़सवार की ओर लपकी—हम जान गये थे, सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रह गयी थी: विजय, विजय हो गयी है! आख़िरकार, विजय प्राप्त हो गयी है! कुछ लोग घोड़ों पर बैठकर आये थे और कुछ पैदल। मुझे याद है कि हमारी अध्यापिका कैसे घुड़सवार की ओर दौड़ी, उसका बेटा पूरे युद्ध के दौरान तोप-सेना में रहा। अपंग सैनिक, मोर्चों से घायल होकर लौटे सैनिक बैसाखियों का सहारा लिये और यथाशक्ति तेज़ी से घुड़सवार की ओर बढ़े। माताएं, विधवाएं, पत्नियां, मंगेतरें, वे सब, जो अपने प्रियजनों की प्रतीक्षा कर रही थीं, आगे दौड़ीं। परन्तु जो सबसे तेज़ दौड़े, वे थे, निस्सन्देह, हम किशोर, युद्ध की सन्तान, उन कटु वर्षों के हलवाहे, बुवाई करनेवाले। बाद में मैंने इस बारे में 'जब

पहले सारस आये' नामक अपनी उपन्यासिका में बताने का प्रयास किया। पर यह तो अभी बहुत बाद की बात थी। उस दिन तो हम विजय के सन्देशवाहक की ओर भाग रहे थे।

वहां, बर्लिन में, हमारी शक्ति और सच्चाई फ़ासिज़्म पर विजयी हुई। इसके लिए हममें से बिना किसी अपवाद के प्रत्येक को, प्रत्येक जाति को, हमारे पूरे बहुजातीय सोवियत समाज को कितना दुख झेलना पड़ा था, कैसी अग्नि-परीक्षा देनी पड़ी थी। यदि तुम जनता के अंश हो, यदि जनता तुम्हारा अंग-प्रत्यंग है, जिसके बिना तुम जी नहीं सकते, तो शत्रु पर तुम्हारी जनता की विजय से बड़ा और कोई हर्ष नहीं हो सकता।

देशभक्तिपूर्ण कर्त्तव्य की यही भावना प्राचीन क़िर्गिज़ महागाथा 'मनास' में बहुत पहले व्यक्त की गयी थी:

...तू देख अपनी जनता को,
भयावह समरभूमि में कूदने से पहले
तू देख अपनी जनता को,
जब परिणाम लग रहा हो विषम
तू देख अपनी जनता को,
जब यशस्वी विजय की आ गयी हो घड़ी
तू देख अपनी जनता को,
महान अभियान करते समय
तू देख अपनी जनता को,
पर्वतश्रेणियों से एक साथ गुज़रते समय
तू देख,
एक पर्वत पर रह रहा तू किसके साथ
तू देख,
मृत्यु से पूर्व तू ले रहा किससे विदाई
तू देख,
क्या है आशा तुझे बेहतर भाग्य की
तू देख...

मैं अक्सर सपने देखा करता था कि हम विजय के सन्देशवाहक से मिलने के लिए किस तरह दौड़ रहे हैं। वह सब, जो उन वर्षों में मैंने देखा और झेला, वे छोटी-बड़ी घटनाएं, वह सब, जिनकी मेरे मन

और स्मृति-पटल पर सदा के लिए छाप पड़ गयी थी, मेरे मस्तिष्क में किसी फ़िल्म के दृश्यों की भांति कौंध उठे—कंधों पर थैले लटकाये नौजवान गांव से विदा होते हुए, भर्ती-दफ़्तर के बाहर हाज़िरी, नारियां, जिनकी आंखों से अश्रुधारा निरन्तर बहती जा रही थीं, जो अपने प्रियजन का नाम सुनते ही हकलाते हुए बुदबुदाती प्रतीत होती थीं, रेलवे स्टेशनों पर विदाई, सैनिकों को मोर्चों पर ले जानेवाली रात्रि रेलगाड़ियों का अनन्त सिलसिला, हमारे सारी-कुबी इलाक़े के १६ वर्षीय चोल्पोनबाई तुलेबेर्दियेव को सोवियत संघ का वीर की उपाधि प्रदान किये जाने की ख़बर का पूरे क़िर्गिज़िया में बिजली की गति से फैलना, जिसने वोरोनेज के पास दीवाल में उस छेद पर, जहां से दुश्मन की मशीनगन गोले बरसा रही थी, लगभग उसी समय अपना शरीर सटा दिया था, जिस समय अलेक्सांद्र मात्रोसोव ने दूसरे मोर्चे पर वैसा ही किया था। हम लोग उस घर को देखने गये, जिसके पास से हम कुछ भी सोचे बिना कई बार गुज़रे थे। यह उन दिनों के आम घरों जैसा था—कच्ची ईंट का बना, मिट्टी से ढकी सपाट छत, छोटी-छोटी खिड़कियां—बस अन्तर यह था। यह चोल्पोनबाई तुलेबेर्दियेव का मकान था। उसकी बूढ़ी मां के लिए हमारे मन में दुख होता था, जो अब अकेली रहती थी। हम चोल्पोनबाई पर गर्व करते थे और मनास के नाम की भांति उसके नाम की सौगन्ध खाया करते थे। आख़िर, मनास भी तो शत्रुओं से अपने इलाक़े, अपनी जनता की रक्षा करते हुए शहीद हुआ था। महागाथा हमें बताती है कि सब लोग जन-नायक की मृत्यु पर किस तरह फूट-फूटकर रोये थे। आज वह दृश्य हमारे 'मनास' में अपने तरुण चोल्पोनबाई के अतुलनीय जौहर के साथ जुड़ा हुआ है, जो मुझसे और मेरे दोस्तों से कुछ ही साल बड़ा था। हम फ़ोटो में वर्दी पहने हुए उसकी छवि को आजीवन स्मरण करेंगे—सचमुच कितना ख़ूबसूरत, प्रेरणादायी चेहरा था उस तरुण का! हममें से हरेक के लिए वह अपना सगा भाई बन गया था; उसके नाम की चर्चा से ही हमारा हृदय अपनी क़ौम पर गर्व और साहस की भावना से ओतप्रोत हो जाता था। मुझे स्मरण है कि हम युद्ध से लौटते प्रत्येक घायल सैनिक से कैसे मिलते, उसके एक-एक शब्द को कैसे दत्तचित्त होकर सुना करते। मुझे स्मरण है कि परिवारों को उनके प्रियजनों की मृत्यु की सूचना पहुंचाना कितना दर्दनाक काम होता था। परन्तु मुझे वह करना पड़ता था, क्योंकि गांव में वयस्क बहुत कम रह गये थे, और मुझे, १४ वर्षीय बालक को शेकेर ग्राम सोवियत सचिव का

काम करना पड़ता था, मैंने विधवाओं को रोते देखा और सुना, अनाथ बच्चों का क्रन्दन सुना। युद्ध खिंचता चला गया और स्थानीय कर्मचारी के नाते मेरा काम ग़रीब-कंगाल आबादी से सैनिक कर वसूल करना होता था, जो नाज़ी हमलावरों को यथाशीघ्र हराने और अपने सैनिकों को यथाशीघ्र घर लौटाने के लिए, टैंकों के निर्माण के वास्ते अपनी जेब की आख़िरी पाई तक दान कर रहे थे।...

युद्धकाल की पीढ़ियों के लिए, जिसने फ़ासिज़्म के विरुद्ध विश्वव्यापी संग्राम का सारा बोझ ढोया था, समय कितनी आश्चर्यजनक गति से बीत गया! आज हम विजय की ४०वीं जयन्ती मना रहे हैं। परन्तु मुझे लगता है कि यह मानो कल की ही बात थी, मानो मैं अब भी घुड़सवार सन्देशवाहक की ओर, युद्ध के विजयपूर्ण समापन का सन्देश लानेवाले की ओर दौड़ रहा हूं। तबसे एक पूरा युग बीत चुका है, जो आधुनिक संसार पर अपनी गहरी छाप छोड़ गया है।

स्वभावत:, दुनिया में कितना कुछ हो चुका है, हमारे युग में शताब्दी की सर्वथा भिन्न-भिन्न घटनाएं हो चुकी हैं, जिनमें वे शामिल हैं, जो मानवजाति के इतिहास में अभूतपूर्व हैं। परन्तु कोई भी चीज़ उसकी स्मृति को धुंधला नहीं कर सकी है, जो संसार के लोगों ने १९४५ के अविस्मरणीय वर्ष में ९ मई के उस अविस्मरणीय दिवस को अनुभव किया था, इसलिए कि मेरा यह विश्वास है कि आज की दुनिया में, आज के लोगों में जो कुछ सर्वोत्तम है, उसका श्रेय उस विजय को है। और हम सब उस विजय की, उस सन्धि-काल की देन हैं, जिसने मानवजाति के भूमंडलीय इतिहास में युद्धोत्तर मंज़िल की शुरूआत की थी।

महागाथा युग की मूल गाथा होती है, उसकी महान और अनन्त कहानी हुआ करती है, और हर युग इस महागाथा में कुछ न कुछ जोड़ा करता है। मैं इस बात का हाल में फिर क़ायल हो गया, जब विजय चौक का फ्रूंज़े में उद्घाटन होनेवाला था। मैं भावनाओं में बहते हुए, उत्तेजित भाव से देर तक इस स्थान में घूमता रहा और सम्पन्न कार्य को निहारता रहा और जितनी अधिक देर तक उसे, इस बेजोड़ मूर्त्तिकलात्मक-स्थापत्यकलात्मक समुच्चय को देखता रहा, मैं इस बात का उतना ही अधिक क़ायल होता गया कि कलाकार क़िर्गिज़ जाति की नियति के सार को—इस नियति के महाकाव्यात्मक आयाम में—गहराई से समझने में सफल रहे हैं।

नगर के बीचोंबीच, जहां कभी पुराना बाज़ार हुआ करता था, विजय चौक का जन्म हुआ है—यह है स्वदेश के रक्षक के सम्मान में पत्थर और कांसे में विजय की महागाथा।

लोक काव्य की गहराइयों में से जन्म लेनेवाली किसी भी अन्य महागाथा की भांति इस स्मारक समुच्चय का भी केन्द्रीय पात्र परम्परागत मातृ-छवि, मेकेन-एने, मातृभूमि है। परन्तु इस मामले में मातृ-छवि को पृथ्वी पर अतीत तथा वर्तमान की समस्त माताओं के सार्विक महत्व की बुलंदी पर पहुंचा दिया गया है। स्वयं प्रकृति की भांति भव्य तथा शाश्वत मेकेन-एने विजयी सैनिकों की वापसी का इन्तज़ार कर रही है, जो युद्ध की ज्वालाओं में बचे रह गये, जो उसके पास, मां के चूल्हे की ओर लौट रहे हैं। यह साथ ही उन लोगों के लिए भी शाश्वत अग्नि है, जो कभी न लौट पायेंगे। मां का हर्ष साथ ही उन्मुक्त नहीं है, क्योंकि उसके बहुत-से बेटे समरभूमि में ही रह गये। अनन्त करुणा तथा साहस लिये हुए मां पूरे चौक में सबसे आगे खड़ी है और चौक की पृष्ठभूमि है नगर के ऊपर खड़ा तथा शाश्वत रूप से हिमाच्छादित आला-तू पर्वतमाला। मेकेन-एने के शीर्ष पर परम्परागत क़िर्गिज़ यूर्ता (तम्बू) का गुम्बद रूपी मुकुट है—तीन प्रस्तरीय तोरण उस पर झुके हुए हैं, जिनसे प्राचीन क़िर्गिज़ निवास की बाह्य रेखाएं बनती हैं। कलाकार की इस मूर्त्त कल्पना में—मां, निवास, चूल्हा—जीवन तथा जन्मभूमि का प्रतीक निहित है।

यह कलाकृति चोटी के क़िर्गिज़ मूर्त्तिकार तुर्गुनबाई सादिकोव की रचना है। सैनिकों से मिलते बच्चों की झांकी प्रस्तुत करनेवाला मूर्त्ति-समुच्चय भी उनका ही काम है, उन सबके चेहरे मां की ओर हैं, जो यूर्ता के सामने चूल्हे के पास उनकी प्रतीक्षा कर रही है। अतल गहराई, अपार विश्वास, साहस, निरुद्विग्नता—ये सारे भाव सैनिकों की आकृतियों से टपकते हैं, जो समरभूमि में अग्नि-परीक्षाओं से गुज़रे।...

परन्तु स्मारक की आकारीय संरचना का स्नायविक केन्द्र सैनिकों का एक दूसरा ग्रुप है, वे भी मां की ओर बढ़ रहे हैं। यह सही अर्थों में बेजोड़ कलाकृति है; इसे क़िर्गिज़िया में अनिकुशिन की बेजोड़ कलाकृति कहा जाता है। मिखाईल अनिकुशिन ने दो सैनिकों, दो मशीनगनरों की मूर्त्तियां बनायी हैं, जो मोर्चे की कठोर यथार्थता का सजीव अंश हैं। मशीनगनों के साथ, जिनके पुर्ज़े खोलकर अलग-अलग कर दिये गये हैं, मार्च करते नौज़वान सैनिकों के चेहरे इस बात के साक्षी हैं कि रणक्षेत्र में

वे कैसी-कैसी भयंकर लड़ाइयों से गुज़रे हैं और किस तरह वे थककर चूर-चूर हो गये हैं। वे शारीरिक तथा आत्मिक शक्ति के अधिकतम खिंचाव में हमारी आंखों के सामने बलवान होते जाते प्रतीत होते हैं। वे विरल रोमांचकारी अभिव्यक्ति की आकृतियां हैं। उन्हें उदासीन भाव से देखना असम्भव है, मन में इच्छा होती है कि उनकी बग़ल में पहुंचा जाये। ... मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि अनिकुशिन की एक उच्च कोटि की कलाकृति अब क़िर्गिज़िया की, हमारी धरती की है। क़िर्गिज़ राजधानी में वीरता के प्रतीक विजय स्मारक की स्थापना करने का रूसी और क़िर्गिज़ कलाचार्यों का संयुक्त प्रयास इस अनुपम रचना के मुख्य विचारधारात्मक सार को प्रतिबिम्बित करता है। यह सार है—हमारे समाज में अन्तर्निहित, अपने कार्य तथा अपने संघर्ष में निहित सोवियत जनता के सच्चे अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की अभिपुष्टि। यह कोई संयोग की बात नहीं है कि सैनिकों के चेहरे रूसी और क़िर्गिज़ हैं। दूसरे विश्वयुद्ध की एक प्रमुख ऐतिहासिक विशिष्टता यह है कि उस भयंकर अग्नि-परीक्षा में सोवियत देशभक्ति की अवधारणा ने परम महत्व प्राप्त किया, जिसे सबने स्वीकार किया—हमें इस बात पर गर्व है कि हमारी मातृभूमि की सभी जातियों ने, सब लोगों ने समाजवादी राज्य की रक्षा की, उन्होंने इसे अपना पवित्र, क्रान्तिकारी तथा नागरिक कर्त्तव्य माना, उन्होंने इसे राष्ट्रीय और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय हितों के लिए नितान्त आवश्यक माना। यह है हमारे चौक पर विजय की महागाथा का सन्देश।

यदि पहले क़िर्गिज़ धरती पर कोई महागाथा केवल मौखिक काव्यमय रूप में विद्यमान रहती थी, तो अब वह दृष्टव्य हो गयी है—इस चौक में शाश्वत अतीत का सजीव वर्त्तमान के साथ संगम होता है, जो पीढ़ियों के आत्मिक अनुक्रमण के सेतु का निर्माण करता है।

सैनिक चलते जा रहे हैं और मां चूल्हे के पास उनका इन्तज़ार कर रही है। ...

# विवेक नाभिकीय घेरेबंदी में *

हम लोग १९८५ के दिन और सप्ताह गिनने के आदी भी हो चुके हैं, हालांकि ऐसे प्रतीत होता है कि यह वर्ष अपनी ताज़गी और महक लिये हुए अभी कल ही तो आया था। एक और वर्ष बीत चुका है, वह अनन्तता की गहराइयों में लुप्त होते मात्र एक बिन्दु की भांति स्मृति बनकर रह गया है। एक और वर्ष पहले के सारे वर्षों की भांति हमारे जीवन में क्षणभर के लिए कौंधा और बुझ गया। एक बार फिर आधुनिक इतिहास का काल-चक्र और अधिक द्रुत गति से घूमने लगा। तब तक सदैव ऐसे ही होता रहेगा, जब तक जीवन है।...

परन्तु हर बार, जब खगोलीय यान्त्रिकी की इच्छा पर नया वर्ष पुराने के स्थान पर आता है, लोग सहसा हैरान होकर सोचते हैं—आगे क्या होनेवाला है? मानव-आत्मा की यह संस्कारगत जिज्ञासा अपने लिए और अपने प्रियजनों के लिए प्रत्येक की परम्परागत कामना मात्र से ही उत्पन्न नहीं होती। प्रसंगतः, सुख क्या है, यह बड़ी हद तक व्यक्ति तथा समाज के मूल्यों की समष्टि विशेष पर निर्भर करता है। काल-चक्र जब हर बार नये सिरे से घूमता है, तो उस समय आत्म-जिज्ञासा में कहीं अधिक अर्थ अन्तर्निहित होता है—अपनी समस्त अभिव्यक्तियों तथा प्राचलों समेत सम्पूर्ण वास्तविकता, जिसका आरम्भ अस्तित्व की जीवन्त समस्याओं, आरम्भ किये गये महत्वपूर्ण कार्यों तथा विचारों से होता है, तथा जिसका समापन नित्यप्रति का भोजन जुटाने की साधारण और शाश्वत चिन्ताओं के साथ होता है।...

मैं जानता हूं कि इन बातों के बारे में मैं देरी से लिख रहा हूं। समय कल्पना से अधिक द्रुत गति से दौड़ता जाता है। परन्तु मुझे आशा है कि महत्वपूर्ण कैलेंडर नहीं, अपितु विचारों का सार है।...

मेरे मन में यह विचार उठा कि १९८५ के आरम्भ से सन् २०००

---

* 'प्राव्दा', ४ फ़रवरी १९८५।

के आगमन तक ठीक पन्द्रह वर्ष का समय रह गया है। पन्द्रह वर्ष! ज़रा सोचिये तो! इसलिए नहीं कि इस संख्या में कोई जादुई शक्ति है, अपितु इसलिए कि इस बात की विविधतापूर्ण ढंग से कल्पना की जा सकती है: जो आज पन्द्रह साल के हैं, वे सन् २००० में तीस साल के हो जायेंगे, वे अपनी ज़िन्दगी की बेहतरीन घड़ी में तीसरी सहस्राब्दी की देहरी पर खड़े होंगे। मैं यह बात नहीं छुपाता कि मैं उनसे ईर्ष्या करता हूं और उनके लिए पहले से ही हर्ष मनाता हूं, जो तब तीस साल के होंगे। एक अनुपम, या चाहें तो कहें, सही अर्थों में जादुई संयोग! और इसके लिए बहुत प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी, बशर्ते संसार किसी तरह की सम्पूर्ण महाविपदा झेले बिना इस सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सीमा-रेखा पर पहुंच जाये।

क्या मानव-विवेक की समस्त महानता और सभ्यता की उपलब्धियों के साथ तीसरी सहस्राब्दी की देहरी पार करना मानवजाति के भाग्य में लिखा है? क्या इस बारे में हमें अभी से सोचना शुरू नहीं करना चाहिए? आख़िर, अगर उस सम्पूर्ण काल को ध्यान में रखा जाये, जब से मानवजाति पृथ्वी पर अस्तित्वमान रही है, तो, सापेक्ष अर्थ में, महज़ घंटे और मिनट बचे रहते हैं। सन् २००० की ओर धड़-धड़ाती हुई जाती रेलगाड़ी की आवाज़ सुनायी देने लगी है, उसकी बाह्य रूपरेखा दृष्टिगोचर होने लगी है, हरा सिगनल हो गया है। इतने फ़ासले पर अपने से स्वभावत: यह प्रश्न किये बिना नहीं रहा जा सकता — २१वीं शताब्दी में लोगों का जीवन कैसा होगा?

ज़ाहिर है, अभिप्राय हमारी इच्छा से स्वतन्त्र गणितीय कालानुक्रम से नहीं, अपितु इस बात से है कि नयी शताब्दी हमारे लिए क्या ला रही है, उसमें स्वयं हमारे द्वारा प्रोग्रामित कौन-सी वस्तु हमारे लिए मौजूद है? लोगों ने इस बारे में सोचना शुरू भी कर दिया है।

यही हाल में विज्ञान, कला और साहित्य की यूरोपीय अकादमी की असेम्बली में हुआ था, जिसका आयोजन इस बार स्टाकहोम में किया गया था और जिसका मैं सदस्य हूं। यह ग़ैर-सरकारी अकादमिक संगठन विज्ञान तथा संस्कृति के क्षेत्रों के कार्यकर्त्ताओं को ऐक्यबद्ध करता है। उसके सदस्यों — वैज्ञानिकों, चिन्तकों — के भाषण भी सन् २००० के वर्ष में पृथ्वी पर जीवन के विषय में वैज्ञानिक पूर्वानुमानों और भविष्यवाणियों से भरे पड़े थे। प्रश्न इस तरह प्रस्तुत कर दिया गया था: कल का सामना किस तरह किया जाये?

अस्तित्व के पूरे प्रवाह द्वारा जांची-परखी गयी और सर्वमान्य एक नियमसंगति है: जीवधारियों में बढ़ने और अपनी संख्या बढ़ाने की अविचल प्रवृत्ति। इस गतिशीलता में जीवधारी विनाश की शक्तियों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, वे चाहे कुछ भी रूप क्यों न ग्रहण करें। यह वस्तुओं की प्रकृति का सर्वोच्च तर्क है, जो प्रोटीन के आत्म-संरक्षण के अविनाश्य जैविक गुण में निहित है। उतने ही स्वयंसिद्ध रूप से अस्तित्व का नियम सामाजिक जीवन में रूपान्तरित हो जाता है—यह है शान्ति और बेहतर जीवन के लिए संघर्षरत जनसाधारण की संगठित इच्छा, जीवित रहने और पीढ़ियों के अविराम क्रम को जारी रखने की अभिलाषा।

उन्मत्त सैन्यवाद आज अस्तित्व की ठीक नींवों पर ही हमला कर रहा है। और यह तथ्य कि अमरीका के नेता सोवियत संघ की अपीलों की उपेक्षा कर रहे हैं, कथित आत्म-रक्षा के उद्देश्य से अन्तरिक्ष को हथियारों से भर देने की योजनाएं बना रहे हैं, हमारी पूरी पृथ्वी के विरुद्ध भूमंडलीय अपराध है। बुराई का इरादा रखनेवाला किसी भी बुराई के लिए औचित्य ढूंढ़ निकालता है। अन्तरिक्ष में सैनिक टेक्नालाजी का द्रुत विकास बुराई की आख़िरी सीमा है। उसके आगे नहीं जाया जा सकता। उनके लिए बस करने को यह रह जाता है कि वे ईश्वर के विरुद्ध, उसी ईश्वर के विरुद्ध हाथ उठायें, जिसमें विश्वास करने का वे दावा करते हैं।

इस पर सोचने के लिए तब विवश होना पड़ता है, जब संसार के कोने-कोने से, जहां इन्सान बसा हुआ है, अनगिनत कंठ एक ही आह्वान कर रहे हैं, जो यदि मंत्र नहीं, तो सुपरिचित संगीत-सुर की भांति प्रतीत हो रहा है। यह है सम्पूर्ण संसार में शान्ति क़ायम रखने का आह्वान। शान्ति क़ायम रखना!—कितना सादा, सटीक, विश्वासोत्पादक आह्वान है! पर तब सोचा जा सकता है कि हम अपने आप से ही शान्ति की मांग कर रहे हैं। क्या यह नियति का व्यंग्य नहीं है?

विश्व नाभिकीय संकट के कारणों और विवरण की, जो काफ़ी सुविदित हैं, गहराई में पहुंचे बिना मैं मौजूदा पीढ़ियों का, जिन पर जीवित रहें या न रहें की समस्या का समाधान अन्ततः निर्भर करता है, ध्यान एक बात की ओर आकृष्ट करना चाहता हूं, जिसे रोटी जुटाने की दैनंदिन समस्या के साथ-साथ सर्वत्र सबकी समस्या बन जाना चाहिए। मेरा तात्पर्य विद्यमान सामाजिक संरचनाओं के तमाम स्तरों पर इस

शताब्दी की अकाट्य और सबसे बड़ी समस्या से, पूर्व तथा पश्चिम के बीच तापनाभिकीय युद्ध, जो सभ्यता का सत्यानाश कर देगा और इस तरह भूतद्रव्य के रूप में स्वयं सचेत जीवन को नष्ट कर देगा, न होने देने के कार्यभार से है।

मानवजाति ने हज़ारों वर्षों के दौरान सांस्कृतिक विकास में जो कुछ उपलब्ध किया है, जो कुछ हमारी मन्दाकिनी में अनुपम है, वह सब नाभिकीय युद्ध में भस्म हो जायेगा और इस तरह यह मानवजाति का अन्तिम कार्य, आत्म-विनाश का द्योतक होगा। इसी कारण समय आ गया है कि हम जनगण तथा राज्यों के बीच एक ऐसे सार्विक समझौते की खोज करें, जिसका आधार यह हो कि सभी पक्ष नाभिकीय शस्त्रास्त्रों के उत्पादन तथा उपयोग से इन्कार करें। यदि इस सहस्राब्दी के अन्त तक ऐसा भूमंडलीय समझौता सम्पन्न हो जाता है, तो वह भविष्य के लिए हमारी सबसे महान धरोहर, सफलता, "उपलब्धि", नौजवान लोगों और आनेवाली पीढ़ियों को हमारा सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपहार होगा।

और यहां मैं सोचने लगता हूं कि क्या यह मेरे अन्दर का भोला शान्तिवादी और आदर्शवादी तो नहीं बोल रहा है? आख़िरकार, ज़बर्दस्त मुक़ाबलेबाज़ी की इस दुनिया में, दो अनम्य प्रतिध्रुवों—समाजवादी प्रणाली और पूंजीवादी प्रणाली—के बीच ज़रा भी मन्द न पड़नेवाले विचारधारात्मक संघर्ष के वातावरण में नाभिकीय शस्त्रास्त्र निषेध हासिल करना कोई आसान काम नहीं है। पूरब तथा पश्चिम के बीच सामरिक समझौता सम्पन्न कर सकने के लिए तनावभरी बहसों, परस्पर आक्षेपों, दावों, प्रयासों, वार्ताओं के वर्ष के बाद वर्ष बीतते जा रहे हैं। पर स्थिति क्या सचमुच इतनी गतिरुद्ध हो गयी है कि समाधान कभी हाथ नहीं लगेगा, मानव-आत्मा की त्रासदी क्या सचमुच इतनी असाध्य है कि भूतद्रव्य की प्रारम्भिक संरचना—परमाणु की संरचना—की खोज संसार की रचना के रहस्यों को उजागर करने में सिर्फ़ इसलिए अन्तिम, घातक पग होगी कि सम्बद्ध पक्ष स्थिर, सार्विक रूप से मान्य विश्व व्यवस्था खोजने में असमर्थ हैं?

एक किंवदन्ती है, पर हो सकता है कि यह सच हो। दूसरे विश्वयुद्ध की पूर्ववेला में बारह यूरोपीय भौतिक विज्ञानी अपने बीच सहमत हो सकते थे और सचमुच, कहा जाता है, उन्होंने संसार के लोगों से परमाणु आविष्कारों के परिणाम छुपाने पर सहमत होने का प्रयत्न

किया था। यह अनुसन्धान के बिल्कुल आरम्भ की बात है, जो अभी प्रयोगशालाओं तक सीमित था। ये बारह वैज्ञानिक एक जगह मिले, लेकिन किसी न किसी कारण समान भाषा ढूंढ़ने में असमर्थ रहे। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि मनुष्य के स्वभाव की अबोधगम्य संजटिलता की तुलना में पारमाणविक नाभिक की संजटिलता क्या है! कुछ भी हो, यह ऐसा तथ्य है, जो सदा-सर्वदा के लिए खेदजनक है और बाइबलीय सादृश्यता की दृष्टि से वह ईसा मसीह के सलीब पर चढ़ाये जाने की घटना के समतुल्य है।

कुछ बुद्धिजीवी अभी तक सच्चे दिल से इस पर अफ़सोस करते हैं कि इन बारह भौतिक विज्ञानियों ने अपना अनुसन्धान नहीं रोका, वैज्ञानिक चिन्तन की इस धारा को सदा के लिए नहीं दफ़नाया और ऐसा न करके उन्होंने पृथ्वी पर घटनाओं को ख़तरनाक मोड़ दे दिया। यदि यह क़िस्सा किंवदन्ती नहीं है, तब भी ऐसी राय से गम्भीरतापूर्वक सहमत होना कठिन है, क्योंकि इतिहास को "ढक्कनवाली बोतल" में बंद रखना असम्भव है। घटनाओं के ऐसे प्रवाह पर विश्वास करना निष्फल, यही नहीं, घोर प्रतिगामिता भी है।

मनुष्य का विवेक किसी भी स्थिति में शक्तिशाली हथियार होता है। जगत के अनन्त संज्ञान में, अस्तित्व को मनुष्य की कभी समाप्त न होनेवाली आवश्यकताओं की पूर्ति के अनुरूप रूपान्तरित करने और ढालने में विवेक सर्वशक्तिमान तथा अक्षय है। मैं यह मानता हूं कि विवेक के सृजनात्मक साधनों की केवल सूर्य की ऊर्जा के साधनों से तुलना की जा सकती है। एक बहुत सुन्दर उक्ति है—सौन्दर्य संसार की रक्षा करेगा, परन्तु मैं इसमें केवल इतना जोड़ना चाहूंगा कि अन्तिम, निर्णायक शब्द केवल विवेक का ही होता है। यह बात क्या इस तथ्य से सिद्ध नहीं हो जाती कि विश्व आन्दोलनों की आज की स्थिति में शान्ति के लिए तथा नाभिकीय शस्त्रास्त्रों और हथियारबंदी के विरुद्ध जनगण का संघर्ष, हमारे युग का सामूहिक विवेक संघर्ष के "रिएक्टर" तथा जन सूचना साधनों के "ध्वनि-प्रसारकों" में समकालीन सामाजिक जागरूकता के नये, अभूतपूर्व गुण ग्रहण कर रहा है। शान्ति के लिए और धरती पर तापनाभिकीय सर्वनाश रोकने के लिए नाना वर्षों का संघर्ष सैनिक चिन्तन की परम्परागत "टेक्नालाजी" को, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी शताब्दियों और सहस्राब्दियों के दौरान बनी है, अन्दर ही अन्दर से काटता जा रहा है और लोगों में जीवन के भूमंडलीय संरक्षण का दर्शन विकसित कर रहा

है, जो विश्व ऐतिहासिक महत्व का ऐसा कारक है, जिसे संजीदगी से सोचनेवाला कोई भी राजनीतिज्ञ उपेक्षित नहीं कर सकता।

हम बीसवीं शताब्दी के महासागर में, चिन्ता, आशा और सन्देह के महासागर में नये तट की तलाश करते हुए तैरते जा रहे हैं। वह तट दिखायी देने लगा है। वह तट लोगों की अपार भीड़ से भरा पड़ा है। वह तट एक नयी मानव-आत्मा का, नयी ऐतिहासिक नैतिकता का, नये भूमंडलीय मानवतावाद का जन्म-स्थल है, जिसका मुख्य सिद्धान्त केवल यही नहीं है: "तुम किसी की हत्या नहीं करो", अपितु यह भी है: तुम सार्विक सुरक्षा और पीढ़ियों के आत्म-संरक्षण की ख़ातिर किसी की हत्या करने की बात सोचो तक नहीं। इसलिए कि विवेक की दृष्टि से हमारे युग में ऐसे कोई राजनीतिक ध्येय और कार्यभार नहीं हैं और न हो सकते हैं, जिनकी ख़ातिर कोई पहले नाभिकीय प्रहार कर सकता है। सोवियत संघ मानवजाति को यह वचन दे चुका है कि वह नाभिकीय प्रहार पहले नहीं करेगा। इसलिए अगर कोई राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नाभिकीय ब्लैकमेल का सहारा लेने का या, यों कहें, मौजूदा राष्ट्रीय सीमाओं का, जिनके लिए दूसरे विश्वयुद्ध का शिकार बननेवालों ने इतनी बड़ी क़ीमत चुकायी थी, पुनरावलोकन कराने के लिए प्रतिशोधवाद की मनोदशा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न करे अथवा मानवजाति के भिन्न विचार रखनेवाले भाग को डराने का प्रयत्न करे, तो ऐसी कार्रवाइयां अपराधपूर्ण और बेहद ख़तरनाक हैं। वे प्रतिक्रियाओं का ऐसा सिलसिला शुरू कर सकती हैं, जिनके परिणामस्वरूप इस धरती पर सम्पूर्ण नाभिकीय संहार हो सकता है। ऐसी हैं हमारी पृथ्वी पर इस मंज़िल में जीवन की परिस्थितियां। वे किसी सनक के परिणामस्वरूप नहीं, अपितु सह-जीवन के एकमात्र सम्भव रूप के तौर पर जन्मी हैं। और यह आवश्यक है कि हम अपने को कम से कम उनका आदी बनायें।

परमाणु युग में नयी चिन्तन-पद्धति जीवन पर मनन करने, अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकता का उसके भौगोलिक-राजनीतिक पहलू में पर्यवलोकन करने और विश्लेषण करने का फल है। यह बात इसलिए और भी उल्लेखनीय है कि समाजवाद के विचार इस चिन्तन-पद्धति में अलग-थलग नहीं हैं, अपितु उनके परस्पर सम्बन्ध के संदर्भ में, अपने समस्त अन्तर्निहित उभारों, मुसीबतों, जटिलताओं समेत पूरे आधुनिक इतिहास की एक ही धारा के संदर्भ में उनका विवेचन किया जाता है। साथ ही यह चिन्तन-पद्धति इस तथ्य की पुष्टि करती है कि समाजवाद अपने

स्वभाव से ही उन मूलभूत कारकों में से एक है, जो भिन्न-भिन्न सामाजिक प्रणालियों के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के अपने घोषित सिद्धान्तों के कारण "निगममूलक", गुटमूलक चेतना से पृथ्वी पर जीवन की एकता के भूमंडलीय दृष्टिकोण में, समस्त जनगण के अस्तित्व के लिए बढ़ते हुए नाभिकीय ख़तरे के समक्ष भूमंडलीय चिन्तन-पद्धति में संक्रमण को निर्धारित करते हैं।

विवेक हमारी आशा है। विवेक-बुद्धि की उपलब्धि को व्यवहार में साकार रूप देने के लिए लोगों और जनगण के विशेष प्रयासों की आवश्यकता है, याने "नाभिकीय" संसार में मानवजाति के स्थान को समझने, आगामी युग में उसकी भूमिका तथा उद्देश्य के नये स्तर का अवबोध प्राप्त करने के मार्ग पर समकालीन मानव-विकास के हेतु सार्विक रूप से महत्वपूर्ण दिशाओं, नैतिक नियमों, कसौटी की खोज करने के लिए सचेत रूप से संगठित संकल्प की आवश्यकता है।

मेरे ख़याल से, पूरी मानवजाति द्वारा सन् २००० का संयुक्त रूप से स्वागत किये जाने का विचार वर्त्तमान तथा भावी पीढ़ियों के लिए, गम्भीर मानवीय और सांस्कृतिक महत्व रखनेवाले और भूमंडलीय तथा शान्ति-संवर्द्धक स्वरूप के मुख्य, अन्तर्राष्ट्रीय पग प्रतिपादित करने के वास्ते समस्त शान्तिप्रिय शक्तियों, समस्त देशों, रुझानों, धाराओं के लिए, जिनमें धार्मिक प्रवृत्तियां भी शामिल हैं, सर्वस्वीकार्य आधार बन सकता है। मानवीय आदर्शों की विजय के रूप में, मानव-संस्कृति के विकास में ऐतिहासिक जयन्ती के रूप में, विश्व सभ्यता की उपलब्धियों के पुनरावलोकन तथा तृतीय सहस्राब्दी में संक्रमण के रूप में "सन् २०००-समारोह" मनाने की तैयारियां हम सब द्वारा आत्मा-जिज्ञासा के उत्तर की खोज में सहायता दे सकती हैं: **"मानवजाति सामाजिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक-तकनीकी क्षेत्रों में किन-किन चीज़ों को साथ लेकर तीसरी सहस्राब्दी के समारम्भ के पास पहुंचेगी तथा ऐसी कौन-सी उपलब्धियां इस योग्य हैं कि उन्हें हम आनेवाले काल में मानवजाति की आगे प्रगति तथा सुख के साधन के रूप में अपने साथ ले जा सकते हैं?"**

अन्ततः, समस्त जनगण के संगठित संकल्प की सूरत में यह अवधारणा सम्पूर्ण संसार में उस गतिरोध से निकास का, भूमंडलीय निकास का रास्ता बन सकती है, जहां विवेक नाभिकीय घेरेबंदी में फंसा हुआ है।

नाभिकीय युग में उत्पन्न नयी चिन्तन-पद्धति के दृष्टिकोण से भविष्य को देखते समय हम अपने से आज और आनेवाले कल के दिन कह सकते हैं और हमें कहना चाहिए:

—सन् २००० के वर्ष तक कोई राकेट नहीं, कोई अन्तरिक्ष शस्त्रास्त्र नहीं;

—सन् २००० में प्रत्येक परिवार में सुख-समृद्धि।...

# हम घुटनों के बल बैठ अश्रु बहाते हैं, परन्तु आक्रोश में उठ खड़े होते हैं!*

संसार में सब कुछ सापेक्ष है, परन्तु सभी चीज़ों की तुलना नहीं की जा सकती। यह विचार मेरे मन में तब उठता है, जब मैं हिरोशिमा और नागासाकी के बारे में सोचता हूं। और इसका कारण निम्न है।

महाप्रलय, पृथ्वी पर कभी आयी महाग्रहीय विपदा के विषय में सूचना, जिसकी आधुनिक वैज्ञानिक तथ्य-सामग्री परोक्ष रूप से पुष्टि करती है, हम तक केवल नूह की नाव के विषय में बाइबलीय दन्तकथा के माध्यम से पहुंची है। भूचाल, ज्वालामुखियों के विस्फोट, प्रचंड तूफ़ान प्रभृति विराट प्राकृतिक महाविपदाएं, जो अतीत में अनगिनत लोगों की बलि लेती थीं और अपार क्षति पहुंचाती थीं, (और, निस्सन्देह, भविष्य में भी पहुंचायेंगी), इतिहास की पृष्ठभूमि में लुप्त होती जाती हैं और धीरे-धीरे या तो दन्तकथाओं के क्षेत्र में पहुंच जाती हैं अथवा समय के बीतने के साथ पूरी तरह भुला दी जाती हैं।

यह मनुष्य की स्मरण-शक्ति का विवेकसम्मत सार है — जो कुछ प्रकृति से निकलता है, उसे देर-सबेर स्पष्ट किया जा सकता है, उसे अनिवार्यत: शिरोधार्य कर लिया जाता है, इसलिए कि प्रकृति मनुष्य के प्रति जवाबदेह नहीं होती।

परन्तु स्वयं लोगों से होनेवाली बुराई को सर्वथा भिन्न पैमाने से मापा जाता है। यहां मानव-सम्बन्धों का नियम कार्यरत होता है। स्वयं लोगों के कारण लोगों की त्रासदियां, दुर्भाग्य की बात है, आकार और पैमाने में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं — हिंसा और आक्रामकता इन त्रासदियों का कारण हैं। वे जनता के जीवन में, नियति में, चेतना में जान-बूझकर की जानेवाली तथा हानिप्रद ऐसी कार्रवाइयों के रूप में घुसती हैं, जो वैयक्तिक और सामूहिक अस्तित्व की नींव को नष्ट कर देती हैं, ऐसी परिघटनाओं के रूप में घुसती हैं, जो गुणोत्तर श्रेढी

---

* 'इज़्वेस्तिया', ६ अगस्त १९८५।

में बढ़ती जाती हैं, लोगों की विपदाओं को गहन बनाती हैं, जब हिंसा नयी हिंसा को जन्म देती है, जब बुराई पारिवारिक शत्रुता की भांति बुराइयों का सिलसिला पैदा करती है, जब मानव-जीवन का बढ़ता विनाश पुनर्जनन की सम्भावना को ही खटाई में डाल देता है, जब भिन्न-भिन्न काल के सर्वोत्तम चिन्तक पाशविक सहजवृत्तियों के नंगे नाच को रोकने की निरर्थक आशा में हताशापूर्वक एकस्वर से इस बात का आह्वान करते हैं कि यदि कोई एक गाल पर चपत लगाये, तो उसके आगे अपना दूसरा गाल बढ़ा दो, और भर्त्सना तथा गालियों की बौछार के बीच अहिंसा की शिक्षा प्रस्तुत करते हैं, जो उनके समकालीनों के लिए सदैव अतर्कसम्मत और उन्हें अस्वीकार्य होती है। यह पहले एक, दो बार नहीं, कई बार हो चुका है, इतिहास इसका साक्षी है।

फिर भी मानव-विवेक भविष्य के हितार्थ इतना कुछ भुलाने, हिंसा की घातक श्रृंखला तोड़ने, शान्ति की रक्षा के हेतु पूर्वाग्रहों की आग की लपटें, वे लपटें बुझाने में समर्थ है, जो किसी भी समय इतने बड़े दावानल का रूप धारण कर सकती हैं कि उन्हें बुझाना कठिन हो जायेगा। यह भी पहले एक, दो बार नहीं, कई बार हो चुका है, इतिहास इसका भी साक्षी है।

परन्तु मानव-आत्मा की लम्बी और यन्त्रणादायी तलाश के दौरान बनी इस परिस्थिति में भी मूलभूत परिवर्तन हो चुका है। यह नया तत्त्व अपरिवर्तनीय परिणाम पैदा कर सकता है, जो विगत युगों के अविराम टकरावों और सैनिक मुठभेड़ों में जीवित रहने के समाज के अतीत के सारे अनुभव पर पानी फेर सकता है।

संसार के अन्त की सभी प्रलयकारी विभीषिकाओं की सर्वाधिक कल्पनाशील अवधारणाओं को पीछे छोड़ने में सक्षम नाभिकीय युद्ध अपना विश्व-खाता खोल चुका है। उसने मानवजाति को दुविधा में डाल दिया है—उस भाग्य-निर्णायक दिन, ६ अगस्त १९४५ के दिन—जियें या न जियें की दुविधा।

चालीस वर्ष। इस जयन्ती पर हम आज अपने को सम्बोधित करते हैं, क्योंकि सम्बोधन के लिए और कोई नहीं है, सिवाय पृथ्वी के महाद्वीपों तथा द्वीपों के तमाम लोगों के। लोगो, सुनो, चारों ओर नज़र दौड़ाओ! हमें किधर जाना है और कैसे जाना है?

इतिहास की घड़ी बता रही है कि यह राज्यों तथा जनगण के बीच युद्धों में सबसे कुत्सित और अपराधपूर्ण घटना की जयन्ती का दिन

है—हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराये जाने की ४०वीं जयन्ती। बम गिराने का उद्देश्य था घनी आबादीवाले इन नगरों के शान्तिप्रिय निवासियों का व्यापक पैमाने पर संहार करना। चन्द क्षणों में हज़ारों-हज़ार ज़िन्दगियां परमाणु विस्फोटों की धधकती ज्वालाओं में भस्म हो गयी थीं। आदि गर्त्त जैसा दृश्य उपस्थित हो गया था। बाद में घातक रेडियोएक्टिव किरणन के कारण लोग असह्य पीड़ा झेलते हुए वर्ष-प्रतिवर्ष मरते चले गये। परमाणु बमों के गिराये जाने की यह ४०वीं जयन्ती है। पूरे चालीस वर्ष बीत चुके हैं, पर स्तब्ध मानवजाति परमाणु नीति के लिए उत्तरदायी अपराधियों की बिना रुके निन्दा करती जा रही है। समय के बीतने के साथ हम उस नीति के पक्ष में उन तर्कों की निरर्थकता अधिकाधिक स्पष्टता के साथ देख रहे हैं, जिनकी मदद से तत्कालीन अमरीकी सरकार ने इस तथ्य पर लीपापोती करने का प्रयास किया था कि परमाणु प्रहार व्यर्थ में किया गया। चालीस वर्ष बीत चुके हैं, परन्तु हमारे हृदय को अब भी शान्ति नहीं मिली है। हम तब तक निन्दा करना जारी रखेंगे, जब तक भावी पीढ़ियां संसार की उन्मत्त प्रतिक्रियावादी शक्तियों और साम्राज्यवादियों से, जिनका भलाई की अवधारणा से अपने मानवविरोधी सार के कारण सदैव वैरभाव रहा है, जीवन की रक्षा करने, सजग रहने, अतीत को स्मरण रखने की आवश्यकता अनुभव करती रहेंगी।

संसार के लोगों के नाना वर्षों के प्रयासों के कारण और सर्वोपरि जन सूचना साधनों की बदौलत हमें इतिहास में पहली बार परमाणु बम गिराये जाने की तैयारियों और उन्हें सम्पन्न किये जाने के बारे में सुस्पष्ट और अकाट्य प्रमाण मिल गये हैं। परन्तु इस मसले का एक ऐसा पहलू है, जिसे हमें नहीं भूलना चाहिए, जिसे मैं अपराध का अनुक्रमिक पहलू कहूंगा, भले ही वह विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होता हो। पहलू यह है कि परमाणु बम बनाने और इस्तेमाल करने की सब कोशिशें करने के बाद भी जो काम पूरा करने में नाज़ी शासन के कर्त्ता-धर्त्ताओं ने अपने को सरासर असमर्थ पाया, वह अमरीकी साम्राज्यवादियों ने बिना किसी ढुलमुलपन के, बिना किसी संकोच के पूरा कर डाला। इस तरह उन्होंने वह लक्ष्मणरेखा पार कर दी, जो मेरे गहन विश्वास के अनुसार, विवेक के आविर्भाव के आरम्भ में ही खिंच गयी थी। परमाणु बम गिराकर उन्होंने पूर्ण उच्छृंखलता के गह्वर के द्वार खोल दिये। युद्धकाल में भी कुछ सीमाएं होती हैं, एक ही मानव-मूल से जन्मे प्राणियों के रूप

में मानव-जीवन का कुछ लिहाज़ किया जाता है, अन्ततः, विजित के प्रति विजेता की उदारता और दया की भावना होती है, जिसे समस्त जनगण में अनन्त काल से पोषित किया जाता रहा है। अमरीकी रणनीतिज्ञों ने यह मूलभूत संयम तक नहीं बरता, हालांकि वे सब अच्छी तरह जानते थे कि दूसरा विश्वयुद्ध व्यवहारतः ख़त्म हो चुका है और जापानी सैन्यवाद के लिए मौत की घंटी बज चुकी है। २०वीं शताब्दी के लोग अपने से यह प्रश्न पूछे बिना नहीं रहते कि अमरीका ने हिरोशिमा और नागासाकी नगरों के आम निवासियों से पारमाणविक प्रतिशोध लेना क्यों आवश्यक समझा?

और आज अगर हम हिरोशिमा और नागासाकी को याद करते हैं, तो इसका कारण यह है कि यह इतिहास की प्रखर सृजनशीलता है, जो अतीत के बिम्बों से हमारी स्मरण-शक्ति और आस्थाओं का, जिनकी हमें आज आवश्यकता है, निर्माण करती है, ताकि आनेवाले कल को समझा जा सके। इसीलिए हमारे लिए यह समझना इतना महत्वपूर्ण है कि हिरोशिमा हमारे लिए क्या अर्थ रखता है। हम अधिकाधिक अनुभव करते हैं और हमें यह समझना चाहिए कि हिरोशिमा रहस्यमय बुराई से, अविवेकसम्मत प्रतिशोध से अथवा विनाशकारी तथा आक्रामक श्रेष्ठता की अनियन्त्रित भावना से, यथासम्भव सब कुछ नष्ट करने की रोगजनक कामना से कुछ अधिक है। हिरोशिमा शैतानी तख़मीना था, जिसमें परमाणु बमबारी के शिकार बने लोग किसी दूसरे, दूरगामी भू-राजनीतिक लक्ष्य तक पहुंचने के लिए मात्र परोक्ष विषय थे। जिन लोगों के पास तब परमाणु शस्त्रास्त्रों की इजारेदारी थी, जिन्होंने ऐसा पाशविक निर्णय किया, उनका अन्तिम लक्ष्य प्रभुसत्तासम्पन्न देशों तथा प्रदेशों में, पूरी मानवजाति में सार्विक भय पैदा करना, पूरे संसार पर और मुख्यतया आज की अन्य सामाजिक संरचनाओं पर अपना सम्पूर्ण सैनिक तथा आत्मिक प्रभुत्व थोपने के लिए पारमाणविक ब्लैकमेल का उपयोग करना था। सर्वथा भावशून्य और सूक्ष्म ढंग से सोच-समझकर बनायी गयी सैनिक और मनोवैज्ञानिक योजना के अनुसार लाखों-करोड़ों लोगों के, जिनका सैनिक कार्रवाइयों से कोई लेना-देना नहीं था, भाग्य में यह लिखा जाना था कि वे परमाणु बमों का शिकार बनें, उनकी आग में भस्म हों, मौत के घाट उतारे जायें। इस दानवीय कुकृत्य में सबसे ख़तरनाक बात यह थी कि वह दीर्घकालीन स्वरूप का पहले से नियोजित तथा परिकलित प्रयोग था।

आज अक्षरश: सब लोगों के लिए इस परिस्थिति को, नागासाकी और हिरोशिमा पर इस प्रहार को, जो साम्राज्यीय सिद्धान्त का भाग था, समझना आवश्यक है, चाहे वे राजनीति से कितनी ही दूर क्यों न हों, ताकि हम अपने नाभिकीय शस्त्रास्त्रविरोधी चिन्तन में उसी तरह ऐक्यबद्ध हों, जिस तरह हम सब एक ही हवा में सांस लेते हैं। इसे समझना आवश्यक है, क्योंकि भावशून्य हिसाब-किताब के सामने कोई भी उत्कट और सशक्त मत-सिद्धान्त असहाय होता है। ऐसे क्रूर व्यवहारवाद का केवल एक ही सर्वशक्तिमान विरोधी है—यह है पृथ्वी की विशाल बहुसंख्या से जन्म लेनेवाला मानवजाति का भूमंडलीय विवेक, संजीदगी से पूर्ण दूरदर्शिता और भलाई की एकता के रूप में विवेक। मानवतावाद केवल तभी शक्तिशाली होता है, जब वह समझता है कि समस्या की जड़ विक्षिप्त लोग नहीं हैं तथा अविवेकसम्मत सामाजिक शक्तियां तथा हित क़तई नहीं हैं। हिरोशिमा और नागासाकी के पारमाणविक संहार से किसे लाभ हुआ था और आज नाभिकीय तनावों की वृद्धि से किसे लाभ हो रहा है? यह है वह प्रश्न, जिसका मानवतावाद को ठीक-ठीक उत्तर देना होगा, यदि वह जनता को केवल भयभीत करना और उस पर तरस खाना नहीं चाहता, अपितु नाभिकीय सर्वनाश से मानवजाति की रक्षा करना चाहता है।

ये हैं वे प्रश्न, जिन्हें हमें सबके सामने इस तरह बिना शर्त रखना होगा कि वे उसे सुन सकें—महाविपदा के कगार पर इस तरह खड़े होने से किसे लाभ होता है कि प्राकृतिक भय का सन्तुलन बिगड़ जाये, और अन्त:करण में से कुछ शेष न रहे? कौन इस पर आस लगा सकता है कि वह ऐसे युद्ध के बाद अपनी विश्व-स्थिति बनाये रख सकेगा और उसे मज़बूत कर सकेगा? हमें जनगण तथा देशों के बीच शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के ऐसे विरोधियों के बारे में आज अपना फ़ैसला देना होगा। हम जानते हैं कि वे कौन हैं—वे हैं मुख्यतया अमरीका के सैनिक-औद्योगिक समुच्चय और वह सब, जो उससे जुड़ा हुआ है। यदि ऐक्यबद्ध विश्वव्यापी मत बनाने के बाद हम आधुनिक इतिहास के मुख्य कारक के रूप में अपने मत को प्रतिष्ठापित नहीं कर सकते, अपने बहुमत का सहारा लेते हुए आज के युद्धापराधियों की भर्त्सना नहीं कर सकते, तो हो सकता है कि कल हमारे पास ऐसा करने की सम्भावना ही न रहे।

इस मामले में हिरोशिमा और नागासाकी बहुत सशक्त और भयावह पाठ हैं।

तब से चालीस वर्ष बीत चुके हैं। हिरोशिमा और नागासाकी पर गिराये गये अमरीकी बमों ने कालान्तर की हथियारबंदी की होड़ के दरवाज़े खोल दिये, अविस्मरणीय त्रासदियों को जन्म दिया, जो केवल जापानी जनता के लिए ही नहीं थीं। वे सार्विक स्वरूप की त्रासदियां थीं, जिन्होंने आधुनिक समाज को ऐसी बढ़ती नाभिकीय तैयारियों और ख़तरों के युग के मुंह में धकेल दिया, जिनके परिणामस्वरूप पृथ्वी पर सम्पूर्ण जीवन नष्ट हो सकता है, मानव-सभ्यता का तब अर्थ ही विकृत हो सकता है, जब किसी राष्ट्र-राज्य के अस्तित्व के सार को सैनिक-औद्योगिक समुच्चय इस अर्थ में देखने लगता है कि कौन शस्त्रास्त्रों के अधिक ज़ख़ीरे बना सकता है, कौन प्रत्येक सुगम्य क्षेत्र में—भूमि पर, आकाश में, जल में—जल्दी-से-जल्दी नये-नये नाभिकीय शस्त्रास्त्र बिठा सकता है। और अब ये शक्तियां अन्य सामाजिक प्रणालियों, सर्वप्रथम सोवियत संघ पर, जो शान्ति के विचार का सुसंगत रूप से और खुले तौर पर समर्थन कर रहा है, इकतरफ़ा श्रेष्ठता प्राप्त करने के विचार से अंधा हो जाने के कारण सार्विक बुराई में चरमबिन्दु की—अन्तरिक्ष में नाभिकीय शस्त्रास्त्र रखने की—योजना बना रही हैं।

क्या हम भावी पीढ़ियों के लिए, जो नयी सहस्राब्दी के आरम्भ पर वयस्क हो जायेंगी, घातक शस्त्रास्त्रों और उनके ज़ख़ीरों की दुनिया की तैयारी करें?

क्या मानव-विवेक को—शाश्वतता के इस प्राणवान सान्द्रण को, जिसमें इतिहास और विकास के हज़ारों वर्ष, हमारा अतीत, वर्त्तमान तथा भविष्य संचित हैं—ऐसे आत्म-विनाशकारी लक्ष्यों की सिद्धि में लगना चाहिए? इसलिए कि हम वह हैं, जो हमें स्मरण है और जिसकी हम प्रतीक्षा करते हैं।...

तब से चालीस वर्ष बीत चुके हैं, जब लोगों ने लोगों के विरुद्ध पहले पारमाणविक हथियारों का उपयोग किया था। हिरोशिमा और नागासाकी की, २०वीं शताब्दी के सबसे अधिक सन्तप्त नगरों की अनन्त रूप से विषादपूर्ण कथा को पृथ्वी के महाद्वीपों और द्वीपों पर जीवित समस्त लोगों के लिए चेतावनी, स्मरण करानेवाली विषादमय घटना, भूमंडलीय पाप-स्वीकृति का काम देना चाहिए।...

और हम अधिकाधिक रूप से इस एकमात्र निष्कर्ष की ओर, जो विश्व की वास्तविकता की समस्त जटिलताओं, समस्याओं, अन्तर्विरोधों से, अतीत के कटु अनुभवों तथा भविष्य की आशा से उत्पन्न होता है,

पहुंचते हैं कि वर्त्तमानकालीन मानवजाति की परम आवश्यकता, जो पृथ्वी पर जीवन के लिए भिन्न चयन को वर्ज़ित करती हो, हमारे जीवन को पूर्णत: तथा सदा-सर्वदा के लिए नाभिकीय शस्त्रास्त्रों से छुटकारा दिलाने में निहित है, ताकि इन विनाशकारी अमोघ शस्त्रास्त्रों की छाया तक किसी भी पर्यावरण में, किसी भी देश में, संसार के किसी भी भाग में कच्चे धागे से बंधी तलवार की भांति हमारे सिरों के ऊपर न रहे। इसमें हम सबकी मुक्ति, हस सबकी नियति, पृथ्वी पर अस्तित्व का हम सबका आनन्द निहित है।

करुणा की भावना अनुभव करते हुए हम हिरोशिमा और नागासाकी पर पारमाणविक बमबारी में सामूहिक रूप से क़त्ल लोगों की राख के सामने घुटनों के बल बैठ अश्रु बहाते हैं, परन्तु आक्रोश में उठ खड़े होते हैं! हमारी आंखों में घृणा की न्यायोचित ज्वाला है—हम बुराई की और बुरा करनेवालों की निन्दा करते हैं; यह हम अतीत के सम्मान में तथा भविष्य में विश्वास के साथ करते हैं। हिरोशिमा—उसकी कभी पुनरावृत्ति न हो!

# हमने खुले ढंग से बात की*

यह पूरे विश्व के साहित्य तथा कला के क्षेत्र में कार्य करनेवालों की, विभिन्न देशों के बुद्धिजीवियों की सचमुच अनुपम भेंट थी। अब इसे 'इस्सीक-कुल फ़ोरम' के नाम से जाना जाता है। मैंने और मेरे मित्रों ने लम्बे अर्से से यह विचार पोषित किया था। हम चाहते थे कि भावना तथा चिन्तन की दृष्टि से सजातीय लोगों को, सर्वोपरि समकालीन जगत में कला तथा साहित्य की भूमिका और प्रयोजन के प्रति विचारों की दृष्टि से सजातीय लोगों को घर जैसे वातावरण में विचार-विमर्श करने के लिए एकत्र किया जाये। चूंकि हम किसी औपचारिक व्यवस्था के बिना, जो संख्या में वैसे भी काफ़ी बड़ी होती है, मिलना चाहते थे, मैंने अपने इन मित्रों को अपने निजी अतिथियों के रूप में क़िर्गिज़िया बुलाया। जब हम फ्रूंज़े के उपनगर, अला-अर्चा में जमा हुए और हम विचारों की तुलना करने लगे, अपनी समस्याएं, चिन्ताएं तथा आशाएं एक-दूसरे को बताने लगे, तो हमने अनुभव किया कि ऐसी भेंट की केवल हमारे लिए ही नहीं, अपितु उन सबके लिए कितनी देर से आवश्यकता थी, जो समस्त जनगण से सीधे सम्बन्ध रखनेवाले हालात पर चिन्तित हैं, भले ही विश्व में इन जनगण की हैसियत कुछ भी क्यों न हो।

हम लोगों ने मिलकर सोचना शुरू किया। लम्बे अर्से से हम अपने हृदय की बातें प्रकट करने के लिए तैयार थे। चूंकि हम पहले से निर्धारित विषयों से बंधे हुए नहीं थे और जो सोच रहे थे, वह कहने के लिए स्वतन्त्र थे, इसलिए हितों की दृष्टि से सजातीय बुद्धिजीवियों के बीच यह निर्मुक्त विचार-विमर्श सिद्ध हुआ। हमारे बीच ऐसे लोग थे, जो अत्यन्त उच्च कोटि की योग्यतावाले सामाजिक कार्यकर्त्ता थे। वे बहुत कुछ जानते हैं और बहुत दूरदर्शी हैं। इनमें अमरीकी दार्शनिक

---

* 'नेदेल्या', ३-९ नवम्बर १९८६। चंगेज़ आइत्मातोव के निमंत्रण पर विश्व भर के लेखकों और कलाकारों की फ्रूंज़े में अक्तूबर १९८६ में हुई बैठक ('इस्सीक-कुल फ़ोरम') के विषय में मेज़बान के विचार।

टाफ़लेर दम्पत्ति का प्रमुख स्थान था। उन्हें सुनना शिक्षाप्रद था। स्वभावत:, यही बात रोम क्लब के अध्यक्ष अलेक्ज़ेंडर किंग के बारे में कही जा सकती है। साहित्य तथा कला के क्षेत्र में आर्थर मिलर, जेम्स बाल्डविन, क्लाड सिमों ने आधुनिक कथा-साहित्य के समस्त पहलुओं पर दृष्टिपात करने का प्रयास किया। चूंकि उत्पन्न हो चुके जटिल अन्तर्विरोधों तथा भूमंडलीय समस्याओं का सामना करने के लिए अब मनुष्य के नये चिन्तन का विकास करना आवश्यक हो गया है, इसलिए साहित्य तथा कला को, उनकी राय में, इस ध्येय की सिद्धि करनी चाहिए। सौन्दर्यशास्त्रियों तथा आचारशास्त्रियों को इस नये रुख में, विश्व के नये अन्तर्ज्ञान और अन्तत: नये चिन्तन में उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए।

हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण घटना, निस्सन्देह, मिख़ाईल गोर्बाचोव से भेंट थी। यह भेंट तीन घंटे तक जारी रही। सच कह दूं, शुरू में मेरा यह ख़याल था कि यह केवल शिष्टता-प्रदर्शन की भेंट होगी। मैंने यह सोचा ही नहीं था कि हम अपना झंडा उठाकर उन सब बातों के बारे में बोलेंगे, जो हमें चिन्तित करती हैं। परन्तु मैं ग़लती पर था। हम में से हरेक ने महासचिव को बताया कि हम आधुनिक विश्व और आधुनिक संस्कृति के बारे में क्या सोचते हैं, हमने इस्सीक-कुल में अपने फ़ोरम में क्या निरूपित किया या निरूपित करने का प्रयास किया। यह भेंट, सारत:, एक और गोलमेज़ सभा हो गयी थी, परन्तु इस बार उसमें सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के महासचिव ने भाग लिया। और यद्यपि सभी, मुझे कहना चाहिए, काफ़ी गम्भीर लोग थे, अन्त में मिख़ाईल गोर्बाचोव दृष्टिकोणों का सामान्यीकरण करने, उनके विचारों में समानता का पता लगाने तथा उनका पूर्ण स्पष्टीकरण करने में सफल रहे। यह संजटिल, रोचक तथा गहन भेंट थी। उसकी ज़बर्दस्त छाप पड़ी।

'इस्सीक-कुल फ़ोरम' का लक्ष्य स्वयं लोगों के मन, चेतना में उत्पन्न होनेवाले युद्ध के विचार का प्रतिरोध करना था। हम चाहते थे कि मनुष्य युद्ध की सम्भावना के विचार तक को ही अस्वीकार कर दे। इसी के लिए हम प्रयास कर रहे हैं और कला तथा साहित्य में अपने सहयोगियों से भी यही करने का आग्रह करते हैं।

हम ज़ोर से कहते हैं कि मानव-जीवन का उसी प्रकार निरपेक्ष मूल्य है, जिस प्रकार सभ्यता का सामान्यतया निरपेक्ष मूल्य होता है। जहां तक

हमें पता है, ब्रह्मांड में कोई अन्य सभ्यताएं विद्यमान नहीं हैं। हमने जो हासिल किया है, हमारी सभ्यता के पास जो है—संस्कृति, टेक्नालाजी, आदि—उसका निरपेक्ष मूल्य है। मानवजाति ने सहस्राब्दियों के दौरान जो संचित किया है, उसकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है।

तो प्रश्न है—'इस्सीक-कुल फ़ोरम' दूसरों को कैसे प्रभावित करेगा? मुख्यतया अपने बीच पत्र-व्यवहार के ज़रिये। हमने वचन दिया कि हममें से प्रत्येक पन्द्रह सहभागियों में से किसी को भी किसी भी मसले पर, निजी और, स्वभावतः, सार्वजनिक स्वरूप के किसी भी प्रश्न पर दूसरे के सम्बोधित किया करेगा। जब कभी और जहां कहीं हम आवश्यक समझेंगे, हम इन पत्रों को सब के सामने प्रस्तुत कर दिया करेंगे। इस तरह हम जनमत को प्रभावित कर सकते हैं।

'इस्सीक-कुल फ़ोरम' समय-समय पर इस या उस देश में आयोजित हुआ करेगा। पीटर उस्तीनोव के प्रस्ताव पर हम अगली बैठक जेनेवा में करने का विचार रखते हैं। परन्तु उन लोगों की एक पूरी प्रतीक्षा-सूची बन चुकी है, जो हमें अपने देशों में बुलाना चाहते हैं। इनमें हंगरी के मूर्त्तिकार वार्गा हैं। वह हमारे फ़ोरम में नहीं आ सके, परन्तु उन्होंने हमें अभिनन्दन-सन्देश भेजा था। तुर्की के लेखक याशार कमाल ने हमें इस्तांबूल में आमन्त्रित किया। फ़ोरम के एक अन्य सदस्य—विद्वान, कवि, राजनयज्ञ फ़ेदेरिको मायोर—का आग्रह है कि जेनेवा के बाद हमारी बैठक स्पेन के ग्रानादा नामक नगर में हो। संक्षेप में, हमारे पास यात्राओं, सभाओं, बैठकों की एक पूरी कार्यसूची है।

## 'इस्सीक-कुल फ़ोरम' का वक्तव्य

इस शताब्दी का पटाक्षेप होने और आगामी सहस्राब्दी का अभ्युदय होने के लिए ५,००० से कम दिन बचे हैं। भूमंडलीय स्वरूप के तथा अभूतपूर्व संजटिल संकट मानवजाति के भविष्य के लिए ख़तरा बन गये हैं। निस्सन्देह, अन्य, अधिक संजटिल समस्याएं पैदा होंगी, जिन्हें देश पृथक-पृथक रूप से हल नहीं कर पायेंगे और जो सर्वथा नये रुख़ की अपेक्षा करेंगे।

आज ऐसी गम्भीर समस्याएं सामने आने पर लोग हताशा की भावना अनुभव करते हैं। इसी कारण सृजन-कार्यों में जुटे हम लोग—लेखक,

कलाकार तथा विद्वान—क़िर्ग़िज़िया में इस्सीक-कुल झील आये हैं, ताकि मानव की प्रतिभा तथा उसकी सृजनशील शक्तियों में अपनी आस्था की सबके समक्ष घोषणा कर सकें।

चूंकि संसार बहुत-बहुत तेज़ी से बदल रहा है और परम्परागत संस्थाएं कालातीत हो रही हैं, हम सबको अपनी सामान्य समस्याओं के नये समाधानों की खोज में जुट जाना चाहिए। सृजनशीलता ने मानवजाति के लिए बदनसीबियों, युद्धों, महाविपदाओं के भार से दबे इस संसार में सहस्राब्दियों के दौरान जीवित रहना सम्भव बनाया। इसी कारण यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि आगामी शताब्दी केवल इस ग्रह की ही नहीं, अपितु सृजनशीलता की भी शताब्दी बने। सृजनशीलता के माध्यम से जीवन तथा सुख—यह है इन समस्याओं के भार से झुके संसार के समक्ष गम्भीर ख़तरों और संकटों को हमारा उत्तर। वर्त्तमान की ही भांति अतीत में भी असल हालात को देखने और स्वीकार करने की अनिच्छा बहुधा मानव-प्रगति में बाधक बनती थी। असल बुद्धिमत्ता अपने में पर्याप्त कल्पना-शक्ति, साहस और अन्तर्दृष्टि की तलाश करने में और आज उसे सचेत रूप में करने में निहित है, जिसे हमें कल आवश्यकतावश करना पड़ेगा। और इस कारण हमें वर्त्तमान का भविष्य में बहिर्वेशन ही नहीं करना होगा, अपितु भविष्य की रचना में सक्रिय रूप से भाग लेना होगा। यह नये, अरैखिक चिन्तन, कल्पना, समस्याओं के सार की गहन समझ तथा नयी दूरदर्शिताभरी पहलक़दमियों की अपेक्षा करता है। हमारा भविष्य कभी वैसा नहीं होगा, जैसा कि अतीत था। केवल वे ही, जो उसे देखने में सक्षम हैं, जो प्रच्छन्न है, असम्भव को भी सम्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि हमारे पास ऐसे नये चिन्तन का सृजन करने, प्रसार करने और उसे सिखाने की स्वतन्त्रता का होना आवश्यक है, जो विविधतापूर्ण रुख़ और नूतन को समझने की योग्यता की अपेक्षा करता है।

नये विचारों को हमारे जीवन के समस्त क्षेत्रों में, जिनमें राजनीति भी शामिल है, फैलना चाहिए और इस प्रकार हर देश में नया चिन्तन पैदा करना चाहिए। भविष्य को केवल राजनीतिज्ञों द्वारा किये जानेवाले निर्णयों और पृथक-पृथक शक्तियों के बीच मुक़ाबलेबाज़ी पर ही निर्भर नहीं करना चाहिए। इसमें मानव-प्रतिभा, गुणवान लोगों की कल्पना-शक्ति, विज्ञान के क्षेत्र में पहलों और खोजों, कवियों के सपनों और आम लोगों की आशाओं को ज़बर्दस्त भूमिका अदा करना है। केवल

इन सबको मिलाकर ही नये चिन्तन के—आम और राजनीतिक चिन्तन के—बीज बोये जा सकते हैं।

हम जानते हैं कि देशों के नेता, जिनके कन्धों पर उत्तरदायित्व का मुख्य बोझ है, मानवजाति के भविष्य के बारे में समझौते तक पहुंचने के लिए सब कुछ कर रहे हैं। हम सब आशा करते हैं कि वे सम्पूर्ण मानवजाति को स्वीकार्य भावी विश्व की ओर जानेवाले मार्ग को प्रशस्त करने के लिए अपने अन्दर पर्याप्त बुद्धिमत्ता, प्रेरणा तथा आवश्यक आस्था पा लेंगे।

ठीक इसी कारण हमने चंगेज़ आइत्मातोव का अत्यन्त सामयिक निमन्त्रण स्वीकार किया और भव्य तियान-शान पर्वतमाला से घिरी इस्सीक-कुल झील के तट पर पहुंचे।

हम आशा करते हैं कि हमने इस्सीक-कुल में जो बीज बोये हैं, उनसे सशक्त अंकुर फूटेंगे और संसार भर में सृजनशील समुदाय के बहुत-से प्रतिनिधि अपने सपनों के नये संसार के निर्माण के हमारे प्रयासों में हमारे साथ ऐक्यबद्ध होंगे।

## पाठकों से

**प्रगति प्रकाशन** इस पुस्तक की विषयवस्तु, अनुवाद और डिज़ाइन के बारे में आपके विचार जानकर आपका अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी।

कृपया हमें इस पते पर लिखिये: प्रगति प्रकाशन, १७, ज़ूबोव्स्की बुल्वार, मास्को-११९०२१, सोवियत संघ।

# चंगेज़ आइत्मातोव

# और धरती निर्मल हो गयी

“...हम चाहे जो कहें या सोचें, पर जो अनिवार्य है, वह
है—विज्ञान और टेक्नालाजी प्रगति कर रहे हैं, मानवजाति आ
रही है। और परिणाम?.. हमारा सबसे महत्वपूर्ण कार्यभा
सुनिश्चित करना है कि यह प्रक्रिया सही दिशा में, सच्ची प्रगति
मानव-सुख की दिशा में बढ़ती रहे।”

‘धरती रूपी ग्रह के ऊपर भेंट’। १९

“हम सभी एक ग्रह पर तो रहते हैं।... यदि कोई जनता या एक भी इन्सान तक मुसीबत में हो, तो कोई भी उदासीन नहीं रह सकता।...”

‘पूर्वाग्रहों का निराकरण’। १९८२

सोवियत क़िर्ग़िज़िया के जन लेखक, लेनिन तथा राजकीय पुरस्कार विजेता, विज्ञान, कला एवं साहित्य की यूरोपीय अकादमी के सदस्य चंगेज़ आइत्मातोव (जन्म १९२८) का प्रस्तुत लेख-संग्रह पाठकों को उनकी जीवनी से परिचित कराता है। आइत्मातोव ने कई क्लासिकीय और समसामयिक रचनाकारों के शब्दचित्र प्रस्तुत किये हैं तथा आज नाभिकीय सर्वनाश का ख़तरा मिटाने के लिए संघर्ष में रचनाकारों की भूमिका पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

ISBN-5-01-001498-X